डॉ० रामस्वरुप चतुर्वेदी के निर्देशन में

आधुनिक हिन्दी नाटक की भाषा में सर्जनात्मक क्षमता के विकास का अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
हेतु
प्रस्तुत-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री
प्रेमलता

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

१९८५

।। आधुनिक हिन्दी नाटक की भाषा में सर्जनात्मक क्षमता के ।।
विकास का अध्ययन

खण्ड - अ : सिद्धान्त पक्ष

अध्याय एक : भाषा और सर्जनशीलता

(क) भाषा और मानव - दोनों का सम्बन्ध, दोनों का विकास क्रम, इतिहास और स्वरूप ।

(ख) भाषा और मानवीय सर्जनशीलता - अभिव्यक्ति का स्वरूप ।

(ग) भाषा की सर्जनशीलता का अर्थ - साहित्य में भाषिक सर्जनशीलता की स्थिति ।

(घ) नाट्य भाषा - भाव और भाषा का उद्गम, सर्जनात्मक भाषा का बिम्बात्मक स्वरूप, भाषा और अभिनेयता का सम्बन्ध, अभिनेयता का भाषा की सृजनशीलता पर प्रभाव ।

(ङ) कल्पनात्मक स्तर पर भाव, अनुभाव और प्रत्ययों का संयोजन- वस्तु संगठन, चरित्र निर्माण ।

अध्याय दो : नाटक की भाषा : भरतमुनि और अरस्तू का दृष्टिकोण

(भारतीय और पाश्चात्य नाट्यदृष्टि की तुलना)

(क) नाटक में भाषा का काल्पनिक और सर्जनात्मक अध्ययन ।

(ख) रंगमंच पर सर्जनात्मक भाषा का प्रस्तुतीकरण ।

(ग) लोक नाट्यों के आधार पर इसका अध्ययन - मूल तत्व कल्पना, कौतूहल, उत्सुकता, नाटकीयता, स्वच्छन्दता और रोमांस ।

(घ) जीवन के यथार्थ का चित्रण - आकर्षण, मनोरंजन और सर्जनात्मकता का प्रयोग, कलात्मक स्तर पर यथार्थ का प्रयोग, भाषा की व्यंजनात्मक स्थिति

(च) यथार्थ घटनाओं एवं चरित्रों की नाटकीय कला का सर्जनात्मक अनुभव एवं संवेदन की प्रवृत्ति ।

अध्याय तीन : सर्जनात्मक भाषा का प्रस्तुतीकरण नाटक में रंगमंच पर

(क) आधुनिक हिन्दी नाटक में सर्जनात्मक भाषा का प्रस्तुतीकरण कथावस्तु, चरित्रचित्रण, संवाद, संवाद की क्रियाशीलता ।

(ख) नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध ।

(ग) भाषा का काल्पनिक और [illegible] रूप

(घ) रंगमंच पर भाषिक अभिव्यक्ति का माध्यम - अभिनेता, [illegible], अभिकल्पक ।

अध्याय चार : जीवन - यथार्थ और नाटकीय भाषा

(क) नाटकों में यथार्थ के रूप की स्थिति ।

(अ) वैयक्तिक पक्ष

(आ) पारिवारिक पक्ष

(इ) सामाजिक पक्ष

(ई) राजनीतिक पक्ष

(ख) समस्याओं के विभिन्न रूपों का नाटकों में प्रस्तुतीकरण

(अ) वैयक्तिक - असन्तुलन, स्वगत कथन आदि

(आ) पारिवारिक - पति - पत्नी, पिता - पुत्र, माता-पुत्र, सास-बहू आदि सम्बन्ध

(इ) सामाजिक - नारी शिक्षा, विवाह, विधवा की समस्या, अंध विश्वास

(ई) राजनीतिक - पराधीनता, अन्याय आन्दोलन, स्वाधीनता आन्दोलन

(ग) यथार्थ जीवन का नाटक में प्रयोग

(अ) आकर्षण और मनोरंजन

(आ) सौन्दर्य

(घ) नाटकों में यथार्थ जीवन का आधार

(अ) कला के स्तर पर यथार्थ का दृष्टिकोण

(आ) जीवन का नाटकीय विधान - परिस्थिति, घटना, भाव, अनुभूति

खण्ड - आ : प्रयोग पक्ष

अध्याय पाँच : नाट्यभाषा का व्यावहारिक अध्ययन (कालक्रमानुसार)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — अन्धेर नगरी

जयशंकर प्रसाद — स्कन्दगुप्त

डॉ० रामकुमार वर्मा — औरंगजेब की आखिरी रात

भुवनेश्वर — ऊसर, ताँबे के कीड़े

जगदीश चन्द्र माथुर — पहला राजा

लक्ष्मीनारायण लाल — व्यक्तिगत

मोहन राकेश — आधे अधूरे

मोहन राकेश — छतरियाँ

मोहन राकेश — अण्डे के छिलके

डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल — तीन अपाहिज

भीष्म साहनी — हानूश

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना — बकरी

सुरेन्द्र वर्मा — नायक खलनायक विदूषक

[illegible]रादास — [illegible]

अपनी बात

मध्यकाल में हिन्दी नाटक के विकास की गति जैसी अवरुद्ध रही, आधुनिक नाटक का विकास उतनी ही त्वरित गति से हुआ है। पर उसकी विशेषताएँ भी प्रच्छिन्न हैं, जिसके मूल में सही और तात्त्विक आलोचना दृष्टि का अविकसित रूप है। शोध प्रबन्ध और स्वतन्त्र समीक्षा पुस्तकें रचनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक अधिक हैं। सर्जनात्मक साहित्य जब विकसित होता है तो आलोचना के एक स्तर, और व्यावहारिक समीक्षादृष्टि के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। मानव मानस और रचना के सन्दर्भ में भाषा का निर्णायक महत्व तो है ही साथ - साथ उसे बहुत सीमा तक भाषा संयमित करती है। इस दृष्टि से सोचने और समझने की इच्छा उत्पन्न करने का पूरा श्रेय श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी को है। यह उनकी सदाशयता और उदारता का ही प्रतिफल है कि शोध के क्षेत्र में कड़वी (अधिक) और मीठी (कम) रचनात्मक चुनौती को झेलना सहज लगा।

इस शोध प्रबन्ध में प्रचलित भाषावैज्ञानिक विवेचन से अलग विशेष दृष्टि अपनायी गई है। आधुनिक नाटकों की सही विवेचना के लिए सर्जनात्मक भाषा सही मापदण्ड हो सकता है। आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए भाषा ऐसा मापदण्ड है जिसकी कसौटी पर रचना को विश्वसनीय ढंग से परखा जा सकता है। भाव और भाषा की रचना - संश्लेषण की जाँच का प्रमुख मापदण्ड माना जाता रहा है। कुछ विद्वान भाव को प्राथमिकता देते हैं तो कुछ भाषा को। पर दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। भाव और भाषा में से किसी एक को अलग करके रचना का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। भाषा भी साधन नहीं साध्य है। अतः भाषा को माध्यम मात्र मानना अपनी दृष्टि को धोखा देना है। भाषा भावों की अनुगामिनी नहीं वरन् भावों को अनुशासित भी करती है। अतः भाषा को केन्द्र - बिन्दु मानकर आधुनिक रचनाकार की समग्र दृष्टि को पहचानना अपने में एक बहुत बड़ी चुनौती है। आधुनिक हिन्दी नाटक की भाषा में सर्जनात्मक क्षमता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है, और यही कारण है उनकी संवेदना में तीव्र बदलाव का। आधुनिक

नाटक में यथार्थ की समग्रता का चित्रण सर्जनात्मक भाषा द्वारा सम्भव बन सका है ।

आधुनिक साहित्य में भाषा की रूढ़ियों को नकारने की सक्रिय कोशिश है— चाहे वह तुक, अलंकरण, साहित्यिक शब्दावली हो या लय तथा संगीत योजना । ऐसे में सर्जनात्मक भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है, जिसके द्वारा नाटक की सम्पूर्ण विशेषताओं को समझा जा सकता है । हिन्दी समीक्षा में रचनात्मक स्तर पर नाट्य भाषा का व्यावहारिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है । कुछ आधुनिक नाटककारों की नाट्य भाषा से सम्बन्धित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, पर उनकी प्रकृति विवरणात्मक अधिक है । ऐसे ग्रन्थों में नाट्य भाषा का सर्जनात्मक विधान देखने को नहीं मिलता । नाट्य भाषा की सम्पूर्ण समझ के लिए केवल व्याकरणिक पक्ष पर्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसके द्वारा नाटक की रचना - प्रक्रिया नहीं समझी जा सकती । इसी आवश्यकता को देखते हुए इस शोध - प्रबन्ध में सर्जनात्मक भाषा द्वारा नाटक के संश्लिष्ट रूप को समझने का प्रयास किया गया है ।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है— सिद्धान्त पक्ष और प्रयोग पक्ष । सिद्धान्त पक्ष में सर्जनात्मक भाषा से सम्बन्धित सिद्धान्त हैं जिनकी कसौटी पर आधुनिक नाटकों को कसा गया है— प्रयोग पक्ष में । यों तो सिद्धान्त और प्रयोग अलग - अलग नहीं हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । सर्जनात्मक भाषा के अध्ययन में नाटकों के रचनात्मक स्तर की परख इस शोध - प्रबन्ध की मूल दृष्टि है, इसलिए कुछ प्रमुख नाटकों को आधार रूप में ग्रहण किया गया है ।

मेरे अध्ययन को सुनिश्चित दिशा देने वाले निर्देशक डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी से प्रत्येक तरह की सहायता और प्रोत्साहन मिला है । देखा जाय तो कृतज्ञता शब्द कुछ नहीं है—गुरु की [illegible] के आगे । पर मन की [illegible] का उपाय भी नहीं । बहुत डॉ० रघुवंश के वात्सल्य और सहायता को भुला पाना असम्भव है, जिनकी [illegible]लोचनात्मक दृष्टि और सहायता प्रदान करने वाली प्रकृति ने शोध कार्य के लिए प्रेरित किया । पर यहाँ भी पहले वाली असमर्थता - शब्दों की ।

विषय की दुरूहता और इस विषय से सम्बन्धित सामग्री - अभाव के कारण बहुत कुछ कार्य स्वतन्त्र - चिन्तन पर अवलम्बित रहा है। इस चिन्तन में पिताजी डॉ० सुरेश चन्द्र मिश्र के अप्रकाशित शोध - प्रबन्ध " हिन्दी उपन्यासों में भाषा का सर्जनात्मक स्वरूप " से पर्याप्त सहायता मिली। इसके लिए आभार प्रकट करना और कठिन है। मैं अपने पिता तुल्य डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र की आभारी हूँ, जिन्होंने शोध - प्रबन्ध की रूपरेखा में परिवर्तन कर उसे अधिक संपन्न बनाया, और मेरे अव्यवस्थित चिन्तन को व्यवस्थित किया। इस शोध - प्रबन्ध में जिन - जिन विद्वानों की रचना से सहायता मिली है उनकी मैं आभारी हूँ। प्रयाग के पुस्तकालय, विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, साहित्य सम्मेलन संग्रहालय तथा उनके कार्यकर्ताओं के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने अध्ययन सम्बन्धी विविध प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की।

शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में कार्यरत चाचा डॉ० हरिश्चन्द्र मिश्र की मैं आभारी हूँ (चाहे भले इसे धृष्टता समझें) जिन्होंने नेशनल लाइब्रेरी से आवश्यक पुस्तकें भेजकर मेरे शोधकार्य को सरल बनाया। बी०एस० मेहता महाविद्यालय, भरवारी के लाइब्रेरियन के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ जो पुस्तकीय सहायता देकर मुझे कार्य के लिए हमेशा प्रोत्साहित करते रहे। शोध-प्रबन्ध में उद्धृत पत्र - पत्रिकाओं के सम्पादकों की भी मैं आभारी हूँ। अपने सहपाठियों और अभीष्ट जनों की सदिच्छा (शोध कार्य शीघ्र समाप्त करने की) प्रेरणादायक रही, किन्तु उन्हें धन्यवाद देना सम्बन्धों में दरार पैदा करना है। अन्त में मैं उन सभी क्षणों के प्रति आभारी हूँ जिनसे शोध कार्य के दौरान खट्टा मीठा अनुभव और पक्का हो गया।

प्रथम अध्याय

।। भाषा और सर्जनशीलता ।।

बीसवीं शताब्दी के एक महान जर्मन दार्शनिक हीडेग्गर का मन्तव्य है कि सभी प्रकार की भाषाओं का प्राथमिक और मूल कार्य उसकी विशेषताओं और सम्बन्धों को नाम देना है 'जो है'। व्यक्ति को चक्षुरेन्द्रिय बोध भाषा द्वारा सम्भव बन पाता है और तभी उस रूपाकार (नाम देने के बाद) संसार का अभिज्ञान होता है। इस धारणा से (मूर्तिकला, चित्रकला के सन्दर्भ में) कलाकार की कलात्मक अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्ति इस तरह की दृश्य वस्तुओं को नाम देना है। कलाकार जिन वस्तुओं को नाम देता है वह उनकी विशेषताओं और सम्बन्धों का होता है और उन्हीं अर्थों में वह संवेद्य बन पाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि का सारा कार्य व्यापार भाषा में होता है।

रचनात्मक भाषा - व्यापार का अन्य भाषा - व्यापार से अलग और विशिष्ट अस्तित्व होता है क्योंकि यह सर्जनशीलता का सर्वोत्तम रूप है। किसी रचना की प्रामाणिकता का मापदण्ड सर्जनात्मक भाषा है। यदि ग्रहणकर्ता की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात अधिक सुस्पष्ट हो जाती है। सर्जनात्मक भाषा विभिन्न ग्रहणकर्ताओं को विभिन्न अर्थ - प्रतीति कराती है, पर इस क्षेत्र में मनमानी करने का दुःसाहस किसी के पास नहीं होता।

सर्जनात्मक भाषा को रचनाकार की दृष्टि से परखने पर कोई विशिष्ट गुण दिखाई न पड़ते हों ऐसी बात नहीं। रचनाकार नियमों के किसी विशेष ढाँचे में बँधा नहीं होता और न तो उनके अनुसार अपनी रचना का निर्माण करता है। यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि रचनाकार अन्य (दृश्य) कलाकारों की भाँति निर्माणकर्ता नहीं होता। रचनाकार को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के मूल में सर्जनात्मक भाषा है ओवेनबारफील्ड की दृष्टि इस पद्धति को समझने में सहायक है— " जब शब्दों का चुनाव और उनका संघटन इस रूप में किया जाय कि उनका अर्थ सौन्दर्यात्मक कल्पना के मूल में जागृत हो उठे तो उसे काव्य (पोयटिक डिक्शन) कहते हैं।"[1]

भरतमुनि के समय से ही नाटक को दृश्य काव्य की संज्ञा दी जाती रही है, बल्कि कहना यों चाहिए कि नाटक की उत्पत्ति इसी नाम से हुई, इसलिए नाटक की भाषा को

काव्य भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'भाषा और संवेदना' में गद्य - पद्य की भाषा के अन्तर को मिटाया है—'काव्य भाषा कहने पर हम दोनों को उसके अन्तर्गत समाहित कर लेते हैं । कविता और गद्य की भाषा में गद्य की भाषा बोलचाल की भाषा के अपेक्षया निकट होती है । इस प्रसंग में सामान्य गद्य और कहानी, उपन्यास, नाटक के सृजनात्मक गद्य के अन्तर को भी स्मरण रखना है । पहले प्रकार का गद्य बोलचाल के निकट होगा, दूसरे प्रकार का गद्य कविता के निकट होगा[2]।'

नाट्य भाषा की महत्ता उसके दृश्यत्व बोध में है । नाटक की भाषा 'होने' अर्थात् कार्य का बोध कराती है । यही कारण है कि अन्य विधाओं की तुलना में इसका दायित्व अधिक बढ़ जाता है । नाटक श्रव्य और दृश्य की संश्लिष्ट क्रिया है और उसमें निहित सत्य का सम्प्रेषण कार्य द्वारा होता है । 'कार्य द्वारा' का अभिप्राय यहाँ यह नहीं है कि रंगमंच पर अभिनीत होने से उसका सम्प्रेषण सम्भव है, बल्कि यह कि नाटक की सर्जनात्मक भाषा में कार्य की संगति होती है और इसका उद्धार पाठ - प्रक्रिया में होता है । इसमें एक - एक शब्द का उतना महत्त्व नहीं होता जितना एक समग्र प्रभाव का । नाटककार का आग्रह जीवन की समग्रता पर होता है न कि उसके किसी विशेष पक्ष पर । बिम्ब प्रधान सर्जनात्मक भाषा के प्रयोग के कारण जयशंकरप्रसाद आधुनिक नाटक के प्रणेता कहे जाते हैं । अन्य विधाओं में नाटक एक विशिष्ट विधा है क्योंकि आधुनिक नाटकों का सर्जन भाषा - प्रयोग की अलग- अलग विधि पर आधारित है साथ - साथ जीवन की जटिलताओं को प्रेषित करने की कुशल प्रणाली पर भी ।

भाषा की प्रकृति मानस से संग्रन्थित होती है और इसके द्वारा मानस का विस्तार होता है । व्यक्ति के मानस का विकास विभिन्न बोधों, प्रत्ययों और अनुभूतियों के विचित्र समागम से होता है । अत: मानस और भाषा का घनिष्ट सम्बन्ध है । विकासशील प्रणाली से दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं— जैसे मानस भाषा से और भाषा मानस से । किसी वस्तु का बोध भाषा में होता है । रचनाकार के अन्दर यह बोध, जिसे दूसरे शब्द अनुभव से समझा जा सकता है, अनुभूति में संक्रमित होती है । मानस में सम्पूर्ण विचार प्रक्रिया इसी क्रम से होती है ।

ऐसी स्थिति में भाषा को भावों का माध्यम स्वीकार करना एक तरह से भाषा की रचनात्मक शक्ति को नष्ट करना है। शब्दों को माध्यम मानने वालों में वैलेरी का नाम प्रमुख है जिसने काव्य को परिभाषित करते हुए अपना विचार व्यक्त किया है कि यह सचमुच वह यन्त्र है जो भाषा के माध्यम से काव्यात्मक अवस्था उत्पन्न करता है। वैलेरी ने भाषा के सीमित अर्थ का बोध कराया है। एस० एल० बेथेल का मत भाषा के सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति कराता है। उनका कहना है कि काव्यगत जटिल अनुभव जिन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होता है वे अपनी सम्पूर्णता में रहते हैं। यदि सम्पूर्ण अनुभव, अनुभूति भाषा में संक्रमित होकर एकनिष्ठ बनती है तो उसे माध्यम मानना अनुचित है। डॉ० चतुर्वेदी के शब्दों में— " कविता इस दृष्टि से भाषा की स्थिति नहीं भाषा की प्रक्रिया है। "[३]

भाषा मानस को अनुशासित करती है, क्योंकि भाषिक गठन का प्रभाव व्यक्ति के मानसिक गठन पर पड़ता है, पर एकाएक नहीं, बल्कि धीरे - धीरे। विकास के अन्तिम चरण में सभी जातीय संस्कार एवं गुण उसे भाषा के इस गठन के कारण प्राप्त होते हैं, जो भाषा के प्रयोक्ताओं में पाये जाते हैं। व्यक्ति किसी समाज का अंग बनता है तो भाषिक गठन के कारण। हॉर्फ ने भाषा को नियामक माना है। उनके भाषागत सापेक्षतावाद (लिंग्विस्टिक रिलेटिविटी) के अनुसार— " भाषा विचार की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं वरन् उसके स्वरूप की नियन्त्रण करने वाली है। "[४] भाषा जैसे विचार को एक दिशा देती है वैसे अनुभूति को भी। अपनी इस प्रक्रिया में भाषा नियन्त्रक हो जाती है।

चित्रकला, मूर्तिकला की प्रकृति जहाँ मूर्त होती है वहीं भाषा की अमूर्त। क्योंकि किसी मूर्त वस्तु अथवा स्थिति को शब्दों में बाँधना आसान कार्य नहीं। जिस प्रकार कलाकार अपनी कला को सजीव बनाने के लिए विभिन्न तरीकों का इस्तेमाल करता है, उसी प्रकार साहित्यकार स्थिति चित्रण के लिए अपनी भाषा का भी। स्थितियों के संवेदनात्मक और अर्थपूर्ण चित्रण के लिए प्रतीकात्मक भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विशिष्ट वस्तु से उत्पन्न प्रतिक्रिया विशिष्ट नाम पाती है— रूपक, प्रतीक, मिथ की। मानस और भाषा का यह सम्बन्ध मानस के विकास का स्रोत है। व्यक्ति अपने भाषिक गठन के आधार पर किसी वस्तु को ग्रहण करता है। डॉ० ई०टी० जेन्डलीन

ने इस विषय पर अपनी धारणा व्यक्त करते हुए प्रथम को अनुभूत अर्थ और दूसरे को प्रतीक कहा है। उनका मत है कि अनुभूत अर्थ और प्रतीकों की क्रिया प्रतिक्रिया से ही चिन्तन वर्द्धनशील बनता है। पर सभी जगह यह बात सटीक हो ऐसा नहीं। एक सीमा तक प्रतीकों का प्रयोग चिन्तन में विकास करता है। उसके बाद वह रूढ़ हो जाता है और वह रूढ़ि सर्जनात्मक भाषा की क्षमता को क्षीण करती है। इस सन्दर्भ में डॉ० चतुर्वेदी का दृढ़ निश्चय है— " "प्रतीक" के माध्यम से सामाजिक अर्थ को एक वैयक्तिक स्तर तक लाने की चेष्टा होती है, पर अनुभूति की अद्वितीयता (यूनीकनेस) इन प्रतीकों के सामाजिक - वैयक्तिक रूप से पूरी व्यक्त नहीं हो पाती, क्योंकि प्रतीकों का रूप भी क्रमश: रूढ़ होता चलता है।"[5] समकालीन नाटक में प्रतीक तथा रूपक का सशक्त प्रयोग किया गया है। नाट्य भाषा की ये सब प्रवृत्तियाँ प्रेक्षक की मूर्तविधायिनी कल्पना को जागृत करती हैं और अदृश्य को अनुभवगम्य बनाने में सहायक होती हैं। साहित्य की अन्य विधाओं (कविता, उपन्यास) में भाषिक प्रतीक संवेदनात्मक संसार की सृष्टि करते हैं जबकि नाटक में भाषिकेतर प्रतीक का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। कहीं - कहीं तो भाषिकेतर प्रतीक भाषिक प्रतीक से अर्थ की दृष्टि से अधिक सक्षम होता है— जैसे "आधे अधूरे" की कैंची, बन्द डिब्बा, दरवाजे।

सामान्यतया मानस और व्यक्तित्व को एक दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है, किन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। व्यक्तित्व शरीर और मानस दोनों का कलात्मक योग है। मानस पहले है बाद में व्यक्तित्व। यदि व्यक्तित्व मानस की अभिव्यक्ति है तो भाषा उससे अलग नहीं। व्यक्ति का मनन और चिन्तन व्यक्तित्व की पूर्णता का द्योतक है। भाषा व्यक्तित्व को निर्धारित करती है। यद्यपि भाषा का सीधा सम्बन्ध मानस से है लेकिन मानस का प्रतिबिम्ब व्यक्तित्व है इसलिए भाषा की अभिव्यक्ति है— व्यक्तित्व। मानस के संघटन में भाषा का जो महत्वपूर्ण योगदान है वही व्यक्तित्व संघटन में भी। अत: भाषा मानव व्यक्तित्व का एक तरह से सर्जन करती है, किन्तु चिन्तन मानस से सम्भव होता है न कि व्यक्तित्व से।

प्रतीक भाषा संघटन है और इसकी प्रतिक्रिया भाषा की प्रतिक्रिया। प्रतीक व्यक्तित्व के विकास का द्योतक है, जहाँ पहुँचकर वह मानस से नियन्त्रित हो जाता है और तभी यह प्रतिक्रिया गतिशील होती है। पर तर्क की दृष्टि से गतिमान होती है।

क्योंकि विचारों का संघर्षण उसके मानस को परिपक्व बनाता है और तभी व्यक्तित्व सर्जनशील बनता है। सामान्य व्यक्तित्व की स्थिति इससे अलग है। सामान्य व्यक्ति का बोध प्राथमिक स्तर तक रह जाता है जबकि सर्जक के लिए छोटे - छोटे अनुभव भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सर्जनशील मानस में प्राथमिक बोध के बाद विचारों की श्रृंखला भाषा में चलती रहती है और तभी सर्जन सम्भव बन पाता है। सर्जन कला का होता है, जहाँ अनुभूति अपने - अपने अनुरूप सम्प्रेषित की जाती है कही नहीं जाती।

यद्यपि आधुनिक नाटक बोलचाल की शब्दावली से विशेषतया प्रभावित है, किन्तु उससे यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि सामान्य जन - जीवन में प्रयुक्त की जाने वाली बोलचाल की भाषा और नाट्य - भाषा में अन्तर नहीं है। सामान्य जीवन की भाषा और सर्जनात्मक भाषा में अन्तर होता है और यही अन्तर भाषा की शक्ति बन जाता है। सहज शब्दावली का उचित प्रयोग अर्थ को क्रियाशील करता है और इसी कारण सामान्य भाषा तथा बोलचाल की भाषा में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। एफ० डब्लू० वाटसन के अभिमत में शब्दों के संगत प्रयोग पर बल है— " शब्द - चयन का ऋणात्मक या नकारात्मक सिद्धान्त वस्तुतः एक लगातार और भरपूर प्रयास रहा है कि शब्दों को उनके काव्यगत गुणों के आधार पर अलग - अलग किया जाय।"[६] बोलचाल की भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो संवेदना को अवरुद्ध करते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग रचना में वर्जित होता है। अच्छा सर्जक बोलचाल की शब्दावली में से उनकी सर्जनात्मक गुणवत्ता को पहचान लेता है। वाटसन के शब्दों में— " प्रश्न यह है कि एक कवि, किसी तथ्य के वर्णन, चित्रण अथवा बिम्ब - विन्यास में साधारण शब्दों का चयन किस सीमा तक करे कि उसके चयन को निम्न अथवा वल्गर की संज्ञा न दी जा सके? वह विशेष शब्द क्या है जिनका उपयोग (साहित्य में) उचित कहा जा सके और जिनसे बिम्ब विन्यास सजीव हो सके अथवा वे विशेष निम्न या अनुचित शब्द क्या हैं जो अर्थ - बोध को धूमिल कर देते हैं।"[७] सर्जक दैनन्दिन प्रयोग की भाषा का ऐसा सर्जनात्मक प्रयोग करता है कि उसमें यथार्थ का अहसास होता है। बोलचाल की भाषा द्वारा वह नाटकीय ढाँचे में एक नये यथार्थ की सृष्टि करता है, जो वास्तविक जगत का अनुकरण मात्र नहीं होता, बल्कि उससे जुड़ा होता है। नाटककार का यथार्थ जीवन के यथार्थ से अलग सर्जनात्मक यथार्थ होता है, जिसकी शक्ति का केन्द्र सर्जनात्मक भाषा होती है। भाषा

की यह सर्जनात्मक शक्ति ग्रहणकर्ता को केवल अभिधात्मक अर्थ की प्रतिच्छाया का बोध नहीं कराती, वरन् उसे अनुभूतियों की तह में पहुँचने का अवसर प्रदान करती है। आज के नाटककार की मुख्य चिन्ता अर्थ की उन्मुक्तता पर अधिक केन्द्रित है अर्थ की निश्चितता पर नहीं। सर्जनात्मक भाषा मूलत: बोलचाल की ही भाषा होती है, जिसकी क्षमता रचनाकार की प्रतिभा और अनुभूति में पककर परिवर्द्धित एवं विकसित होती चलती है। टी० एस० इलियट ने कहा— " कवि का मानस वस्तुत: ऐसा पात्र है जो अनगिनत अनुभूतियों, वाक्यांशों और बिम्बों को पकड़कर संग्रह करता रहता है। वे तब तक वहीं पड़े रहते हैं जब तक वे सब अंश उस रूप में इकट्ठे नहीं हो जाते कि एक नये मिश्रण की रचना के लिए संयुक्त हो सकें।"[8]

भाव और भाषा के उद्गम का प्रश्न अत्यधिक विवादास्पद है, पर यह प्रश्न काव्य भाषा से जुड़ा हुआ है इसलिए इससे बचा नहीं जा सकता। टी० एस० इलियट के पूर्व और पाश्चात्य साहित्यकारों ने भाषा को महत्वपूर्ण स्थान दिया, किन्तु भावों के बाद। उन्होंने भाषा को भावों की अनुगामिनी माना। टी० एस० इलियट ने कहा भाषा भावों की अनुगामिनी नहीं वरन् भाषा ही सब कुछ है। भाव, विचार और अनुभव का संश्लेषण होता है, जिसकी आधारशिला भाषा होती है। किसी वस्तु या घटना के प्रति तटस्थ रहने से मन में विचार उठते हैं। भाव का आशय इसी तरह समझा जा सकता है। जिस सीमा तक व्यक्ति तटस्थ रहता है उसी सीमा तक भावों या विचारों का उद्वेलन होता है। [illegible] में भाषा में भावों की सृष्टि होती है। यदि भाव किसी दिशा विशेष में सक्रिय होता है तो भाषा में। भाषा में उत्पन्न नये - नये विचार रचनाकार की अनुभूति में पककर रचना का रूप धारण करते हैं। दृश्य कलाकार इस प्रक्रिया से न गुजरता हो ऐसी बात नहीं। उसके अन्दर भी सर्वप्रथम भाषा में भावों की छाया विद्यमान रहती है, जिसे वह दृश्यकला में साकार करता है। भावों की यह एक सहज स्थिति है कि वे जब उद्भूत होते हैं तो भाषा में। यह बात अलग है कि वे लिखित नहीं होते। प्रतीक निर्माण की सहज प्रक्रिया के कारण मानव - मस्तिष्क कुछ इस प्रकार विकसित हो चुका है कि भाषा के बिना भावों का विस्तार किसी रूप में सम्भव नहीं। भाव और भाषा का प्रश्न अस्तित्व के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। भाषा आदि सृष्टि है, इसलिए भाषा के बिना व्यक्ति अस्तित्ववान नहीं बन सकता। भाव और भाषा के प्रश्न को व्यक्तित्व और मानस के प्रश्न से अलग देखा

स्थिति को अत्यधिक बोझिल और जटिल बनाना है। सभी में भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण है। जब यह सिद्ध हो चुका है कि मानस और व्यक्तित्व प्रायः भाषा से निर्मित हैं या भाषा से अस्तित्ववान हैं, तो भाव और भाषा के उद्गम का प्रश्न सहज हल हो जाता है।

नाट्यभाषा में अर्थ की उन्मुक्तता को अधिक से अधिक सम्भव बनाने के लिए रूपकमयता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। हमारी भाषा रूपकमय है, जिसमें इच्छा बोध तथा संवेदन की क्रिया से संचालित होकर भाव और विचार रूप ग्रहण करते हैं। अपनी सर्जन प्रतिभा में प्रत्येक रचनाकार रूपकमयता को अपने - अपने ढंग से प्रतिष्ठित करता है। भावात्मक स्थिति में रूपक और बिम्ब महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। रूपक स्थिति को आरोपित करता है और फिर उससे विस्तृत तुलना करता है। यद्यपि रूपक और भावचित्र दोनों में विस्तार की अपेक्षा होती है, किन्तु इतने से उसमें निहित मौलिक अन्तर पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। रूपक एक अलंकार है जो संवेदना से उतना सम्पृक्त नहीं जितना भावचित्र। यही कारण है कि सर्जनात्मक अर्थ की निष्पत्ति के लिए भावचित्रों अथवा बिम्बों को अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि यह अधिक गहरे अर्थ का बोध कराता है और संवेदना से प्रत्यक्ष प्रभावित होता है।

रूपक और प्रतीक उतने विस्तृत अर्थ का बोध नहीं कराते जितना कि बिम्ब प्रक्रिया। बिम्ब या भावचित्र अधिक संश्लिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। उसमें निहित अर्थ प्रतीक या रूपक की तरह पूर्ण निश्चित नहीं होता, बल्कि इसमें अर्थ का अनन्त प्रवाह चलता रहता है। सर्जनात्मक भाषा में अर्थ को अधिक गतिशील बनाये रखने में बिम्ब का मुख्य दायित्व होता है। बिम्ब में चित्र का भाव आता है, किन्तु उसका रचनात्मक धर्म चित्र के दृश्य भाव का दिग्दर्शन कराना मात्र नहीं होता, बल्कि इसमें एक समग्र अर्थ - छाया की प्रतीति होती है। दृश्य प्रतिमा की सृष्टि बिम्ब विधान का सबसे स्थूल कर्म है। बिम्ब यदि अमोघ होता है तो अपनी स्पष्टता के कारण नहीं। मानसिक घटना के रूप में संवेदन से विशेषतः सम्बद्ध होना बिम्ब की प्रमुख विशेषता है, जिसके कारण यह भाषा के अन्य रूपों से अलग अपनी सत्ता स्थापित करता है। यह संवेदन का अवशेष रूप है। हमारी भावात्मक और बौद्धिक प्रतिक्रियायें — जिसका स्थान संवेदन के प्रतिनिधि के रूप में है, बिम्ब की पूरी सत्ता पर निर्भर रहती है न कि संवेदन के ऐन्द्रिय सादृश्य पर।

बिम्ब अपनी प्रकृति में संश्लिष्ट होता है। यह संश्लिष्टता बिम्ब प्रक्रिया में निष्क्रिय न रहकर सक्रिय रहती है और उसमें एक टकराहट होती है जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को संचालित करती है। यह सक्रियता अर्थ को विकसित करती है। जिस बिम्ब में अर्थ स्पष्ट होता है उसमें सजीवता और स्पष्टता सहचरी बनकर भावों और विचारों पर निर्भर रहती है। जब हम अपने मानसचक्षुओं के समक्ष किसी चित्र में कुछ तलाशते हैं तो इन्हीं (भाव और विचार) पर आच्छादित बिम्बात्मक शक्ति को।

यद्यपि प्रत्येक विधा की भाषा में अर्थ की दृष्टि से बिम्ब का स्थान स्पृहणीय होता है, पर नाटक अपनी प्रकृति में बिम्बात्मक होता है। इसका मूल कारण है कि नाटक अर्थ की सम्पूर्णता पर अधिक से अधिक बल देता है। नाटक की भाषा बिम्बात्मकता के आधार पर प्रेक्षक के ऐन्द्रिय बोध में सहायक होती है। बिम्ब और प्रतीक को नाटकीय क्रिया - व्यापार और संवाद योजना का अभिन्न अंग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। ये नाटक में शब्द - मितव्यय पर बल देते हैं और साथ ही भाषा की बुनावट, कार्य, दृश्य और कथ्य के अंग बनकर अद्भुत प्रभाव का संचालन करते हैं। यही कारण है कि अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में बिम्ब विधान अर्थ की अधिक सम्भावनाओं को अवसर प्रदान करता है। भारतेन्दु ने नवीन सम्भावनाओं से युक्त खड़ी बोली को सर्जनात्मकता का उत्स मानकर ग्रहण किया तो प्रसाद ने जीवनानुभवों और यथार्थ की पुनर्रचना के लिए बिम्ब विधान को नाट्य भाषा का मुख्य अंग माना। नाटक जीवन को समग्रता प्रदान करता है और आधुनिक नाटक की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिम्ब में अधिकतम सीमा तक साकार होती है।

संरचनात्मक कल्पना का आधारभूत तत्व बिम्ब है। प्रतीक का विकसित रूप बिम्ब है। बिम्ब प्रतीक हो सकते हैं, किन्तु सभी प्रतीकों को बिम्ब की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। प्रतीक को बिम्ब का स्तर प्रदान करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसमें प्रसाद का नाम उल्लेखनीय है। भाषा से बिम्बों का सम्बन्ध आदिम युग से रहा है। किसी वस्तु के प्रति व्यक्ति के मन में जो प्रतिक्रिया होती है उस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके मस्तिष्क पर जो चित्र उभरते हैं वह बिम्ब का सीमित अर्थ है। जैसा कि हरबर्ट रीड ने स्वीकार किया है — " प्रकृति जिसे हम रूपाकारों में देखते हैं,

उस रूपाकार को जब हम अपने मस्तिष्क पटल पर अंकित करते हैं, तो वस्तुत: उसे हम बिम्ब कहते हैं। बिम्ब उन शब्द और चिह्नों से जिसे हम भाषा में प्रयुक्त करते हैं, पूर्णतया अलग हैं। वे वस्तुत: प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से स्थापित क्रियात्मकता द्वारा निर्मित होते हैं और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिन्हें केवल वैयक्तिक और संवेदनात्मक ही कहा जा सकता है और ऐसे बिम्ब जब आनन्द प्रदान करते हैं उस अवस्था में उन्हें सुन्दर और मिश्रित भी कहा जा सकता है।` यद्यपि बिम्ब की आयु बहुत दीर्घ है, लेकिन भारतेन्दु के नाटक (`अन्धेर नगरी` के सन्दर्भ) में बिम्ब-विधान की स्थिति नकारात्मक है, जबकि प्रसाद इसके विपरीत हैं। बिम्ब - विधान की ओर अतिरिक्त सजग रहने के कारण सर्जनात्मक भाषा और बोलचाल की भाषा के बीच पर्याप्त दूरी हो गई। बिम्बों का सम्बन्ध सर्जनात्मक भाषा से है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। यदि आधुनिक नाटक का प्रारम्भ भारतेन्दु से माना जा सकता है तो प्रसाद ऐसे पहले नाटककार हैं जिन्होंने नाट्य भाषा को इतिवृत्तात्मकता से हटाकर आन्तरिक संवेदना से युक्त किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतेन्दु की भाषा संवेदना शून्य है, बल्कि उसमें सीमा और शिल्प के अनुसार संवेदना का निर्धारण हुआ है। प्रसाद ने अपनी नाट्य भाषा में ऐन्द्रिय अनुभवों का प्रभाव विकसित कर उसे अत्यधिक संवेदनशील बनाया— चाहे वह प्रतीकात्मक हो या बिम्बात्मक या कि व्यंग्यात्मक। पर व्यापक संवेदना के मूल में बिम्ब - विधान का समृद्ध होना रहा है। प्रसाद ने प्रकृति और मानव के बाह्य और आन्तरिक लय को बिम्ब में अधिक से अधिक चित्रित किया, जिसमें अनुभूति, सर्जनात्मक कल्पना तथा विस्तृत संवेदना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ऐसी भाषा संरचना में उसकी आन्तरिक माँग के अनुसार लय को अलग - अलग नयी सार्थकता दी गई है। (`स्कन्द गुप्त` के) मातृगुप्त का संवाद इस पूरी भाषिक प्रक्रिया का साक्ष्य रूप है—

`उस हिमालय के ऊपर प्रभात - सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का, पीछे पोखराज का - सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे।`[10]

यहाँ अनुभूतियों के संश्लेषण से स्तरात्मक और संश्लिष्ट अर्थ की उद्भावना हुई है

और विविध अर्थ - स्तरों की परस्पर टकराहट से बिम्ब विकसित होता है। सर्जनात्मक भाषा की यही प्रक्रिया है जिससे आस्वादन विभिन्न रूपों में सम्भव होता है। यों अनुभव तो प्रत्येक व्यक्ति में समान हो सकता है, किन्तु उन अनुभवों को सार्थक अनुभूति के रूप में सम्प्रेषित करना सर्जनात्मक भाषा का मुख्य कार्य है। उद्धृत बिम्ब में शब्दों का अलग - अलग उतना महत्त्व नहीं है जितना उसके समग्र प्रभाव का। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इतने सघन अर्थ की सर्जना कैसे हुई ? यहाँ अर्थ की सम्भावना शब्द विशेष में न होकर उसकी पूरी भंगिमा में है। इस बिम्ब में प्रकृति का मानवीय स्थिति पर आरोपण है, जिससे प्रेक्षक की संवेदना बार - बार जागृत होती है। आधुनिक नाटक विशेष रूप से प्रसाद - नाटक की भाषा में सर्जनात्मक क्षमता का सही अहसास होने पर प्रबुद्ध पाठक का महत्त्व स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में पाठक की सजगता अवश्य अपेक्षित है। अर्थ - प्रक्रिया में पाठक की सही भूमिका ग्रहण करने पर ही अर्थ की गहराई तक पहुँचा जा सकता है।

समकालीन नाटक में मानवीय चेतना को आधुनिक संवेदना में साकार करने के लिए बिम्ब विधान की ओर अत्यधिक जागरूकता दिखाई देती है, किन्तु साथ - साथ उसमें सम्भाव्य यथार्थ को व्यक्त करने की उत्कट आकांक्षा है। भारतेन्दु और प्रसाद के नाटकों में निहित भौतिक वस्तुएँ उपादान मात्र हैं, किन्तु नये नाटकों (`आधे - अधूरे,` `तीन अपाहिज,` `छतरियाँ`) में भौतिक वस्तुओं का बिम्बात्मक रूप अर्थ की सर्जनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। `आधे अधूरे` की कैंची की ध्वनि और बन्द डिब्बा इसके सटीक उदाहरण हैं।

अनुभूति जितनी शब्दों की आँच में परिपक्व होती है उसी सीमा तक भाषा को सर्जनशील होना चाहिए। अन्यथा सर्जनात्मक — न भाषा होगी, न रचना। क्योंकि किसी भी रचना की विशिष्टता का मापदण्ड उसकी सर्जनात्मक भाषा है। सर्जनात्मक भाषा में सर्जक प्रयुक्त शब्द के आधार पर उसके सम्पूर्ण परिवेश और पारम्परिक अर्थ को ले लेता है। भाषा की सर्जनात्मक अभिवृद्धि के लिए मिथ की उपयोगिता को प्राचीन काल से महसूस किया जाता रहा है। वैदिक क्रिया कलापों का कल्पना शक्ति द्वारा किसी विशिष्ट देवता पर आरोपण काल प्रवाह के साथ मिथ की संज्ञा पर जाता है। मिथ निर्माण में कल्पना और यथार्थ का, आध्यात्म्य और परम्परा का समन्वय इसे

सृष्टि के रूप में परिणत कर देता है। मिथ निर्माण का सम्बन्ध व्यक्ति के अचेतन मस्तिष्क से है, ऐसा माना जाता है। फ्रायड ने माना कि मानव के अन्दर विभिन्न कल्पनायें जागृत होती रहती हैं। वे कल्पनायें अचेतन से सम्बद्ध होती हैं, पर सचेतन के धरातल पर। अत: मिथों का निर्माण होता है भाषा के रूपकात्मक प्रयोग से।

मिथक और प्रतीक अर्थ - सम्प्रेषण की एक व्यवस्था हैं। यह अर्थ - व्यवस्था सांस्कृतिक प्रक्रिया में मिथक के स्वरूप और उसके क्षेत्र को व्यापक भावभूमि प्रदान करती है। मिथक किसी संस्कृति का आन्तरिक ढाँचा होता है बाह्य नहीं। मिथक का आन्तरिक ढाँचा भाषा को समृद्ध बनाता है— अर्थ की दृष्टि से। रचनाकार अपनी रचना में मिथकों की व्यवस्था मात्र नहीं करता, बल्कि उन्हें अर्थ - सम्पदा प्रदान करता है। प्रसाद ने "स्कन्द गुप्त" में मिथक ("उधर भयानक पिशाचों की लीलाभूमि, उधर गम्भीर समुद्र") का प्रयोग किया है अर्थ को विश्वसनीय बनाने के लिए। "पिशाचों की लीला - भूमि" में "पिशाच" पौराणिक मिथक है और "लीला - भूमि" रूपक। मिथक और रूपक दोनों ने समकालीन परिस्थितियों को व्यापक सन्दर्भ प्रदान किया है।

प्रत्येक युग की प्रतिमाएँ, जिन पर विश्वास की जड़ जम चुकी होती है, क्रमश: मिथक का रूप ग्रहण करने लगती हैं। क्योंकि ये व्यक्ति की प्रेरणा - स्रोत बन जाती हैं। अधिकांश मिथक ऐसे नायक - नायिका को मूर्त करते हैं, जिनका निर्देश अर्थपूर्ण इतिहास, प्रतीकात्मक और व्यापक अर्थ की ओर होता है। उनके चारों ओर परि - व्याप्त प्रभामण्डल उन्हें मिथक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। "पहला राजा" के पृथु और उर्वीधा इसी मिथक के अन्तर्गत आते हैं। पृथु जवाहरलाल नेहरू का प्रतीक है। भाषा की सर्जनात्मक आवश्यकता से उत्प्रेरित होकर आधुनिक नाटककारों ने मिथ को पौराणिक परिवेश से लिया है, पर उसे नया और व्यापक परिवेश प्रदान करने के लिए। प्रत्ययों को प्रतीक की स्थिति से संक्रमित कर उसे भावचित्रों के धरातल पर प्रतिष्ठित करना सर्जनात्मक भाषा की विशिष्टता है। साहित्य की कोई विधा चाहे वह काव्य हो, उपन्यास हो या नाटक उसकी भाषा भावों को सम्प्रेषित करने के लिए नये प्रतीकों का सर्जन करती है। नये प्रतीकों का सर्जन है अन्तत: भाषा का विकास। नये प्रतीकों के आधार पर बिम्ब, रूपक तथा परिवेश निर्मित होते हैं।

अलंकार का प्रयोग केवल भाषा की सौन्दर्यवत्ता के लिए किया जाता है ऐसा

मानना स्थूल दृष्टि का परिचायक है। अलंकार का सम्बन्ध सर्जनात्मक भाषा से है। अलंकार से प्रयुक्त भाषा अलंकृत भाषा है, जिसका मुख्य कर्म सौन्दर्य वृद्धि है। जिसका प्रयोग भावांकन के लिए किया जाता है उसे अलंकरण की भाषा कहते हैं। अलंकृत भाषा, भाषा का बाह्य पक्ष है जबकि अलंकरण की भाषा, भाषा का आन्तरिक पक्ष। सर्जनात्मक साहित्य में अलंकार भाव - सम्प्रेषण के लिए प्रयुक्त किया जाता है न कि सजाने के लिए। सर्जनात्मक अनुभूति कलात्मक होती है और उसकी अभिव्यक्ति भी कलात्मक होगी, अलंकरण की भाषा में। आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को भावों से सम्बद्ध माना—" अलंकार बाह्यारोपित आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुल-वधुओं का मुख्य अलंकार होती है, उसी प्रकार यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है।"[११] सुमित्रानन्दन पन्त ने भी अलंकार को भावाभि-व्यक्ति का रूप स्वीकार किया। आधुनिक नाटककारों ने उपमा और रूपक में सर्जनात्मक उत्स देखा। रूपक का विशिष्ट प्रयोग माथुर के " पहले राजा " में देखा जा सकता है—

" पृथु : सोना, चाँदी, ताँबा इत्यादि धातुओं को व्यापारी दुहें, शिल्पियों का बछड़ा होगा, अलंकारों का पात्र।

कवष : विलासी लोग मदिरा-रूपी दूध को दुहें, मधुशाला का वत्स होगा, मधुशाला का पात्र।

पृथु : ज्ञानी लोग गुरु को बछड़ा बनाकर, वाणी-रूप पात्र में वेद-रूपी दूध को दुहें।

कवष : कलाकार लोग गंधर्व अप्सराओं को बछड़ा बनाकर कमल-रूपी पात्र में संगीत और सौन्दर्य का दूध दुहें।" [१२]

रूपक में अनुभूति समग्रता में प्रस्तुत हो जाती है, जिससे संवेदना विखण्डित न होकर समग्र बन जाती है। यह [illegible] तथ्य को विश्वसनीय बनाती है। समकालीन हिन्दी(?) नाटकों में भाषा को किसी प्रकार सजाने की प्रवृत्ति नहीं है। इन नाटकों में [illegible] की [illegible] भाषा को अधिक से अधिक सर्जनशील बनाती है।

नाट्य भाषा अर्थ की दुहरी प्रक्रिया का निर्वाह करती है। एक तरफ नाटक शाब्दिक अर्थवत्ता के लिए पदबंध, वाक्यविन्यास और व्याकरणिक संरचनाओं पर आधारित है, तो दूसरी तरफ अभिनेय वृत्ति के कारण हरकत, वाणी, स्वर शैली, सम्बोधन पर। यों तो नाटक की भाषा में कार्य के होने का अवसाद होता है, पर अभिनय प्रक्रिया में [illegible] जीवन्त बनकर श्रव्य और दृश्य बन जाती है। नाटक में [illegible] भाषा अर्थ की

दृष्टि से उतनी समृद्ध नहीं रहती, जितना अभिनेय रूप में। रंगमंच पर भाषा संश्लिष्ट रूप में आती है— हाव - भाव, क्रिया - व्यापार, लय और गति से युक्त। इसी लिए भरत ने ' नाट्य शास्त्र ' में नाटक की अभिनय वृत्ति पर विस्तृत विवेचना की। पर प्राचीन नाटक की काव्यात्मक भाषा यथार्थ से अधिक दूर ले जाती थी जबकि आज ऐसी स्थिति नहीं। आधुनिक नाटक की भाषा किसी अतिवाद का शिकार नहीं, बल्कि उसमें यथार्थ को अधिक से अधिक निरूपित करने का आग्रह अवश्य है। समग्र यथार्थ के उद्घाटन के लिए आम जीवन की भाषा को लिया गया। यथार्थ का निरावरण करने में यदि भाषा पर अश्लीलता का आरोप (' तिलचट्टा ' में) लगाया गया तो भी स्वीकार्य है। विशेष रूप से विसंगत नाटक के सन्दर्भ में यह बात सटीक उतरती है। नाटक में काव्यात्मक भाषा का समावेश अपेक्षित आवश्यकताओं के आधार पर होता है। वह साधन होता है साध्य नहीं।

यद्यपि नाटक में भाषेतर माध्यम भाषा को सशक्त बनाता है, किन्तु क्रिया - व्यापार, भाव - सम्प्रेषण की आधारशिला भाषा होती है। भाषा पात्र के व्यक्तित्व को अनुशासित करती है। सर्जनात्मक अभिनय प्रतिभा भाषा की क्षमता को बढ़ाती है, क्षीण नहीं करती। ऐसी प्रक्रिया में भाषा और भाषेतर दोनों आयाम एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं।

पात्रानुकूल भाषा नाटक को सशक्त बनाती है। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों में पात्रानुकूल भाषा के प्रति विशेष ध्यान दिया गया। भरत ने शकार, द्रमिल, आन्ध्र, वनेचर, अन्तःपुर की स्त्रियों, श्रेष्ठियों, राजपुत्रों, चेटों के लिए अलग - अलग प्राकृत भाषा की व्यवस्था की। भारतेन्दु और प्रसाद दोनों ने पात्रानुकूल भाषा पर विशेष बल दिया है, जो नाटकीय परिवेश का निर्धारण करती है। इस प्रेरणा से उद्भावित पात्रानुकूल भाषा प्रयोग और उनकी अर्थवत्ता से परिचित होने के कारण भारतेन्दु ने ' अन्धेर नगरी ' में अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण कराया है। ' स्कन्दगुप्त ' में कहीं काव्यात्मक भाषा का प्रयोग है तो कहीं बोलचाल की सहज भाषा का, कहीं संगीत है तो कहीं युद्ध क्षेत्र के लिए तत्पर सैनिकों के उपयुक्त (क्षिप्र) भाषा। विविध प्रकार की भाषिक संरचना के मूल में पात्रानुकूलता रही है। समकालीन नाटकों में भाषा के सौंदर्य संस्कार पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितनी सामाजिक परिस्थितियाँ

और पात्र - मनोवृत्ति के प्रति । आज की विसंगत स्थितियों के चित्रण के लिए विसंगत भाषा को सशक्त माना गया है, जिसमें संश्लिष्ट यथार्थ अपनी समग्रता में प्रतिबिम्बित हो उठता है । इस जटिल यथार्थ का अंकन साहित्यिक भाषा में सम्भव न बन पाता । विसंगत नाटक में प्रयुक्त असम्बद्ध अनगढ़ शब्द, वाचिक अवरोध, प्रतीक, पुनरावृत्ति, अधूरे वाक्य, उच्चारण की विकृति, वाक्यों के बीच का अन्तराल, उछल - कूद, मनमानी हरकत और मौन अर्थ सम्प्रेषण की दृष्टि से समृद्ध होता है न कि रिक्त । भरत मुनि ने भौगोलिक क्षेत्र, वर्ग, सामाजिक मान - मर्यादा, वक्ता की मनःस्थिति के अनुसार भाषा का वर्गीकरण कर, उसे पात्रानुकूल बनाया । आज पात्रानुकूल भाषा का दायरा सीमित होकर पात्रों के व्यक्तिगत संस्कारों, शब्द संयोजन, लय, गति और बलाघात के रूप में विविधता प्राप्त कर सका है ।

सर्जनात्मक भाषा नाटक और उसके परिवेश को शब्दों में पकड़ती है इसलिए नाटककार जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे संवादों के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं । जो शब्द जीवन की गति, लय, तनाव और भावना को जितने अधिक आत्मसात् करने की क्षमता रखते हैं वे उतने ही नाटक के लिए उपयुक्त होते हैं । तत्सम, तद्भव, देशज, उर्दू तथा अंग्रेजी शब्द समग्र अर्थ को ध्वनित करने के साथ - साथ परिवेश निर्माण में सहायक होते हैं । " अन्धेर नगरी " में प्रयुक्त तद्भव तथा देशज शब्द यदि व्यंग्य और विसंगतियों को उभारते हैं तो " स्कन्दगुप्त " में तत्सम शब्द ऐतिहासिक परिवेश को । विपिनकुमार अग्रवाल की दृष्टि शब्दों की पारखी है— " साधारण शब्दों के बीच जब साहित्यिक शब्द, विदेशी भाषा का शब्द या कोई नारा चिपका दिया जाता है तब वह ज्यादा आवाज के साथ सुनाई देता है । "[१३] अंग्रेजी शब्दों के सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से पायी जाती है । आधुनिक हिन्दी नाटक में देशज शब्दों को उत्साह के साथ ग्रहण किया गया है ।

लय एक ऐसा आयाम है जो नाटक की भावधारा को वैगमय बनाता है । कथानक, चारित्रिक विकास, क्रिया - व्यापार और परिवेश निर्माण में लय की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । नाटक में जो प्रभावान्विति होती है और उसके माध्यम से अर्थ के विभिन्न स्तरों में जो तारतम्य स्थापित होता है वह लय नियोजन द्वारा सम्भव बन पाता है । पाश्चात्य विचारक आइवर विन्टर्स ने लय की महत्ता प्रस्तुत शब्दों में स्वीकार की है— " कविता का अस्तित्व समय में होता है, मस्तिष्क उसके माध्यम से समय में अग्रसर होता

है और यदि कवि अच्छा हुआ तो वह उस तथ्य का लाभ उठाता है और उस उद्धरण को लयात्मक बना देता है।[१४] अतः दृश्यत्व और लय दोनों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। रंगमंच पर जिन वस्तुओं के प्रयोग से अर्थच्छटा ध्वनित होती है उसकी अपनी एक लय होती है और इस लय का सामन्जस्य संवादों में होता है। लय के बदलने से अर्थ- धारा परिवर्तित हो जाती है। आधुनिक नाटक में लय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार है, जो नाटक के आन्तरिक संघटन को समझने में सहायक बनती है। लय की इस सक्रिय दशा का अवलोकन मोहन राकेश के इस उद्धरण में देखा जा सकता है—

पुरुष १ : तो लोगों को भी पता है वह आता है यहाँ ?

स्त्री : (एक तीखी नजर उस पर डालकर) क्यों, बुरी बात है ?

पुरुष १ : मैंने कहा बुरी बात है ? मैं तो बल्कि कहता हूँ अच्छी बात है।

स्त्री : तुम जो कहते हो, उसका सब मतलब समझ में आता है मेरी।

पुरुष १ : तो अच्छा यही है कि मैं कुछ न कहकर चुप रहा करूँ। अगर चुप रहता हूँ, तो —— ।[१५]

यहाँ शब्दों में स्वीकृति है जबकि लय अस्वीकृति की है। दोनों अर्थ अवसरानुकूल हैं। जब जिस अर्थ की अपेक्षा हो, उसे ग्रहण किया जा सकता है।

किसी भी रचना की सफलता का मापदण्ड सर्जनात्मक भाषा है। प्राचीन नाटकों में यदि सबसे अधिक बल कथावस्तु और चरित्र - चित्रण पर दिया जाता था तो आज भाषिक - विधान की कुशल प्रवृत्ति द्वारा नाटक में अतिरिक्त प्रभाव अर्जित करने की कोशिश है। समकालीन नाटककार समग्र अनुभूति को बोलचाल की भाषा में सम्प्रेषित करता है। सर्जनात्मक भाषा और जन भाषा के बीच अन्तर है यह विवादास्पद नहीं है। आधुनिक नाटक की भाषा धीरे - धीरे बोलचाल की ओर उन्मुख होती गई। भारतेन्दु पूर्व के पद्य नाटकों में नाट्य भाषा बोलचाल की भाषा से काफी दूर थी, यह दूरी आधुनिक नाटक में क्रमशः कम होती गई। पर इससे बोलचाल की सामान्य भाषा और सर्जनात्मक भाषा का अन्तर नहीं मिट जाता। दोनों में अन्तर का मूल कारण भाषा - प्रयोग - विधि है। यह भाषा - प्रयोग - विधि जन भाषा और सर्जनात्मक भाषा को अलग करती है, जिसमें अर्थ की समग्रता का बोध शब्द-समूह न कराकर, प्रयोग विधि कराती है। तब शब्दों की सरलता, कठिनता और सुन्दरता उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती जितनी उसकी प्रयोग विधि।

॥ स न्द र्भ ॥

१- ओवेन बारफ़ील्ड : पोयटिक डिक्सन पृष्ठ - ४६

२- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : भाषा और संवेदना पृष्ठ - १४

३- - वही -

४- बी०एल० होर्फ : लैंग्वेज, थाट, ऐंड रियलिटी पृष्ठ - २२५

५- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : भाषा तथा संवेदना पृष्ठ - २३

६- एफ० डब्लू बाटजन : इंग्लिश पोयट्री एण्ड द इंग्लिश लैंग्वेज पृष्ठ - ६७

" **The negative theory of poetec diction was a consistent attempt to diffirentiate wards by their associations.** "

७- " **The question is, how far a poet, in pursuing the discription or image of an action, can attach himself to little circumsta_nces, without Vulgarity or trifling ? What particular are praper, and enliven the image, or what are impertiment and clog it ?** "

८ - टी०एस० इलियट : उद्धृत, रॉल्जावेथ ड्रिउ : पोयट्री पृष्ठ - १६

९- हरबर्ट रीड : द फार्म्स ऑफ थिंग्स अन्नोन पृष्ठ - ५१

१०- जयशंकरप्रसाद : स्कन्दगुप्त प्रथम अंक दृश्य - ३ पृष्ठ - १५

११ - आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक ३ । ३८

१२ - जगदीशचन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक तीन पृष्ठ - ८४

१३- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू पृष्ठ - ७४

१४ - आइवर विन्टर्स : इन डिफ़ेंस ऑफ रीज़न की भूमिका (नयी समीक्षा के प्रतिमान सं० डा० निर्मला जैन) पृष्ठ - ४२

१५ - मोहन राकेश : आधे अधूरे पृष्ठ - १८

द्वितीय अध्याय

।। नाटक की भाषा : भरत मुनि और अरस्तू का दृष्टिकोण ।।

(भारतीय और पाश्चात्य नाट्य दृष्टि की तुलना)

नाटक अन्य विधाओं की अपेक्षा इसलिए विशिष्ट है कि इसका सर्जन संवादों के रूप में होता है। परिप्रेक्ष्य संवाद का निर्माण करते हैं, वर्णनों का नहीं, जबकि अन्य विधाओं में ऐसा नहीं है। किसी भी नाटक का पहला महत्वपूर्ण पक्ष संवाद होता है। संवाद की साहित्यिक उपलब्धि पर ही किसी नाटक की सफलता निर्भर करती है। पात्रों के बीच में जो वैयक्तिक और अन्तर्वैयक्तिक प्रतिक्रिया होती है, उसे नाटककार संवाद के रूप में अभिव्यक्त करता है। संवादों की रचना में नाटककार की दृष्टि पात्र, सन्दर्भ, परिवेश एवं परिप्रेक्ष्य सब पर रहती है। नाटकीय संवाद विधान की दृष्टि से बिम्ब, छन्द, लय, व्यंग्य आदि किसी भी रूप में हो सकते हैं। संवाद सीधे पात्रों के जीवन से संश्लिष्ट रहता है, जिससे नाटक में रचनात्मक संसार का निर्माण होता है। इसका महत्व प्रेषणीयता से भी जुड़ा है। संवाद की भावात्मकता तथा भाषिक - क्षमता, प्रेषणीयता तथा लयात्मकता नाटक में अपूर्व प्रभाव पैदा करती है।

संवाद भाषा ही है। संवादों का अस्तित्व भाषा से है। दोनों में अन्तर यह है कि संवाद वक्ता और श्रोता पर पूर्णतया आश्रित रहता है। वास्तविक जीवन में भाषा की महत्ता इसीलिए महसूस हुई होगी। इसके लिए दो व्यक्तियों में वार्तालाप अपेक्षित होता जो सामान्य होते हुए भी विशिष्ट होता है, और सर्जनात्मक क्षमता के माध्यम से प्रवाहित होता चलता है। सर्जनात्मक भाषा मानव - संवेदना पर अधिक - से - अधिक प्रभाव डालती है। वस्तुत: नाटक की भाषा नाटक के संवादों को निर्मित करने के साथ - साथ नाटककार की भाषिक क्षमता को भी निर्धारित करती है। उसमें उसका अनुभव, नाट्य - वस्तु, पात्रों का व्यवहार और उनको रूपायित करने वाले भाषिक - बिम्ब सब उसी के अंश बन जाते हैं। अत: भाषा संवादों की मात्र वाहिका न बन कर आधार - वस्तु का स्थान ग्रहण कर लेती है। कथानक, चरित्र, स्थिति, वातावरण में स्वयं को निर्मित करती चलती है। भाषागत सापेक्षतावाद के अनुसार बी०एल० होर्फ ने भाषा को नियन्ता कहा है "भाषा विचार की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं वरन् उसके स्वरूप का नियन्त्रण करने वाली है।"[1] यों भाषा नाटक के

संवाद का माध्यम नहीं है परन्तु मूर्तिकार की मिट्टी के समान है और संवाद उसके द्वारा निर्मित मूर्ति। मूर्ति के लिए एक विशेष प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता होती है और नाटकीय संवादों के लिए विशिष्ट भाषा ही सर्जनात्मकता प्रदान कर सकती है। कलाकार मिट्टी से मूर्ति के एक - एक अंग को साँचे में ढालता है, नाटककार भाषा से संवाद को बनाता है। मिट्टी और मूर्ति उपादान और कार्य है ठीक भाषा और संवाद की तरह। दोनों एक होकर भी अलग हैं। अतएव सशक्त भाषा संवादों को सजीव बनाने में समर्थ होती है।

आचार्य भरतमुनि ने ' नाट्यशास्त्र ' के अन्तर्गत जिस स्वतन्त्र चिन्तन और मनन को प्रतिपादित किया है, वह भारतीय साहित्यिक विधाओं का आदि स्रोत है। भरतमुनि के नाट्य सिद्धान्तों का निर्माण काल ईसवी सन् के आस - पास कहा जा सकता है।

भरत की दृष्टि से मानव स्वभाव के विभिन्न रूप होते हैं।[2] सुख - दुःख के प्रभाव से जीवन की अवस्थाएं भी विविध और विलक्षण होती हैं। प्रकृति के परिवेश में मानव - जीवन सुख - दुःख के सूक्ष्म सूत्रों से प्रतिक्षण विकसित होता चलता है, उसके मस्तिष्क में सुख - दुःख से परिपूर्ण संवेदना निरन्तर होती चलती है। सशक्त भाषा द्वारा नाटक में निहित वार्तालाप से प्रमाता को सजीवता का आभास होता है। नाटक में रचनाकार की भाषा अपनी प्रकृति को त्याग कर लोकोत्तर संवेदना के प्राण रस का प्रतिष्ठान करती है। उसी सर्जनात्मक भाषा द्वारा सामाजिक के हृदय की संवेदना पात्रों की वाणी में समाविष्ट हो जाती है। इस एकाकारता से लोकोत्तर संवेदना के महाभोग रस का आविर्भाव होता है। इससे पाठक के हृदय में आनन्द की अनुभूति होती है।

नाट्य - भाषा का विवेचन करते समय भरतमुनि ने अभिनय को मूलतः दृष्टि में रखा। यही कारण है कि ' नाट्य - शास्त्र ' के अन्तर्गत संवाद का विस्तृत विवेचन किया गया है। संवाद योजना में पात्र - भाषा, परिस्थिति, वातावरण एवं अनुपात को भी ध्यान में रखा जाता है। भूषण, अक्षर - संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टांत, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला,

दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुण - कीर्तन, सिद्धि और प्रियवचन इन छत्तीस लक्षणों का प्रयोग नाटक में होना चाहिए ।

अलंकार, गुण और विचित्र अर्थ से भरा हुआ वाक्य ` भूषण ` कहलाता है । जहाँ श्लेष के माध्यम से अधिक अर्थ अभिव्यक्त किया जाय वहां ` अक्षर - संघात ` होता है । जब सिद्ध अर्थों के साथ असिद्ध अर्थ निकाला जाता है तब ` शोभा ` होती है । कम शब्द में अधिक अर्थ भर देने की क्षमता को ` उदाहरण ` कहा जाता है । जहाँ अपनी इच्छा को आकर्षक एवं संक्षिप्त वाक्य में व्यक्त किया जाता है वहाँ ` हेतु ` कहलाता है । विभिन्न प्रकार के चिन्तन वाले एक वाक्य के समाप्त करने के ढंग को ` संशय ` और विभिन्न पदार्थों के विभिन्न - विभिन्न अर्थ को उद्घाटित करने वाले वाक्य को ` दृष्टान्त ` कहा जाता है । जहाँ वाक्य के कुछ अंश में भावों का अनुमान लगा लिया जाता है वहाँ ` प्राप्ति ` और जहाँ समानता के कारण किसी नवीन अर्थ की झलक हो वहाँ ` अभिप्राय ` होता है । यदि मुख्य - मुख्य अर्थों की गिनती के साथ-साथ पिछले अर्थ की अपेक्षा आगे अर्थ को महत्त्व दिया जाता है, तो उसे ` निदर्शन ` कहा जाता है । अस्पष्ट वाक्य के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त वचन को ` निरुक्ति ` कहा जाता है । प्रयुक्त नामों के वर्णन से इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति को ` सिद्धि ` और प्रमुख अर्थों वाले शब्दों के प्रयोग से विशेषता से युक्त वचन को अभिव्यक्त करने के ढंग को ` विशेषण ` कहा जाता है । जहाँ अनेक प्रकार के गुण वाले और विपरीत अर्थ वाले शब्दों से मधुर और कठोर दोनों अर्थ निकलें वहाँ ` गुणातिपात ` होता है । जहाँ सामान्य बात को अधिक बढ़ा चढ़ाकर कहा जाय वहाँ ` अतिशय ` और सामान्य अर्थ वाले रूपकों और उपमानों से ऐसे अर्थ अभिव्यंजित हों कि पाठक को सहसा विश्वास न हो वहाँ ` तुल्यतर्क ` होता है । अनेक शब्दों से युक्त अनेक वाक्यों के प्रयोग को, जिनका अर्थ समान हो उसे ` पदोच्चय ` कहा जाता है । देश, काल और रूप के अनुसार प्रत्यक्ष या परोक्ष वाक्य को ` दृष्ट ` कहते हैं । जिस वाक्य में किसी शास्त्र के अर्थ को ग्रहण कर विद्वत्तापूर्ण आकर्षक शब्द प्रयोग किया जाय उसे ` उपदिष्ट ` और जिसमें पूर्व वर्णित बातों के समान अर्थ से परिपूर्ण परोक्ष अर्थ को व्यंजित करने वाले विभिन्न प्रकार के तर्क - वितर्क से युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाय वहाँ ` विचार ` होता है । पूर्व निर्दिष्ट बात से भिन्न और सन्देह से युक्त अर्थ प्रकट करने की प्रणाली को ` अर्थ विपर्यय ` कहा जाता है । जहाँ वाच्य अर्थ को छोड़कर अनेक प्रकार से

विभिन्न अर्थ की प्रतीति करायी जाय वहाँ ' अनुनय ' होता है। जब इच्छित अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रयोजनों की गिनती करायी जाती है तब ' माला ' होती है। जब प्रसन्न होकर दूसरे के कथनानुसार क्रिया की जाय तब ' दाक्षिण्य ' कहा जाता है। दोषों की गिनती करते हुए गुण की अभिव्यक्ति को ' गर्हण ' कहा जाता है। जब किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करते हुए कोई दूसरा माधुर्य युक्त अर्थ प्रकट किया जाय तब ' अर्थापत्ति ' होता है। वाक्यार्थ को विभूषित करने वाले लोक - प्रसिद्ध वाक्यों द्वारा किसी बात को व्यक्त करने की प्रक्रिया को ' लोक-प्रसिद्धि ' कहा जाता है। मूल वाक्यों द्वारा अपनी या दूसरे की कोई बात पूछने के ढंग को ' पृच्छा ' और अपरिचित बातों को परिचित की तरह प्रयुक्त करने के ढंग को ' सारूप्य ' कहा जाता है। अपने मन की कोई बात किसी दूसरे को लक्ष्य करके कही जाती है, तो उसे ' मनोरथ ' कहा जाता है। जहाँ शास्त्रार्थ की कला में निपुण लोग वाक्य को कलात्मक ढंग से इस प्रकार कहें कि समान अर्थ प्रकट हो वहाँ ' लेश ' होता है। जहाँ दूसरे दोषों के माध्यम से अपना वर्णन किया जाय वहाँ ' क्षोभ ' होता है। जहाँ किसी व्यक्ति के वास्तविक गुणों के अतिरिक्त गुणों का नाम लेकर वर्णन किया जाय वहाँ ' गुणकीर्तन ' होता है। किसी वाक्य के प्रारम्भ मात्र से पूर्ण अर्थ की प्रतीति को ' सिद्धि ' और पूज्य व्यक्ति की पूजा या प्रसन्नता प्रकट करने के लिए किसी वाक्य के प्रयोग करने के ढंग को ' प्रियोक्ति ' की संज्ञा दी जाती है।

संवाद के लक्षणों को भरतमुनि ने काव्य विभूषण कहा है। नाटक में संवादों का उचित प्रयोग होना चाहिए। भरत ने नाटक में स्वाभाविक और सुन्दर भाषा के प्रयोग पर अधिक बल दिया है, जिससे प्रेक्षक उसे भली - भाँति समझ सके। संवादों में बोलचाल की भाषा का प्रयोग होना चाहिए, जिससे प्रमाता वर्ग यथार्थ के निकट पहुँच सकें। संवाद के वाक्य अधिक लम्बे और शिथिल न होकर छोटे और चुस्त होने चाहिए।

चूँकि नाटकों की वस्तु अधिकांशतः महाकाव्यों पर आधारित थी, इसलिए भरतमुनि ने नाटक में पद्य की भाषा को स्वीकार किया। काव्यात्मक भाषा, रस एवं वातावरण की सृष्टि में सहायक होती है। भरत ने नाट्य भाषा में यथोचित स्थान पर गीतों के प्रयोग पर बल दिया है। गीतों द्वारा नाटक की भावधारा में रस का संचरण होता है। जहाँ गीत नाट्य - भाषा की गतिशीलता में बाधक होते हैं वहाँ इनका प्रयोग

अपेक्षित नहीं है। गीत की योजना प्रायः स्त्री पात्रों द्वारा ही करने के पक्ष में भरत रहे हैं। पुरुष द्वारा गायन और स्त्री द्वारा पाठ की परम्परा भी रही है, परन्तु स्त्री के गीत में जो माधुर्य होता है, वह पुरुषों द्वारा सम्भव नहीं है। विभिन्न प्रकार के भावों के प्रकाशन के लिए गीतों का प्रयोग सम्भव है। जयशंकरप्रसाद ने भी देश, भक्ति, भाव एवं रस का समृद्ध वातावरण प्रस्तुत करने के लिए अपने नाटकों में गीतों का यथोचित प्रयोग किया है। अतः जहाँ अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार शब्दों के प्रयोग में कठिनाई अनुभव करता है, वहाँ गीत प्रभाव को उत्पन्न करने में सहायक होता है।

भरत की दृष्टि से नाटक में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं के चार प्रकार होते हैं— अति - भाषा, आर्य - भाषा, जाति - भाषा, ज्यानन्तरी - भाषा (योन्यन्तरी भाषा)। अति - भाषा वैदिक शब्द बहुल होती है। आर्य - भाषा श्रेष्ठ जनों की भाषा होती है। यह वैदिक है या नहीं यह अस्पष्ट है। योन्यन्तरी भाषा पशु - पक्षियों की बोली की अनुकरणात्मक भाषा होती है।[4]

देवगण की अति - भाषा तथा भूपालों की आर्य - भाषा होती है। संस्कार रूप विशेष रूप से विद्यमान होने से इनका सातों द्वीपों में प्रचलन है।

नाटक में प्रयुक्त होने वाली जाति - भाषा दो प्रकार की होती है। इसमें अनेक अनार्य तथा म्लेच्छों द्वारा व्यवहार में आने वाले शब्द समाविष्ट रहते हैं, जो भारत में बोले जाते हैं— प्राकृत पाठ्य। जो धीरोद्धत, धीर ललित, धीरोदात्त, धीरप्रशान्त नायक हों, उनके लिए संस्कृत पाठ की योजना की जाती है। भरत ने आवश्यकतानुसार इन सभी नायकों में प्राकृत पाठ की योजना पर भी बल दिया।

यदि कोई उत्तम पात्र अपने राज्य या ऐश्वर्य से प्राप्त होने पर अपने पद में मत्त हो या फिर दरिद्रता से अभिभूत हो, तो उसकी इन मदमत्त दशाओं में संस्कृत भाषा की योजना न रखकर प्राकृत भाषा रखनी चाहिए। जो पात्र किसी विशेष कारण से साधु, संन्यासी का वेश धारण किये हों, तो उनके लिए प्राकृत पाठ की योजना की जाती है। बालक किसी भूत या पिशाच से ग्रस्त व्यक्ति, स्त्री प्रकृति के पुरुष, नीच जाति के पुरुष की भाषा प्राकृत होती है।

भरत के अनुसार— जाति, गुण, रूप एवं परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न भाषा

नाटक में प्रयुक्त होनी चाहिए। संन्यासी, साधु, बौद्ध, भिक्षु, श्रोत्रिय, वेदपाठी, ब्राह्मण और जो अपनी प्रतिष्ठा या स्थिति के अनुरूप व्यवहार रखते हों उनकी भाषा संस्कृत रखनी चाहिए। किसी विशेष अवसर पर महारानी, वेश्या तथा शिल्पकारी जैसे स्त्री पात्र भी संस्कृत भाषा का व्यवहार कर सकते हैं। जब सन्धि या विग्रह से सम्बन्धित बात चल रही हो, आकाश में किसी उदित नक्षत्र के शुभ या अशुभ फल पर विचार किया जा रहा हो तथा किसी पक्षी की आवाज सुनकर शुभ या अशुभ भविष्य की कल्पना की जाती हो तभी स्त्री, शिल्पकारी पात्र भी संस्कृत भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। विविध रुचि वाले प्रजा के विरोध के लिए तथा ज्ञान को प्रदर्शित करने के लिए वेश्याएँ भी संस्कृत भाषा का प्रयोग कर सकती हैं। चूँकि अप्सराओं का देवताओं से संसर्ग रहता है, इसलिए इनके मुख से संस्कृत भाषा बोलने का प्राविधान होना चाहिए। अप्सराओं के विचरण समय में स्वाभाविक प्राकृत पाठ्य रखना उचित है, परन्तु किसी मानव - पत्नी के रूप में इनको रखा जाय तो अवसरानुकूल संस्कृत या प्राकृत कोई भी भाषा रखी जा सकती है।

भरत ने प्राकृत को भी सात भागों में विभाजित किया है— मागधी, अवन्ती, प्राच्य, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाह्लीका, दाक्षिणात्या। नाट्य रचना में इसके अतिरिक्त कुछ विभाषाएँ हैं, जो गौण स्थान रखती हैं— शाकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविड़ी, आन्ध्री तथा वनचरों की अपनी जंगली भाषाएँ।

मुख्य प्राकृत भाषाओं का व्यवहार कुछ विशेष पात्रों के लिए ही भरतमुनि ने उपयोगी बताया है— राजा के अन्तःपुर के रक्षक तथा सेवकों की मागधी भाषा तथा राजपुत्र चेट तथा श्रेष्ठिजन की अर्द्धमागधी भाषा नियत रहनी चाहिए। विदूषक तथा उसके सदृश पात्रों की प्राच्य भाषा तथा धूर्त प्रकृति के पात्रों की अवन्ती - भाषा रखी जानी चाहिए। सुविधानुसार नायिका तथा उसकी सारी सखियों की भाषा शौरसेनी हो। सैनिकों, जुआरियों, नगरमुख्य आरक्षक की दाक्षिणात्या भाषा तथा भारत के उत्तर भाग के निवासी जनों की, अपनी देश भाषा वाह्लीकी होनी चाहिए। शकार, शक तथा उसके अनुरूप स्वभाव वाले वर्गों की शाकारी भाषा तथा पुल्कस, डोम और इसके समान अन्य नीच जातियों की भाषा चाण्डाली होनी चाहिए। कोयलों के व्यवसायी बहेलिये, लकड़ी और पत्तों को जंगल से ढोकर अपनी जीविका चलाने वाले श्रमिक जैसे पात्रों

से शाबरी भाषा का प्रयोग करवाना चाहिए ।

जहाँ हाथी, घोड़े, बकरे, भेड़, बैल, गायों को बाँधा जाता हो उन स्थानों के निवासियों की भाषा शाबरी, द्रविड़ आदि देशों के वनवासियों की द्राविड़ी भाषा रखी जाती है । सुरंग के खोदने वाले श्रमिकों, जेलों के पहरेदार, आपद्ग्रस्त नायक या उसके सदृश दूसरे पात्रों की भाषा मागधी रखी जाती है ।

भारत की गंगा नदी और सागर के मध्यवर्ती प्रदेशों की भाषा ' ए ' कार बहुल भाषा, जो सम्भाग विन्ध्याचल पर्वत और सागर के मध्यवर्ती हों उनकी भाषा ' न ' कार बहुल, वेत्रवती नदी के उत्तरवर्ती प्रदेशों तथा सौराष्ट्र और अवन्ती देशों की ' च ' कार बहुल भाषा, पर्वतीय, सिन्धु तथा सौवीर देश के निवासियों की ' य ' कार बहुल भाषा रखनी चाहिए ।

नाटक में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत भरत ने लोकोक्तियों में व्यवहृत किये जाने वाले उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों को सम्बोधित किये जाने वाले नियत शब्द तथा उनके प्रयोग विधान को निरूपित किया है ।

जो देवताओं में श्रेष्ठ महात्मागण तथा महर्षि हों, तो उन्हें ' भगवान ' शब्द से, ब्राह्मण के लिए ' आर्य ' शब्द, शिक्षक के लिए ' आचार्य, ' बूढ़े मनुष्य को तात, ब्राह्मण द्वारा पत्नी को ' अमात्य, ' सामान्य पुरुष को ' भाव ' तथा उससे कम स्थिति वाले पुरुष को ' मारिष ' शब्द से सम्बोधित किया जाना चाहिए । समान अवस्था वाले पुरुष एक - दूसरे को ' वयस्क, ' सूत के द्वारा रथ में स्थित पुरुष को ' आयुष्मन, ' तपस्वी और प्रशान्त स्वभाव वाले पुरुष को ' साधो, ' सेवकों द्वारा युवराज राजकुमार को ' स्वामी ' तथा अधम पात्र को ' हे ' शब्द से सम्बोधित किया जाना चाहिए । भरत ने नाटक में कार्य , हुनर, विधा, जाति, जन्म उसकी अवस्था और स्थिति के अनुसार ही सम्बोधन शब्द को प्रयुक्त किया । नाटक में उन्होंने स्त्रियों के लिए भी ' भगवती, ' सेवक और परिचारिकाओं द्वारा राजपत्नियों को ' भट्टिनी, ' बड़ी बहन को ' भगिनी, ' पत्नी को ' आर्या ' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ।

इस प्रकार भरत के संवाद और भाषिक विवेचन के मुख्य आधार रहे हैं— वक्ता की मन:स्थिति, उसकी जातिगत स्थिति, क्षेत्रीय परिस्थिति और सामाजिक मान-मर्यादा।

षों आधुनिक भाषिक विवेचन के दो मुख्य आधारों— भौगोलिक और सामाजिक को भरत अपने ढंग से पूर्वांकित करते हैं।

नाट्य - भाषा के प्रसंग में भरतमुनि ने वृत्तियों का निरूपण किया है। वृत्तियों द्वारा भावों का प्रकाशन होता है, इसलिए भरत ने इनको नाटक की माता कहा। 5 भारती सात्वती, कैशिकी, आरभटी इन चारों वृत्तियों में भाषा की दृष्टि से भारती वृत्ति का स्थान महत्वपूर्ण है। इसमें पुरुष पात्रों द्वारा संस्कृत पाठ का प्रयोग होता है। नटों के वाक् - विन्यास तथा उनके नाम के कारण इसका नाम 'भारती' पड़ा। वाचिक चेष्टा के अभाव में किसी भाव का प्रदर्शन असम्भव है। भरत मुनि ने 'भारती' वृत्ति को चार भागों में वर्गीकृत किया— प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन।

विजय, मंगल, अभ्युदय एवं पाप प्रशमन युक्त वाणी नाटक के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने पर प्ररोचना होती है। प्ररोचना द्वारा ही प्रस्तोता - पात्र काव्य का उपक्षेपण हेतु और युक्तिपूर्वक करता है। सूत्रधार के साथ जब नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक श्लिष्ट, वक्रोक्ति, प्रत्युक्ति अथवा स्पष्टोक्ति के माध्यम से संवाद की योजना करते हैं, तब आमुख होता है।

नाटक की भाषा को अलंकृत करने के लिए छन्द और अलंकार का निर्देश भी भरत मुनि ने दिया है। उपमा, रूपक, दीपक, यमक अलंकार कहीं - कहीं नाटक में भावों के संचार के लिए सहायक सिद्ध होते हैं।

भरत ने पात्रों के स्तर के अनुकूल नाट्य - भाषा का विस्तृत विवेचन किया है जिससे यह प्रकट होता है कि तत्कालीन समय में नाट्यकारों के लिए पात्रों की भाषा विषयक मान्यता को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक था। नाट्य - भाषा विषयक वर्गीकरण का उल्लेख करते समय भरतमुनि की मूल दृष्टि जाति, पद, गुण, कार्य, देश, मर्यादा आदि पर विशेष रूप से थी। नाटक में प्रयुक्त सर्जनात्मक भाषा द्वारा देश, काल और वातावरण की सृष्टि भी हो जाती है। जो पात्र जिस देश का होता है उसी भाषा का प्रयोग करता है जिससे प्रमाता को देश, काल और यथार्थ का बोध होता है। अतः भाषा का परिवेश - सर्जन में बहुत बड़ा हाथ होता है। 'नाट्य - शास्त्र' में भाषा की सम्पूर्णता को नाटक में जो स्थान दिया गया है, वह अन्यत्र नहीं। भाषा

के विभिन्न अंगों का इसमें सुव्यवस्थित विवेचन ही नहीं है, बल्कि अपने स्वतन्त्र चिन्तन और गहन मनन द्वारा भरतमुनि ने ऐसे रस, छन्द, अलंकार का निर्माण भी किया है, जिसकी नींव पर परवर्ती आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

भरतमुनि के समान अरस्तू ने भी पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र की नींव को प्रतिष्ठित किया। अरस्तु का समय चौथी शताब्दी माना जाता है। 'काव्यशास्त्र' और 'राजनीति' में अरस्तु ने नाटक की भाषा पर स्वतन्त्र चिन्तन किया है।

अरस्तू ने भाषा को दो वर्गों में विभाजित किया— गद्य की भाषा, पद्य या छन्द की भाषा। नाटक में दूसरी भाषा का प्रयोग होता है।

अरस्तू ने नाटक को दो भागों में विभाजित किया— त्रासदी और कामदी। त्रासदी का लक्ष्य त्रास और करुणा की उद्बुद्धि करना है इसलिए इसमें सर्जनात्मक भाषा की आवश्यकता होती है। कामदी का लक्ष्य हास्य की सृष्टि करना होता है।

" त्रासदी किसी गम्भीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न - भिन्न भागों में भिन्न - भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य - व्यापार रूप में होती है, और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचितविवेचन किया जाता है।" ६

अरस्तू ने 'काव्यशास्त्र' में नाटक की कथावस्तु को अधिक महत्ता प्रदान की है, लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्होंने नाटक की भाषा पर विचार ही न किया हो। कथानक के अन्तर्गत अनेक घटनाएं क्रमिक रूप से निहित रहती हैं। कथानक की अभिव्यक्ति नाटककार चरित्रों अथवा पात्रों द्वारा करता है। पात्रों की अभिव्यक्ति में चरित्र,भाव, भाषा सभी सन्निहित हो जाते हैं। अतः सर्जनात्मक भाषा नाटककार को विशिष्ट कथानक के चयन के लिए प्रेरित करती है, और कथानक अर्जित भाषा के लिए बाध्य करती है।

" जो कवि भाव की अनुभूति करके लिखता है, उसी का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उसकी अपने पात्रों के साथ सहज अनुभूति होती है। क्षोभ और क्रोध का स्वयं अनुभव करने वाला कवि ही पात्रगत क्षोभ और क्रोध को जीवन्त रूप में अभिव्यक्त कर

सकता है, अतः काव्य - सृजन के लिए कवि में प्रकृति - दत्त प्रतिभा तथा उन्माद विशेष आवश्यक है। पहली स्थिति में कवि किसी भी चरित्र के साथ तादात्म्य कर सकता है और दूसरी स्थिति में वह ' स्व ' की भूमिका से ऊपर उठ जाता है।' [७]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि सभी व्यक्ति कलाकार नहीं हो सकते। प्रकृति - प्रदत्त प्रतिभा द्वारा ही उसका अनुभव कलात्मक होता है। कलात्मक अनुभव का अभिव्यक्तीकरण भी कलात्मक भाषा द्वारा होता है, इसीलिए वह जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से भिन्न होकर संभाव्यता पर बल देता है। त्रासदी में भद्रता चरित्र का मूल आधार होना चाहिए। रचनाकार अपने उद्देश्य के अनुसार भाषा का प्रयोग करता है। यदि उद्देश्य भद्र है, तो उसके द्वारा निर्मित चरित्र की भाषा भी भद्र होगी। इसीलिए अरस्तू ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि त्रासदी में मानव का ' भव्यतर चित्रण होता है।' अतः त्रासदी की कथावस्तु में गम्भीर और उज्ज्वल भाषा द्वारा मानव का भव्य चित्रण होना चाहिए, जो मानव की नैतिक भावना को तुष्ट करे। अन्यथा उसकी विपत्ति पाठक के मन में सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर सकेगी। भद्रता का दायरा किसी सीमा में आबद्ध नहीं होता। सभी वर्ग के लोग इसका आस्वाद ले सकते हैं।

अरस्तू ने भाषा को नाटक के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। उसमें अनुकरण का साधन भाषा ही होती है। यह अनुकरण कार्य का होगा। यह कार्य या तो मित्रों का एक - दूसरे के प्रति होगा, या शत्रुओं का अथवा किसी का भी न होकर किसी ऐसे कार्य का होगा जिससे वह स्वयं अनभिज्ञ रहे और उसका संयोजन करे। अनुकरण का तात्पर्य मात्र यथार्थ चित्रण नहीं है, बल्कि वह यथार्थ के नजदीक कलात्मक चित्रण है जिसमें भाव - तत्त्व और कल्पना - तत्त्व का भी समावेश रहता है।

अरस्तू के अनुसार— ' जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है, चाहे वह ख्यात हो या उत्पाद्य कवि को सबसे पहले एक सामान्य रूप - रेखा तैयार कर लेनी चाहिए और फिर उसमें उपाख्यानों का समावेश तथा विवरण - विस्तार करना चाहिए।' [८]

गहन अनुभूति के कारण ही रचनाकार सृजन का सहारा लेता है। सामान्य व्यक्ति के अनुभव की अपेक्षा रचनाकार का अनुभव इसी मायने में विशिष्ट होता है। यही कारण है कि भाषा द्वारा वह साहित्य का सर्जन कर लेता है। जैसा कि

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है— " अनुभव होने का अनुभव होना अनुभूति है और भाषा भी ।" [६] नाटककार अपनी विशिष्ट अनुभूति को सामान्य भाषा में प्रस्तुत करता है। सहृदय को विशेष का अनुभव करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, इसलिए विशेष को सहजतम भाषा में व्यक्त किया जाता है। सहज भाषा द्वारा सहृदय पाठक में साधारणीकरण होता है— इसका निर्देश अरस्तू के उपर्युक्त उदाहरण में मिलता है।

मानव - अन्तःकरण में निहित सुख - दुःख की विभिन्न भावधाराओं को, जीवन की संक्रान्तियों को, जीवन की विषमता को नाट्य - भाषा में स्वगत कथन के माध्यम से सहजतम ढंग से समझा जा सकता है। स्वगत कथन की एक निश्चित सीमा होनी चाहिए, जिससे पाठक को नीरसता और भाषा की शिथिलता का बोध न हो।

जीवन का अन्त दुःख से होता है, इसलिए त्रासदी का अन्त दुःखात्मक माना गया है। नियति सबके ऊपर होकर मनुष्य को नचाती है, उन्हें परेशान करती है और उसके कार्यों का कोई कारण होना आवश्यक नहीं है। इस परिस्थिति को बुद्धिगम्य और विश्वसनीय दिखाने के लिए अरस्तू ने " हमार्टिया " के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यही कारण है कि करुण एवं भव्यतर चित्रण को अरस्तू ने नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। करुण भावों का प्रभाव डालने के लिए यह दिखाना आवश्यक है कि पात्र ने कोई पाप किया है। पात्रों द्वारा किया गया पाप चरित्र - दोष या अज्ञान के कारण होता है। त्रासदी से प्रमाता पर जो प्रभाव (कष्ट या विपत्तियाँ) का पड़ता है वह भाषा की सर्जनात्मकता के कारण ही पड़ता है।

मनुष्य सामान्यतया दुर्बल हृदय का प्राणी है। जब वह सशक्त भाषा द्वारा वर्णित त्रासदी का श्रवण और प्रेक्षण करता है, तब उसके मन पर उसका रागात्मक प्रभाव पड़ता है और करुणा की चेतना उत्पन्न होती है। ऐसी मनःस्थिति में नैतिक क्षोभ और वितृष्णा से मन परिपूर्ण हो उठता है। भावों के शमन हो जाने से पाठक एक चमत्कारी प्रभाव अनुभव करता है। त्रासदी का उद्देश्य सर्जनात्मक भाषा द्वारा मात्र भावों को उद्वेलित करके छोड़ना नहीं है। ऐसी स्थिति में आनन्द की अनुभूति नहीं होगी। त्रासदी का पूर्ण आनन्द तो भावों के शमन होने में है। कोई भी त्रासदी— जिसमें

कलात्मक और सशक्त भाषा का प्रयोग हो—उसके श्रवण और प्रेक्षण से रागात्मक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है कि साहित्य अन्य कलाओं से श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें रचनाकार द्वारा भाषिक सजीवता लाने का प्रयास किया जाता है।

अरस्तू ने नाटक की भाषा में पद्य और सांगीतिक गीत को आवश्यक माना है। गीतों के माध्यम ही भाषा सशक्त बनती है और पाठक पर रागात्मक प्रभाव डालती है। अरस्तू ने नाट्य - भाषा में छन्द और अलंकार को आवश्यक नहीं माना। कथा-वस्तु की उदात्तता भाषा को सारगर्भित बनाती है। उसमें एक ऐसा गुण होता है, जिसमें गीति - तत्व, छन्द - विधान अपने उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित होते चलते हैं।

नाटक की भाषा के सन्दर्भ में— अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट भाषावैज्ञानिक विवेचन अभिप्रेत है— वर्ण, मात्रा, संयोजक शब्द, संज्ञा, क्रिया, विभक्ति या कारक, वाक्य अथवा पदोच्चय आदि भाषा के अंग हैं।

'वर्ण' एक अविभाज्य ध्वनि है। प्रत्येक ध्वनि वर्ण के अन्तर्गत नहीं आती। केवल वही ध्वनि वर्ण होती है, जो किसी सार्थक ध्वनि - समूह का अंग बनती है। अपवाद रूप में पशु का उच्चारण भी ध्वनि हो जाएगा, क्योंकि वह भी अविभाज्य रहता है। ध्वनि स्वर हो सकती है। अन्तःस्थ या स्पर्श हो सकती है। स्वर का उच्चारण ओष्ठ या जिह्वा के संसर्ग के बिना होता है। जैसे— ए, ए आदि। इस प्रकार के संसर्ग के बाद भी जिसकी अपनी ध्वनि नहीं होती, किन्तु स्वर के साथ संयुक्त हो जाने पर उसकी ध्वनि सुनायी पड़ती है— जैसे :— ग्, द् आदि।

'मात्रा' स्पर्श और स्वर से मिलकर बनी हुई अर्थहीन ध्वनि है। 'ग्र' बिना 'अ' के भी मात्रा है और 'अ' मिलाकर भी।

'संयोजक शब्द' वह है जो कई सार्थक ध्वनियों के समुदाय को एक सार्थक ध्वनि में परिणत करने की क्षमता रखता है— 'अम्फि', 'पेरि' आदि। यह वह अर्थहीन ध्वनि है, जो वाक्य के आदि, मध्य और अन्त को घोषित करती है, किन्तु आरम्भ में इसकी उपस्थिति शुद्ध नहीं मानी जाती।

'संज्ञा' संश्लिष्ट और सार्थक ध्वनि है, जो कालवाचक न हो और जिसका कोई

भी अवयव अपने - आप में सार्थक न हो। क्योंकि युग्म या समस्त पदों में हम उसके अवयवों का प्रयोग इस प्रकार नहीं करते— मानो वे अपने - आप में सार्थक हों— थेओदोरस (देव-दत्त) में ` दोरस ` (दान) का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है।

` क्रिया ` कालवाचक संश्लिष्ट और सार्थक ध्वनि है। संज्ञा की भांति इसका भी अवयव स्वयं में सार्थक नहीं होता। ` मनुष्य ` शब्द में काल का भाव निहित नहीं है। ` चलता है ` या ` चला ` क्रिया प्रयुक्त किये जाने पर ही काल का द्योतन होता है।

` विभक्ति ` संज्ञा और क्रिया दोनों में होती है। ` का, ` को ` का सम्बन्ध- एक या अनेक जैसे— ` मनुष्य ` या ` मनुष्यों ` को व्यक्त करती है। ` क्या वह गया ? ` और ` जाओ ` क्रियागत विकार हैं।

` वाक्य ` या पदोच्चय संश्लिष्ट और सार्थक ध्वनि होती है। इसके कुछ अवयव अपने - आप में सार्थक होते हैं। प्रत्येक वाक्य में क्रिया का होना आवश्यक नहीं। जैसे— ` मानव की परिभाषा। `

शब्द सरल तथा यौगिक दो प्रकार के होते हैं। सरल शब्द निरर्थक तत्वों से घटित होते हैं— जैसे — ` गि ` ` यौगिक ` या समस्त का तात्पर्य यह है जिसमें सार्थक और निरर्थक तत्वों का समावेश हो या दोनों शब्द सार्थक हों। इसमें तीन या चार या अनेक तत्वों से मिले हुए शब्द भी हो सकते हैं— हर्मों— काइकोक्सन्थस (पिता- घोस — उपासक)।

प्रचलित शब्द वह है, जो किसी अन्य देश में प्रयुक्त होता हो। एक शब्द प्रचलित और अप्रचलित दोनों हो सकता है, किन्तु एक ही प्रदेश के निवासियों के लिए नहीं।

नाटक में अभिधा द्वारा ही अपेक्षित अर्थ प्रकट नहीं होता। नाट्य - भाषा के सम्प्रेषण के अनेक माध्यमों में से अप्रस्तुत विधान भी है, जिसका महत्त्वपूर्ण विवेचन अरस्तू ने किया है। यहाँ अरस्तू भाषावैज्ञानिक पक्ष के साथ - साथ सर्जनात्मक पक्ष के विवेचन में प्रवृत्त होता है। ` लक्षणा ` किसी वस्तु पर इतर संज्ञा का आरोप है, जो जाति से प्रजाति, प्रजाति से जाति, प्रजाति से प्रजाति पर समानुपात के आधार पर हो सकता है। जाति से प्रजाति पर— ` जहाज खड़ा है ` — लंगर डालना भी खड़े रहने का उपभेद है। प्रजाति से जाति पर— ` ओडुसेउस ने वास्तव में सहस्त्रों सत्कृत्य किये हैं— सहस्त्रों विपुल

संख्या का उपभेद है। बड़ी संख्या का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग किया गया है। प्रजाति से प्रजाति पर— 'लोहे की तलवार के द्वारा प्राण खींच लिये' और 'कठोर लोहे के जहाज से पानी चीर डाला'— यहाँ 'खींच लेना' शब्द 'चीरने' और 'चीरना' शब्द खींच लेने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दोनों क्रियाएँ 'अपहरण' के ही उपभेद हैं। 'समानुपात' तब होता है, जब दूसरे शब्द का पहले से वही सम्बन्ध हो जो चौथे का तीसरे से। प्याले का दिओन्युसस[10] के लिए वही महत्त्व है, जो ढाल का आरेस[11] के लिए— तो प्याले को 'दिओन्युसस की ढाल' और ढाल को 'आरेस का प्याला' कहा जा सकता है।

अरस्तू ने भाषा में नवनिर्मित कलात्मक शब्द के प्रयोग पर बल दिया। नवनिर्मित शब्द से अभिप्राय यह है जिसका कभी स्थानीय प्रयोग तक न हुआ हो, पर जो रचनाकार की स्वतन्त्र कला का परिणाम हो। जैसे— 'सींगों' के लिए 'अंकुर' और 'पुरोहित' के लिए 'प्रार्थी' शब्द का प्रयोग नवीन है।

नाटक की भाषा के सन्दर्भ में अरस्तू का क्रमबद्ध विवेचन सूक्ष्म एवं स्पष्ट है। नाटक को काव्य - प्रकार मानकर अरस्तू ने पद्यात्मक भाषा के प्रयोग पर बल दिया। अरस्तू की भाषा विषयक मूल दृष्टि वर्गीय भेद पर आधारित थी। भाषा की सर्जनात्मकता कथा - वस्तु की उदात्तता पर निर्भर करती है। त्रासदी की कथावस्तु भव्य एवं उदात्त होती है, इसलिए उसमें सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग होता है, और कामदी की कथावस्तु निकृष्ट कोटि की रहती है, इसलिए उसमें भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः स्वतन्त्र विवेचन एवं सूक्ष्म चिन्तन के कारण अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' पाश्चात्य परम्परा का वाहक है।

नाटक की भाषा के सन्दर्भ में भरतमुनि और अरस्तू का दृष्टिकोण लगभग एक-सा प्रतीत होता है। कहने के ढंग में भले थोड़ा अन्तर हो, लेकिन दोनों का गन्तव्य मार्ग एक है। इस समानता को ए०बी० कीथ ने इन शब्दों में स्वीकार किया— 'भारतीय नाटक का यूनानी मूल सिद्ध करने के प्रयत्न के समकाल में ही अरस्तू के नाटक- सिद्धान्त के प्रति नाट्यशास्त्र की ऋणिता ग्रहण करने का प्रयत्न किया जाता।'[12]

भरत प्रतिपादित करुण रस की अरस्तू के त्रासद प्रभाव से पर्याप्त समानता दृष्टि-गोचर होती है। करुणा और त्रास त्रासद भाव के आधारभूत मनोवेग हैं। भारतीय

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। शोक के अन्तर्गत भी करुणा की प्रधानता रहती है, मृत्यु आदि के कारण इसमें त्रास का भी समावेश रहता है, अतः करुण रस के स्थायी भाव शोक में ही त्रास समाविष्ट है। भरत ने करुण रस को अन्य रसों के समकक्ष माना है, क्योंकि इसका भी आस्वादन अन्य रसों की भांति सुखात्मक होता है। त्रासदी में दुःख का समावेश रहता है, किन्तु कला में वास्तविक जीवन का यथातथ्य चित्रण न होकर कलात्मक चित्रण होता है, इसलिए सर्जनात्मक भाषा द्वारा त्रासदी का सम्प्रेषण भी सुखात्मक होता है। भरत और अरस्तू की नाट्य - भाषा विषयक दृष्टिकोण का यही केन्द्रबिन्दु है।

भरत और अरस्तू दोनों ने नाटक में सर्वजनसुलभ भाषा को स्वीकार किया। सहज और सशक्त भाषा के माध्यम से ही किसी एक रचनाकार की अनुभूति सार्वभौमिक बन जाती है। नाटक में प्रयुक्त लय और दृष्टि समन्वित भाषा के श्रवण से सम्पूर्ण भाव सम्प्रेषित हो जाते हैं। पाठकों की सुविधानुसार भाषा का प्रयोग नाटक में होना चाहिए।

नाटक की भाषा पद्यात्मक और अलंकार से युक्त होनी चाहिए। भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाटकों में इसकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। प्राचीन नाटक वस्तुतः पद्य है, इसलिए उसकी भाषा पद्य - भाषा की तरह होनी चाहिए, पर अभिनय - गुण के कारण ही यह सामान्य पद्य से भी अलग है।

भावों के सहज प्रवाह के लिए भरत और अरस्तू ने नाटक की भाषा में गीत को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। गीतों द्वारा भावों का प्रकाशन आसानी से हो जाता है। भरत और अरस्तू के गीत सम्बन्धी अवधारणा में अन्तर केवल इतना है कि अरस्तू ने सामूहिक गीत के प्रयोग पर बल दिया, जबकि भरत ने व्यक्तिगत गीत को स्वीकार किया।

भरत और अरस्तू के नाट्य - भाषा सम्बन्धी मन्तव्य में कुछ असमानताओं का भी दिग्दर्शन होता है।

प्राचीन सन्दर्भों, रीति - नीति, जाति - पद, सम्बोधन और वार्तालाप सम्बन्धी प्राचीन मर्यादा का निर्वाह करते समय भरतमुनि का भाषा विषयक दृष्टिकोण अधिक श्रेणीबद्ध और ब्यौरों से युक्त हो गया है। अरस्तू के नाट्य - भाषा सम्बन्धी

विवेचन में भाषा की वर्गीयता का आग्रह न होकर कथानक की वर्गीयता पर आग्रह है।

कथावस्तु तथा चरित्र - चित्रण जो पश्चिमी नाटकों में सर्वस्व माना जाता था, भारतीय ` नाट्यशास्त्र ` में रस से गौण होते थे और उसके साधन माने जाते थे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यहां चरित्र - चित्रण उपेक्षित था, बल्कि नाटक की भाषा रस में निहित थी।

भारतीय नाटक का प्रयोजन सर्जनात्मक भाषा द्वारा संघर्षों का शमन करना है, पाश्चात्त्य नाटकों के समान संघर्षों की वृद्धि से पाठक को अधिक उद्विग्न अवस्था में ला देना नहीं है। भाषा द्वारा नाटक का भावन होता है ऐसा भरत ने माना। रस का आधार रागात्मक है, जबकि ` त्रासदी ` के ` विरेचन सिद्धान्त ` में कल्पना और ज्ञान तत्त्व की प्रधानता होती है।

अरस्तू ने नाटक की भाषा के लिए छन्द को आवश्यक नहीं माना, जबकि भरत ने उसके सविस्तार प्रयोग पर बल दिया।

नाटक के प्रति अरस्तू का दृष्टिकोण वस्तुवादी रहा, जबकि भरतमुनि का भाववादी। ऐसा नहीं है कि वस्तु और भाव के अन्तर्गत भाषा का समावेश नहीं, वस्तुवादी धारणा में कथानक से भाषा है, न कि भाषा से कथानक। भाववादी अवधारणा में रस के अन्तर्गत ही भाषा प्रतिष्ठित रहती है।

त्रासदी में गीत को एक प्रकार के ` आभरण ` के रूप में स्वीकार किया गया है। अरस्तू ने वृन्दगान को आवश्यक माना। ` नाट्यशास्त्र ` में भावों के सहज प्रवाह के लिए ही गीतों के प्रयोग पर बल दिया गया। भरत ने नृत्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, जबकि अरस्तू की दृष्टि में नृत्य का कोई स्थान नहीं है।

भरत ने नाट्य - भाषा के विभिन्न पक्षों का विभाजन एवं वर्गीकरण किया है, और मात्र विभाजन ही नहीं किया, बल्कि उसके प्रयोग पर भी बल दिया है। यही कारण है कि यह वर्गीकरण तत्कालीन नाटकों (बालरामायण, मृच्छकटिका)में प्रयुक्त होता था। अरस्तू में विभाजनीय चुनावों की कम सम्भावना है। अतः अरस्तू के नियम बंधे छोर वाले हैं, जबकि भरत के भाषिक नियम खुले छोर वाले हैं।

`नाट्यशास्त्र` में भाषा की सृजनशीलता के लिए हर क्षेत्र से शब्द ग्रहण करने की मन्त्रणा है, चाहे वह वृत्ति हो, चाहे रस हो, चाहे अभिनय हो । अरस्तू के नाटक में कथीय भेद पर जोर है, नाटक की भाषा में नहीं ।

भरत - प्रणीत `नाट्यशास्त्र` में नाट्य - भाषा के सन्दर्भ में जो सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है, वह अरस्तू के `काव्यशास्त्र` में नहीं है, किन्तु अरस्तू के सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन को नकारा नहीं जा सकता । अरस्तू का नाट्य - भाषा विषयक दृष्टिकोण बिजली के एक झटके - सा है, जो तुरन्त मस्तिष्क को झंकृत कर फिर शान्त कर देता है । अन्तर यही है कि इसमें सशक्त भाषा द्वारा भावों का उद्वेलन और शमन होता है और यह सुखानुभूति से संश्लिष्ट है । दोनों विद्वानों के विचारों में सादृश्य अधिक है, अतः गन्तव्य मार्ग एक है । भरतमुनि ने `नाट्यशास्त्र` के माध्यम से और अरस्तू ने `काव्यशास्त्र` और `राजनीतिशास्त्र` में नाटक की भाषा के जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया है वह भारतीय और पाश्चात्य परम्परा का वाहक होने के कारण तुलना की दृष्टि से स्पृहणीय है ।

।। स न्द र्भ ।।

१- डॉ० सियाराम तिवारी : काव्यभाषा : पृष्ठ - ६

२- भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : अध्याय - १

नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।।

३- - वही - अध्याय - १७

४- - वही - अध्याय - १८

५- - वही - अध्याय - २२

सर्वेणामेव काव्यानां वृत्ती मातृका : स्मृता

६- (अनु०) डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र : पृष्ठ - ६५

७- - वही - पृष्ठ - ३० - ३१

८- - वही - पृष्ठ - ४४

९- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : सर्जन और भाषिक संरचना : पृष्ठ - १८

१०- डॉ० नगेन्द्र : काव्यशास्त्र : दि ओन्युसस, जेउस और सेमेले का पुत्र ; मद्य का यूनानी देवता

११- - वही - पृष्ठ - ५२ - ५३, आरेस : प्राचीन यूनानियों का युद्ध देवता

१२- ए० बी० कीथ (अनु०) डा० उदयभानु सिंह : संस्कृत नाटक, पृष्ठ - ३८१

तृतीय अध्याय

॥ दर्शनात्मक भाषा का प्रस्तुतीकरण नाटक में रंगमंच पर ॥

नाटक की सफलता की कसौटी रंगमंच है, क्योंकि रंगमंच पर ही वह सम्पूर्ण रूप में सामने आता है। वास्तव में रंगमंच नाटककार के मस्तिष्क की उपज है, जो नाटक की परिकल्पना का प्रथम सूत्रधार होता है। नाटक के सशक्त भाषा-विधान से उसे रंगमंचीय आयाम प्राप्त होता है। ऐसी प्रक्रिया में नाट्य भाषा दोहरे दायित्व का वहन करती है। नाटक की अर्थवत्ता के लिए जितना पद - बंध, वाक्य विन्यास आवश्यक होता है, उतना रंगमंच के लिए रंग निर्देश, अभिनेता की आंगिक चेष्टा, हाव - भाव , स्वर शैली, लय भी। वाकर के शब्दों में— "भाषा रंगमंच में— केवल शाब्दिक भाषा नहीं है। नाटककार को संवाद कार्य, रचनात्मक और क्रियात्मक शैली तथा लिये गये विचार के विशिष्ट अंश के सन्दर्भ में सोचना चाहिए, जिससे कि उसके प्रयोग द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके।"[१] नाटककार की कल्पना दर्शकों तक रंगमंच के माध्यम से सम्प्रेषित होती है। इस प्रमुख विशेषता के कारण नाटक उपन्यास, कहानी, कविता आदि विधाओं से अपना अलग अस्तित्व प्रतिस्थापित करता है। नाटक का सर्वोत्कृष्ट रूप रोनाल्ड पीकॉक के शब्दों में निहित है— "पढ़ने के लिए भाषिक निर्मिति कम से कम आधुनिक उपन्यास, मंच पर देखे गये नाटक से इतना भिन्न है कि एक ही कला की दो उपजातियाँ मानने के बजाय इन्हें दो अलग - अलग कलायें मानने के लिए विवश होना पड़ता है।" नाटककार की परिकल्पना दर्शकों तक किस सीमा तक सम्प्रेषित होती है, यह उसकी भाषा योजना पर निर्भर करता है।

प्राचीन नाटककीतुलना में आधुनिक नाटक को रखकर देखा जाय तो एक लम्बी दूरी प्रतीत होती है। इसके मूल में है प्राचीन नाटकों में साहित्यिक कोटि की काव्यात्मक भाषा, अलंकरण एवं संस्कृतनिष्ठ शब्दावली तथा आदर्श मनोभाव। इन नाटकों में बोलचाल की भाषा का संस्पर्श नाम मात्र को न था, यद्यपि समाज के हर वर्ग के बोलने के लिए अलग - अलग भाषा - स्तरों का विधान किया गया था। आधुनिक नाटक की भाषा बोलचाल की भाषा से पूर्णतया अनुप्राणित है। यद्यपि प्रत्येक रचना अपने समय एवं परिस्थितियों से प्रभावित होती है, किन्तु उसमें

अनुभूति की अद्वितीयता और वास्तविकता कितनी है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक नाटक में सच्ची अनुभूति जीवन्त और सार्थक भाषा की तलाश करती है और सर्जन भी। बोलचाल की शब्दावली का प्रतिनिधि रूप आधुनिक नाटकों में द्रष्टव्य है।

इस भाषा में आधुनिक नाटक के प्रणेता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं, जिन्होंने यथार्थवादी नाटक की विभिन्न आवश्यकताओं का अनुभव किया और उसे सर्जनात्मक धरातल प्रदान किया। भारतेन्दु जैसे सर्जक ने नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध को सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं पहचाना, बल्कि उसे व्यवहार में कार्यान्वित किया। यही कारण है कि नाट्य मण्डली की स्थापना, अभिनेता और निर्देशक के रूप में सक्रियता भारतेन्दु व्यक्तित्व के आन्दोलक रूप का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। ऐसा रचनाकार जो नयी नाट्य परम्परा, भिन्न नाट्य शिल्प और हिन्दी रंगमंच के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए प्रयत्नशील है उसमें नाट्य भाषा के प्रति जागरूकता रहेगी इसमें कोई सन्देह नहीं।

किसी भी नाटक के अभिनेय होने की सफलता का रहस्य सुस्पष्ट एवं बोधगम्य संवाद है। यही प्रमुख कारण है कि नाटक की सर्जनात्मक भाषा को रंगमंच से अलग करके नहीं देखा जा सकता। "अन्धेर नगरी" (१८८१ ई०) इस दृष्टि से खरा उतरता है। इसमें प्रयुक्त वाक्य विन्यास में अभिनय की गतिशीलता, मुद्रा एवं स्वर के आरोह - अवरोह और स्तरात्मक अर्थ की विभिन्न सम्भावनायें निहित हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० गिरीश रस्तोगी का अभिमत उल्लेखनीय है— "भारतेन्दु के पास विलक्षण रंग व्यक्तित्व, अद्भुत संवेदनशीलता और संगठन शक्ति थी। सांकेतिकता, प्रतीक, लोकतत्त्व, संगीत, लय, व्यंग्य — आज के रंग नाटक के ये सारे पक्ष उनके नाटकों में मौजूद हैं इसीलिए उनके नाटक अपने ताने - बाने में बड़े लचीले हैं और किसी भी शैली में ढाले जाने की सम्भावनायें उनमें हैं। उनका "अन्धेर नगरी" इस दृष्टि से सबसे अधिक सफल, सम्भावनापूर्ण लचीला नाटक है जो आधुनिक सन्दर्भ में भी उतना ही नया, ताजा और प्रासंगिक दीखता है।"[3] "अन्धेर नगरी" की भाषा में वाक्यों की परिवर्तनशीलता अभिनयात्मक लोच का परिचायक होने के साथ लयात्मक सौन्दर्य का बोधक है। सीधे एक जैसे सकारात्मक वाक्य में बोलचाल की मुखर वृत्ति कम, रटे - रटाये भाषण की प्रवृत्ति अधिक रहती है। भारतेन्दु ने प्रत्येक पात्र के संवादों को नयी भंगिमा देकर उसकी अर्थधारा को तीव्रता प्रदान की है।

'अन्धेर नगरी' की भाषा अपने में इतनी सक्षम है कि इसका मंचन करते समय निर्देशक को किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती। सत्यव्रत सिन्हा ने इस नाटक को भाषा में बिना परिवर्तन किये रंगमंच पर साकार किया और उस पर समकालीन परिस्थितियों का प्रत्यारोपण किया। कारंत ने कथागान शैली और कोरस को लेकर सशक्त अभिनय किया, जिसमें व्यंजनात्मक भाषा मानवीय करुणा और नियति से संश्लिष्ट हुई। कोरस और लोक शैली का सशक्त प्रयोग भारतेन्दु की लोक-दृष्टि का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

भारतेन्दु की खड़ी बोली में ब्रजभाषा के तेवर का सुन्दर मिश्रण है। यद्यपि 'अन्धेर-नगरी' की भाषा एक विचित्र प्रकार के समन्वय का परिणाम है, पर यह पारसी थियेटर के अधिक निकट है। पारसी थियेटर का प्रभाव नाट्य भाषा पर पड़ना स्वाभाविक है क्योंकि नाटक और रंगमंच का घनिष्ट सम्बन्ध है। विभिन्न परम्पराओं का समन्वय भाषा की सर्जनात्मकता का कारण बनता है। यह पुनरुत्थान काल की प्रमुख विशेषता है। गोबर्द्धनदास को फाँसी पर चढ़ाये जाने के लिए प्यादों द्वारा पकड़े जाने की क्रिया अत्यधिक जीवन्त बन पड़ी है, जिसके मूल में है - उसकी करुणाजनक सहज पुकार—

'अरे! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फ़कीर को बचावे। गुरु जी! कहाँ हो? बचाओ गुरु जी - गुरुजी - (रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं।)' [4]

(गुरु जी और नारायणदास आते हैं)

रंगमंच पर गुरुजी का अकस्मात् आगमन और गोबर्द्धनदास को अपनी सूझ-बूझ से बचा लेने की प्रक्रिया में पारसी थियेटर का प्रत्यक्ष प्रभाव है। सामान्य पारसी थियेटर में तड़क-भड़क वाले संवादों की योजना की जाती थी जो दर्शकों को आश्चर्य-चकित करने में सफलता प्राप्त करती थी। 'अन्धेर नगरी' की भाषा में इन संवादों को स्वाभाविकता प्रदान की गई है और यही गुण उसे मौलिक बना देता है। 'बचाओ' शब्द और 'गुरुजी' सम्बोधन की पुनरावृत्ति दर्शक की कौतूहल वृत्ति में अवरोध नहीं उत्पन्न करती, बल्कि उसे बढ़ाती है। ये शब्द पात्रों की उत्तेजना को तीक्ष्णता प्रदान करते हैं और अपेक्षित अर्थ का समग्र सम्प्रेषण भी।

संवादों की रचना धर्मिता में वाग्व्यवहार के विविध रूपों की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वाग्व्यवहार में सम्बोधन के शब्द, सूचनात्मक शब्द, अनुनय - विनय और शारीरिक क्रिया (हरकत) दोनों मिलकर सर्जनात्मक क्षमता का विकास करते हैं। भारतेन्दु की संवाद कला में सम्बोधनमूलक शब्दों का कुशल प्रयोग हुआ है। इस कुशल प्रयोग से पात्रों में पारस्परिकता की वृद्धि होती है और अभिनय की नयी भंगिमाओं के द्वार खुल जाते हैं।

` अन्धेर नगरी ` में ऐसे वाक्यांश - जो क्रियाविहीन हैं - का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है। क्रिया रहित वाक्य - विधान कहीं से अपूर्ण नहीं प्रतीत होते। इस प्रकार की भाषा संरचना रंगमंच पर जितना बोलचाल की भाषा (जैसे पात्र एक दूसरे से वार्तालाप कर रहे हों) का अहसास कराती है उतना अर्थ की क्रियाशीलता का भी । इसके कुछ अंश उद्धृत हैं—

` गोबर्द्धनदास : क्यों भाई बणिये , आटा कितणे सेर ?

बनिया : टके सेर

गोबर्द्धनदास : औ चावल ?

बनियां : टके सेर

गोबर्द्धनदास : औ चीनी ?

बनियां : टके सेर

गोबर्द्धनदास : औ घी ?

बनियां : टके सेर

गोबर्द्धनदास : सब टके सेर । सचमुच `[5]

` अन्धेर नगरी ` की सर्वप्रमुख विशेषता है पात्रानुकूल भाषा का सशक्त प्रयोग। पात्रानुकूल भाषा की अभिव्यक्ति उच्चारणानुकूल है। पात्र जिस योग्य है उसी भाषा का प्रयोग करता है, जिससे उसकी योग्यता का परिज्ञान अपने आप दर्शक को होता है ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का नाटक ` बकरी ` सन् (१९७४) समकालीन है, पर प्रकृति से ` अन्धेर नगरी ` के सदृश । यदि ` अन्धेर नगरी ` की तरह ` बकरी ` का शिल्प लोचपूर्ण है तो उसकी भाषा भी । इसके मूल में है इन दोनों नाटकों का

पारसी थियेटर के शैलीगत प्रवाह में आबद्ध होना । ' अन्धेर नगरी ' और ' बकरी ' दोनों व्यंग्य प्रधान नाटक हैं और उस व्यंग्य को अधिक तीखा बनाने के लिए पारसी रंगमंच और पुरानी नौटंकी की लोकप्रिय ध्वनियों का सशक्त प्रयोग है । भारतेन्दु और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की नाट्य भाषा में लयात्मक योजना का केन्द्रीय स्थान है—

' बकरी को क्या पता था मशक बन के रहेगी

अपने खिलाये फूलों से भी कुछ न कहेगी ।

उसके ही खूं के रंग से इतरायेगा गुलाब

है उसकी मौत जागती हर दिल अज़ीज़ ख्वाब । ' [६]

' अन्धेर नगरी ' और ' बकरी ' की लयात्मकता का उत्स है—तुकान्तप्रियता तुकान्त पंक्तियाँ व्यंग्य को तीक्ष्णता प्रदान करती हैं जिससे सामाजिक कटुता सम्प्रेषणा में सम्प्रेषित होती है । ' बकरी ' की उपर्युक्त उद्धृत पंक्तियाँ ' अन्धेर नगरी ' की उद्धृत पंक्तियों के काफ़ी निकट है—

' वेश्या जोरू एक समाना । बकरी गऊ एक करि जाना ।।

साँचे मारे मारे डोलैं । छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं ।। ' [७]

बोलचाल की भाषा में जिस तरह भारतेन्दु की अनुभूति साकार हुई है उसी तरह सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की भी । बोलचाल की लोक भाषा का मुखर रूप द्रष्टव्य है—

' दूसरा ग्रामीण : अरे । भगवान के नांव ले लिहिन तो काव करित ? कहिन, बकरी नाय है, देवी है, देवी का मान होवै के चाहीं, अब हम का कहित देवी का मान न होय ?

युवक : हमारा ही जूता हमारे ही सिर ?

एक ग्रामीण : अरे अब कौन प्रपंच करै, ऊ कहिन देवी है हम मान लिहा ।

युवक : प्रपंच उन्होंने किया या आपने ?

दूसरा ग्रामीण : उनका प्रपंच ऊ जानैं, भगवान जानैं । भगवान उनका देखि हैं ।

युवक : भगवान, भगवान । बस उसी की वजह से यह हालत है हमारी । ' [८]

' अन्धेर नगरी ' में प्रयुक्त पात्रानुकूल भाषा से पूर्णतया प्रभावित है ' बकरी ' की भाषा । युवक अन्य ग्रामीण जनता से अलग है— शिक्षित होने के कारण । यही

कारण है कि उसकी भाषा खड़ी बोली है, जो उसके शिक्षित होने का अहसास कराती है। ` अन्धेर नगरी ` की तरह ` बकरी ` की भाषा में देस, परदेस, आसरम, काच, सुक्ख जैसे तद्भव एवं देशज शब्द प्रयुक्त हैं। शब्दों की पुनरावृत्ति नाटक की शिल्पगत उन्मुक्तता को उद्भाषित करती है, जिसके कारण वह सार्वजनीन बनता है।

यथार्थ का समग्र सम्प्रेषण आधुनिक नाटक का विशेष गुण है। इस प्रेषणीयता के लिए ` अन्धेर नगरी ` में जहाँ शाब्दिक भाषा का सहारा लिया गया है वहीं ` बकरी ` में मौन और हरकत का। मौन की मुखर प्रवृत्ति और हरकत की भाषा सर्जनशील भाषा का विकसित रूप प्रस्तुत करती है। हरकत की भाषा का जीवन्त प्रयोग द्रष्टव्य है—

` ग्रामीणों का मुँह लटकाये मंच पर प्रवेश। सब चुपचाप आकर खड़े हो जाते हैं। विपती : ( कातर दृष्टि से देखती है। कोई उससे आँख नहीं मिलाता। ) तुम सब कसाई हो। ` ९

` बकरी ` की भाषिक प्रक्रिया में बिम्ब की क्षमता सूक्ष्म अनुभूतियों को बड़ी सूक्ष्मता से सम्प्रेषित करती है। यों तो अनुभव सम्प्रेषण में प्रतीक - योजना का कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं। पर बिम्ब की मुख्य प्रक्रिया दृश्य तत्वों को केवल उभारती नहीं वरन् गतिशील भाव को अर्थ की द्वन्द्वात्मक शक्ति से परिचालित करती है और सम्प्रेषित भी—

` दो ही नियम हैं, दाँत तेज और मजबूत हों, घास हरी और कोमल हो, फिर धरती चारागाह से ज्यादा कुछ नहीं हो पायेगी। शुरू कीजिए, इस जनता, इस चारागाह के नाम पर ---` १०

भारतेन्दु और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की नाट्य भाषा का परीक्षण करते समय इस बात पर दृष्टि केन्द्रित होती है कि पात्रानुकूल भाषा, तद्भव एवं देशज ठेठ शब्दावली की दृष्टि से उनकी भाषा एक तरह की है। भारतेन्दु और सर्वेश्वर की भाषा में यदि नवीनता है तो संस्कृत परम्पराओं के प्रति आदर और विनम्रता भी। ` अन्धेर नगरी ` और ` बकरी ` दोनों नाटकों के आरम्भ में मंगलाचरण की योजना रचनाकार की आस्तिकता का परिचायक है।

नाट्य भाषा का संप्रेषणीय आयाम प्रसाद को भारतेन्दु के निकट लाता है।

यद्यपि कुछ लोगों ने प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता से इन्कार कर दिया है, जिनमें सर्वप्रथम बाबू गुलाब राय और शान्तिप्रसाद द्विवेदी का नाम लिया जा सकता है। डॉ० बच्चन सिंह का मत इसके प्रतिकूल है—" प्रसाद के नाटकों में जो गाम्भीर्य आया है उसके मूल में रंगमंच की अवहेलना का बहुत कुछ योग है।"[११] डॉ० दशरथ ओझा की दृष्टि सूक्ष्म है—" प्रसाद की भाषा उन्हें दुर्बोध जान पड़ती है जो साहित्यिक भाषा को नाटक के अनुपयुक्त समझते हैं।"[१२] यद्यपि प्रसाद ने रंगमंच की महत्ता को नाटक के बाद स्वीकार किया, किन्तु ऐसा नहीं है कि रंगमंच के विकास के लिए वह चिन्तित नहीं थे। रंगमंच के ह्रास का कटु अनुभव प्रस्तुत है इन शब्दों में—" हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तब सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया; फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं सा हो गया --- रंगमंच की तो हिन्दी में अकाल मृत्यु दिखाई पड़ रही है।"[१३]

इस कटु अनुभव का ही परिणाम है कि प्रसाद के नाटक पर पारसी थियेटर का प्रभाव है और यह प्रभाव भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यभाषा में सामन्जस्य दृष्टिगत कराता है। जैसे " अन्धेर नगरी " में महन्त अचानक आकर अपने शिष्य गोवर्द्धनदास को फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से बचा लेता है उसी प्रकार " स्कन्दगुप्त " के तृतीय अंक का दूसरा दृश्य है जहाँ स्कन्द, देवसेना की बलि के लिए तैयार प्रपंचबुद्धि को अप्रत्याशित ढंग से आकर रोकता है। तृतीय अंक का अन्त भी इस सन्दर्भ में स्मरणीय है जहाँ कुभा में जल के बढ़ने से सैनिकों का बहना दिखाया जाता है। इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण दृश्यों की योजना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद अपने नाटक में पारसी थियेटर की अवहेलना नहीं कर सके हैं। " स्कन्दगुप्त " में पारसी थियेटर का विकसित रूप है क्योंकि इसका मूल विषय है समय की सापेक्षता में राष्ट्र के अन्दर पुनरुत्थान की चेतना जागृत करना। इसी के समानान्तर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में पुनरुत्थान की भावना और राष्ट्रीय चेतना पर काव्यात्मक और बिम्बात्मक भाषा का आवरण चढ़ा दिया। उदात्त भाषा होने के बावजूद प्रसाद की नाट्य भाषा में भाषा का सर्जनात्मक रूप कहीं से विच्छिन्न नहीं, वरन् इस बार नाट्य भाषा की शक्ति अधिक मजबूत हो गई। अतः प्रसाद की नाट्य भाषा सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि रूप है। " स्कन्दगुप्त " की भाषा में जिन विभिन्न भंगिमाओं और अर्थ-क्षमता का विकास हुआ है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने भारतेन्दु की भाषा— जिसमें शब्दों के प्रयोग घिस चुके थे—को

आगे बढ़ाया । अर्थ की अनन्त सम्भावना शब्दों के सुसंगत प्रयोग में निहित है । यही कारण है कि शब्दों की महत्ता हमेशा उसके अन्दर विद्यमान रहती है जबकि शब्द- प्रयोग में ऐसी बात नहीं ।

भारतेन्दु की अपेक्षा प्रसाद की नाट्य भाषा उनकी अतिरिक्त सजगता का परिणाम है । वस्तुतः ऐतिहासिक नाटक की भाषा ऐतिहासिक वातावरण में आबद्ध होकर सामान्य भाषा से अलग , उदात्त हो जाती है । ऐतिहासिक चरित्र के समानान्तर भाषा अब साहित्यिक और अलंकरण प्रधान हो जाती है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बिम्ब और अलंकार प्रधान हो जाते हैं और बोलचाल की भाषा गौण । पर ऐसा नहीं कि प्रसाद बोलचाल की शब्दावली का प्रयोग नहीं कर सकते थे । ` स्कन्दगुप्त ` में बोलचाल की शब्दावली का प्रयोग भारतेन्दु की भाषा से किसी प्रकार कम समृद्ध नहीं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है प्रस्तुत उद्धरण—

` भटार्क : कौन ?
शर्वनाग : नायक शर्वनाग ।
भटार्क : कितने सैनिक हैं ?
शर्वनाग : पूरा एक गुल्म ।
भटार्क : अन्तःपुर से कोई आज्ञा मिली है ?
शर्वनाग : नहीं ।
भटार्क : तुमको मेरे साथ चलना होगा ।
शर्वनाग : मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ ?` १४

यह ठीक है कि आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेन्दु की भाषा प्रकृति प्रसाद में शमित हुई और उनकी भाषा उदात्त है । पर भारतेन्दु की तरह प्रसाद ने भी पात्रानुकूल भाषा प्रयोग पर विशेष बल दिया है । भारतेन्दु के नाटक में पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग उच्चारण के स्तर पर किया गया है जबकि प्रसाद के नाटक में ऐसी बात नहीं । पर पात्रानुकूल भाषा की महत्ता दोनों ने स्वीकार की है । ` स्कन्दगुप्त ` में दार्शनिक और काव्यमय पात्रों की भाषा गम्भीर और सैनिक कोटि के (शर्वनाग, भटार्क,कमला) पात्रों की भाषा सामान्य शब्दावली से युक्त है । भाषा की सरलता और क्लिष्टता पात्रों के अनुकूल है ।

स्वगत कथन की दृष्टि से भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यभाषा में साम्य है ।

'अन्धेर नगरी' के पाँचवें दृश्य में गोवर्द्धनदास का संवाद स्वगत कथन है। 'स्कन्दगुप्त' में स्वगत कथन का विकसित रूप देखा जा सकता है, जो अर्थ क्षमता की दृष्टि से सम्पन्न है। गम्भीर, दार्शनिक और एकाकी प्रकृति वाले पात्रों की मनःस्थिति स्वगत कथन में साकार हुई है। जहाँ स्वगत कथन अर्थ - क्षमता में वृद्धि करते हैं वहीं नाटक की घटना को बढ़ाकर दर्शक की कौतूहल वृत्ति को शान्त करते हैं।

इस प्रसंग में यह पुनः उल्लेखनीय है कि अधिक साहित्यिक होने के बावजूद प्रसाद की भाषा में तर्कनात्मक क्षमता उत्तरोत्तर विकसित होती गई। यदि तत्कालीन जीवन जटिल है तो भाषा भी संश्लिष्ट होती गई है। 'अन्धेर नगरी' की खड़ी बोली में ब्रजभाषा (आकारान्त, औकारान्त और वकारान्त) की छाप है और प्रसाद की भाषा काव्यात्मक है। 'अन्धेर नगरी' की भाषा में तद्भव, देशज एवं शुद्ध खड़ी बोली पर आधारित ठेठ शब्दों की प्रधानता है जबकि 'स्कन्दगुप्त' की भाषा संस्कृत के तत्सम, अर्द्धतत्सम शब्दों से युक्त। ऐसे शब्दों का प्रयोग परिवेश निरूपण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और अर्थ समृद्धि की दृष्टि से भी। पर अर्थ सम्प्रेषण की दृष्टि से दोनों इतने सक्षम हैं कि यह सक्षमता ही अन्य भाषिक अन्तरों को दबा देती है।

वस्तु और संवेदना पर भाषा का अनुशासन यदि प्रसाद में है तो भारतेन्दु में भी। राष्ट्रीय चेतना के उत्थान को दोनों ने अपना विषय बनाया। राष्ट्रीय चेतना, उदात्त भाषा, ऐतिहासिक व्यक्तित्व एवं परिस्थितियाँ प्रसाद की नाट्य भाषा में जैसे परस्पर संश्लिष्ट हो गए। ऐसे में बिम्ब प्रधान संश्लिष्ट काव्य भाषा की उद्भावना हुई। यों तो भाषिक प्रक्रिया में बिम्ब की क्षमता जटिल अनुभूतियों की सूक्ष्म अभिव्यंजना में देखी जा सकती है, पर उसकी वास्तविक क्षमता सौन्दर्य चित्रण में है। बिम्बात्मक भाषा जटिल और गतिशील भाव को संचालित करती है— अर्थ की द्वन्द्वात्मक शक्ति से। यहीं से प्रसाद अपना विशिष्ट स्थान बना लेते हैं।

प्रसाद की नाट्य भाषा अपने प्रतिनिधि रूप में तन्मयता के अनुभव को विकसनशील बनाती है। यह तन्मयता किसी भी तरह की हो सकती है— राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना तथा प्रेमी-प्रेमिका की। तनाव यदि समकालीन सामाजिक जीवन में था तो उनकी भाषा में भी। नाट्य भाषा की विभिन्न भंगिमाओं के मूल में यह तनाव है। प्रसाद की भाषा अपने परिष्कृत शब्द चयन, बिम्ब और लय के सौजन्य से निर्मित काव्यात्मक भाषा

और मुहाविरों के प्रयोग से अपना विशेष स्थान बनाती है। यद्यपि मुहाविरों में रचनाकार की रचनात्मक सम्भावना अधिक नहीं रहती, पर उसके सुसंगत प्रयोग में अर्थ की विशेष स्थिति अवश्य मूर्त होती है। भाषा की इस विशिष्ट प्रक्रिया में तन्मयता की मनःस्थिति विकसित होती है। भारतेन्दु की भाषा में तनाव है, जो व्यंग्य में देखा जा सकता है, किन्तु तन्मयता नहीं। इस तन्मयता के कारण प्रसाद की नाट्य भाषा में नयी चेतना जागृत हुई।

प्रसाद द्वारा संवालित भाषा में तन्मयता की स्थिति डॉ० रामकुमार वर्मा की नाट्यभाषा में देखी जा सकती है। ऐसी भाषिक संरचना में रामकुमार वर्मा केवल परंपरित नाट्य भाषा से ही सम्बद्ध नहीं रहे, बल्कि उससे एक दृष्टि ग्रहण करके अपनी रचनात्मक क्षमता के अनुसार जन जीवन से जुड़ गए। नाट्य भाषा के रूप में विकसित होता हुआ बिम्बप्रधान काव्यात्मक भाषा का अनोखापन इन दोनों रचनाकारों में विद्यमान है। लय और बिम्ब सम्बन्धी संवेदनशीलता पूरे नाटक में कोमलता और तन्मयता का सूक्ष्म वातावरण परिव्याप्त करती है। यह संवेदनशील भाषा दोनों की अलग - अलग पहचान कराती है।

यद्यपि रामकुमार वर्मा समकालीन नाटककार हैं, पर उनकी नाट्यभाषा की प्रकृति प्रसाद के अनुकूल है। `औरंगजेब की आखिरी रात` (सन् १९४६) में ऐतिहासिक पात्र को कल्पनात्मक भावभूमि पर सर्जनात्मकता प्रदान की गई है, जिसका रंगमंच की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। सभी में अर्थ क्षमता को प्रवाहित करने की चिन्ता है— चाहे वह वेशभूषा हो या प्रकाश योजना। जिस तरह प्रसाद की नाट्यभाषा इतिहास का बोध कराने के साथ - साथ अतीत और वर्तमान के अन्तर को पाटती है उसी तरह रामकुमार वर्मा की नाट्यभाषा भी। इन दोनों रचनाकारों ने ऐतिहासिक रचनाकार के नियमों का पालन किया है - इतिहास और कल्पना के सुन्दर समन्वय द्वारा। `स्कन्दगुप्त` में आदर्श है, जिसके लिए उसी प्रकार की उदात्त भाषा की योजना की गई है, `औरंगजेब की आखिरी रात` में आदर्श है, किन्तु वास्तविकता की उत्प्रेरणा भर के लिए। पात्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आबद्ध होकर रचनाकार की सजीव कल्पना भाषा को वास्तविकता से जोड़ देती है, जिससे प्रसाद की तुलना में तनाव की स्थिति अधिक स्वाभाविक बन जाती है। ऐतिहासिक चरित्र में मानव जीवन की इच्छाओं का घात -प्रतिघात

यदि प्रसाद देखते हैं तो रामकुमार वर्मा भी ।

ऐतिहासिक वातावरण को बनाये रखने के लिए रामकुमार वर्मा की चिन्ता प्रसाद के समान है । उसके लिए ` स्कन्दगुप्त ` में तत्सम और अर्द्ध तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है और ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में उर्दू शब्दावली का । उर्दू शब्दावली का सहज प्रयोग और सम्बोधन मुगलकालीन वातावरण का अहसास कराता है । जहाँ उर्दू शब्दावली में अर्थ क्षमता उसके सीधे प्रयोग के बीच से व्युत्पन्न होती है, वहीं प्रसाद की नाट्य भाषा में वह लाक्षणिक विधान या बिम्ब प्रक्रिया में से उदित होती है । हाँ, दोनों में एक गुण समान अवश्य है और वह है ऐतिहासिक परिवेश को निर्मित करने के लिए उस समय के शब्द - शब्दांशों का अधिक दक्ष और सार्थक प्रयोग ।

प्रसाद और रामकुमार वर्मा दोनों अपने - अपने समय के कवि हैं । इसके मूल में छायावादी कविता और आधुनिक कविता की विश्लेषण दृष्टि नहीं है, बल्कि नाट्य-भाषा पर काव्य प्रतिभा के प्रभाव की तरफ संकेत है । ` स्कन्दगुप्त ` और ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` दोनों नाटकों की भाषा में इस कवि व्यक्तित्व की छाप है । कवि व्यक्तित्व और नाटककार व्यक्तित्व का सामन्जस्य स्थापित करने में दोनों सिद्धहस्त रहे हैं । ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में वास्तविक अर्थ क्षमता बिम्ब योजना में हुई है, जिसकी उद्भावना पात्रों की बेचैनी से होती है—

` जिस तरह सुबह होने से पहले रात और भी सुनसान और ख़ामोश हो जाती है,उसी तरह मौत से पहले हमारी सारी - सारी शिकायतों का शोर ख़ामोश हो गया है । ` १५

बोलचाल की सामान्य शब्दावली रामकुमार वर्मा की बिम्ब योजना को अत्यधिक सहज बना देती है, जिसमें उर्दू शब्दावली का गुणात्मक महत्व है । ` स्कन्दगुप्त ` में बिम्ब की संश्लेषणात्मक स्थिति भाषा को क्लिष्ट बना देती है, जीवन जटिल और संघर्षमय हो जाने के कारण, जबकि ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में बोलचाल की शब्दावली सहज बिम्ब का निरूपण करती है—

` हमें ख़ुशी होगी अगर हमारी क़ब्र पर कुदरती सब्ज़ मलमल की चादर बिछी होगी । ` १६

` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में प्रयुक्त हरकत द्वारा अर्थ का सन्निवेश हुआ है ।

आलमगीर के सामने कोने की तरफ सोने के पिंजड़े में कैद पक्षी द्वारा पंख फड़फड़ाया जाना, एक तरह से परतन्त्रता को अभिव्यंजित करता है। इस परतन्त्रता को स्वतन्त्रता में बदलने के लिए दोनों अपने ढंग से संघर्षरत हैं।

ऐतिहासिक भाव भूमि से सम्बन्धित होने के कारण सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'नायक खलनायक विदूषक ' (सन् १९७२) की भाषा में वह तनाव है जो ' औरंगज़ेब की आखिरी रात ' में है। यह बात अलग है कि दोनों की कथावस्तु इतिहास के अलग-अलग काल[illegible] विकसित होती है— पहले की गुप्तकाल के अनुसार तो दूसरे की मु[illegible] के अनुसार। पर महत्वपूर्ण बात यहाँ यह है कि दोनों रचनाकारों ने ऐतिहासि[illegible] चरित्र में तनाव कहाँ और कितना देखा है और नाट्य भाषा में उस तनाव को कितना जीवन्त बनाया है। रामकुमार वर्मा इस तनाव को ऐतिहासिक चरित्र में प्रयुक्त करके उसे आधुनिक संवेदना में सम्पन्न करते हैं तो सुरेन्द्र वर्मा ऐतिहासिक चरित्र को समकालीन समस्या से जोड़ते हैं। ऐतिहासिक चरित्र और समकालीन समस्या दोनों के सानुपातिक सामन्जस्य का आधार बोलचाल की सर्जनात्मक भाषा है—

" एक कारण तो यही है कि इस पात्र से मैं बुरी तरह ऊब चुका हूँ। भूमिका एक ऐसा मोदक है, जिसे मैंने सैकड़ों बार निगला है, लेकिन जो बार-बार मेरे सामने आ जाता है— वही रूप, वही आकार, वही गन्ध, वही स्वाद।" १७

यहाँ तन्मयता की वह स्थिति नहीं जो " स्कन्दगुप्त " और " औरंगज़ेब की आखिरी रात " में मिलती है। इसके मूल में है समकालीन जीवन की ऊब और खीझ।

" संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम के प्रयोग की दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा प्रसाद के निकट हैं। यह दृष्टि [illegible] प्रधान सहज भाषा की ओर पर्यवसित हुई है जिसका परिणाम है— जन जीवन से अधिक सीमा तक जुड़ना।

जिस तरह प्रसाद और [illegible] वर्मा ऐतिहासिक परिवेश को रूपायित करने के लिए सजग दृष्टि अपनाते हैं उसी तरह सुरेन्द्र वर्मा भी। " नायक खलनायक विदूषक की सर्जनात्मक भाषा ऐतिहासिक परिवेश को आद्योपान्त कायम रखती है—

" हाँ, ठीक है, लेकिन इस बात का ध्यान रखिये कि सेनापति शक्तिभद्र का आसन

महाराज के आसन के बिल्कुल समान हो— स्वर्ण और रत्नों से जड़ा हुआ, उतना ही ऊँचा और भव्य, उस पर रेशमी आस्तरण और तोषक, उसके भी आगे पैर रखने के लिए हेमपीठ ।` १८

वस्तुतः आधुनिक नाटक में प्रसाद, रामकुमार वर्मा और सुरेन्द्र वर्मा की भाषा में साम्य की स्थिति बहुत कुछ उनकी पात्रानुकूल भाषा के कारण है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ` नायक खलनायक विदूषक ` है। पात्रानुकूल भाषा अर्थ में प्रवाह और जीवन्तता उत्पन्न करती है उसे नष्ट नहीं करती। पात्रानुकूल भाषा के प्रति सजग दृष्टि प्रस्तुत उद्धरण में देखी जा सकती है—

` नहीं बँधी, लेकिन कलावती पात्रानुकूल तो होनी चाहिए। तुम राजरानी की प्रसाधन कुशल, गजगामिनी नहीं, आश्रम की निर्दोष वन कन्या हो। ---- चलो इसे बदल कर आओ।` १९

` नायक खलनायक विदूषक ` में रचनाकार पात्रानुकूल भाषा की तरफ विशेष जागरूक रहा है— चाहे वह वेशभूषा और शृंगार सम्बन्धी हो या भाषा सम्बन्धी । यह व्यापक दृष्टि नाटक और रंगमंच के प्रगाढ़ सम्बन्ध को प्रस्तुत करती है तथा नाट्य-भाषा के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

प्रसाद की उदात्त भाषा और रामकुमार वर्मा की काव्यात्मक भाषा जहाँ यथार्थ को कुछ अतिरंजित बना देती है वहीं सुरेन्द्र वर्मा की सहज बिम्बात्मक भाषा यथार्थ को अधिक रोचक बना देती है। यद्यपि प्रसाद और रामकुमार वर्मा ने अपनी नाट्य भाषा में जितना बिम्ब का प्रयोग किया है उतना सुरेन्द्र वर्मा ने नहीं। पर उनकी भाषा क्षमता के सन्दर्भ में जो कुछ है वह पर्याप्त है।

एकरसता की ऊब से बचने के लिए ` नायक खलनायक विदूषक ` में विभिन्न भंगिमाएँ हैं, जिनमें मौन की मुखर प्रवृत्ति का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं। यह नाट्य भाषा की सर्जनात्मक क्षमता में अभिवृद्धि करती है उसे बाधित नहीं करती।

` पहला राजा ` में इतिहास और पुराण से सामग्री ग्रहण कर, समकालीन समस्याओं का प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है। ` स्कन्दगुप्त ` ` औरंगजेब की आखिरी रात, ` ` नायक खलनायक विदूषक ` में जैसे सर्जनात्मक भाषा अतीत और

वर्तमान के अन्तर को पाटती है उसी तरह ` पहला राजा ` की भाषा भी । यद्यपि परिवेश को लेकर जगदीशचन्द्र माथुर की भाषा प्रयोग धर्मिता उतनी जटिल नहीं है,अन्य ऐतिहासिक नाटककारों की तरह । इसका कारण है ` पहला राजा ` में इतिहास, पुराण और यथार्थ का सम्मिलित रूप । पर इसमें परिवेश की अवहेलना भी नहीं है । ` पहला राजा ` में परिवेश निरूपण की इस दृष्टि को संस्कृत शब्दावली के प्रयोग में देखा जा सकता है, जो कथ्य के अनुरूप है । संस्कृत शब्दावली का प्रयोग कथ्य के अनुरूप और बोलचाल की उर्दू शब्दावली से प्रभावित होने के कारण जगदीशचन्द्र माथुर में प्रसाद की तरह परिवेश रूपायन के लिए अतिरिक्त मोह दृष्टिगोचर नहीं होता और यही दृष्टि नाटक को जन जीवन से अधिक जोड़ती है । उर्दू शब्दावली—खुशामद , तारीफ़ , मातम, खतरनाक, बेरहम, जिम्मेदारी, मुलाकात, रोज़मर्रा, ग़ायब, तादाद, बेसमां, बेताब , असलियत, तदबीर, नाकाफी, कामयाब, पर्दाफ़ाश, गजब, अम्बार, आसार, ज़ाहिर—का सुसंगत प्रयोग जगदीशचन्द्र माथुर को रामकुमार वर्मा के समकक्ष लाता है । ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में यदि उर्दू शब्द भाषा की सर्जनात्मक क्षमता के विकास के सूचक हैं तो ` पहला राजा ` में भी ।

आधुनिक हिन्दी नाट्य भाषा के विकास क्रम में जगदीशचन्द्र माथुर का महत्वपूर्ण योगदान है, जिसका मुख्य स्रोत प्रसाद भाषा है । नूतन शब्दावली, सशक्त अर्थवत्ता, रागात्मकता, साज - सज्जा, प्रसाद की नाट्य भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ हैं और यही सांस्कारिक प्रभाव जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य भाषा का विकास स्रोत बन जाता है । विकास स्रोत का तात्पर्य यहाँ उस भाषा से है, जिसमें रचनाकार अपने समय की प्रचलित बोलचाल की सामान्य भाषा से प्रभावित होता है और उसके सामान्य व्याकरण और शब्दावली को स्वीकार कर अपनी अभिव्यक्ति को सर्जनात्मक बनाता है । भाषा का यह रूप उसके लिए परम्परा से सुलभ बन पाता है । पर परम्परा के अनुकरण मात्र से कोई भी सर्जक अपने रचनात्मक दायित्व से मुक्त नहीं हो जाता । यहाँ से उसके रचनात्मक कर्म की शुरुआत होती है । भाषा के इस व्यापक प्रचलित रूप में उसका विशिष्ट अनुभव साकार होता है, और इसके लिए वह नवीन शब्द प्रयोग, प्रतीक, बिम्ब विधान आदि का सहारा लेता है । यहाँ नाटककारों की नाट्य भाषा के व्याकरणिक पक्ष की तुलना करना इष्ट नहीं है, बल्कि भाषा की विशिष्ट सर्जनात्मक शक्ति का विश्लेषण

अभीष्ट है। ऐतिहासिक नाटक में प्रयुक्त काव्यात्मक भाषा जैसे अर्थ क्षमता को समृद्ध बनाती है उसी तरह ` पहला राजा ` में प्रयुक्त काव्यात्मक भाषा भी। वहीं से तन्मयता का अनुभव विकसित होता है—

` तुम्हारा यह राशि - राशि वैभव, अर्चि। --- एक ही स्पर्श में युगों का आमंत्रण। --- और यह स्पर्श। --- यह तुम्हारी देह का सागर --- और मैं हूँ कि गहराइयों में खो जाता हूँ --- और सागर की तलहटी मिलती ही नहीं --- मिलती ही नहीं --- ।` २०

प्रसाद की बिम्बप्रियता जहाँ प्रकृति के रमणीय उपादानों में प्रतिबिम्बित हुई है वहीं माथुर का बिम्बविधान दैनिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली भौतिक वस्तुओं के बीच से पल्लवित होता है—

` प्याज की गाँठ छीलते में जैसे एक के बाद एक पर्त निकलता जाता है, ऐसे ही पृथु के सामने समस्यायें उभरती जाती हैं।` २१

बिम्बविधान की इस प्रक्रिया में माथुर की यह नीति जन जीवन की प्रकृति में ढल कर विशेष रूप से प्रीतिकर लगती है—

` सोने की थाली और ये दमकती कटोरियाँ
भरा है जिनमें लबालब रस का सागर---
पर कोई आता नहीं, आता नहीं
रस का लालची छूता नहीं। ---` २२

ऐसा नहीं है कि माथुर ने प्राकृतिक उपादानों को बिम्ब विधान का आधार नहीं बनाया है। ऐसा बिम्ब विधान प्रसाद और रामकुमार वर्मा की नाट्य भाषा का स्मरण कराता है—

` नीला था आसमान, नीला वितान
नील सरोवर में खिली अजान —
अनदेखी सोनजुही।
नशीली थी आँख, रंगों की पाँख
नाहक किसी ने दिया ढाँक—
अनदेखी सोनजुही।` २३

अनुभव के विशिष्ट मार्ग में भाषा संस्कार का केन्द्रीय स्थान है, जहाँ से गहन अनुभूति संचालित होती है। भाषा की इस संरचना में सभी एक दूसरे से प्रभावित होते हैं— चाहे वह ऐतिहासिक रचनाकार हो, पौराणिक रचनाकार हो या यथार्थवादी रचनाकार हो। भारतेन्दु, प्रसाद जहाँ अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों के अनुसार पात्रानुकूल भाषा पर बल देते हैं तो माथुर अपने पूर्ववर्ती कलाकार की पात्रानुकूल भाषा से अनुप्राणित हैं। `पहला राजा` की पात्रानुकूल भाषा इसका साक्ष्य रूप प्रस्तुत करती है।

`पहला राजा` में प्रयुक्त देशज और तद्भव शब्दों — टोह, बयार, झकोरा, ठठरी का प्रयोग किया गया है। `ठठरी` और `ठीकरा` जैसे शब्दों का प्रयोग प्रसाद ने भी किया है। आधुनिक हिन्दी नाटक की भाषा में विभिन्न भंगिमाओं का प्रयोग किया गया है, जिससे भाषा की सर्जनात्मक क्षमता क्रमशः विकसित होती गई है। पर, सबसे अधिक विकसित है— बोलचाल की सर्जनात्मक भाषा। बोलचाल की भाषा में समकालीन तनाव को सम्प्रेषित करने की जितनी क्षमता है, उतनी (क्लिष्ट) साहित्यिक भाषा में नहीं।

यद्यपि काल - क्रम की दृष्टि से भुवनेश्वर रामकुमार वर्मा और माथुर के समकालीन हैं, पर अपनी प्रकृति से समकालीन नाटककारों की अगणी श्रेणी में। `ताँबे के कीड़े` और `ऊसर` का रचनाकाल सन् १९४६ है। इन नाटकों की प्रकृति अलग है इसलिए रामकुमार वर्मा, सुरेन्द्र वर्मा और जगदीशचन्द्र माथुर के बाद इनका विवेचन किया जा रहा है। काल क्रम में प्रसाद के बाद होने के कारण भुवनेश्वर की नाट्य भाषा की समता उनके पूर्ववर्तियों की नाट्य भाषा से करना अपेक्षित है न कि बाद के। भुवनेश्वर जन जीवन की प्रचलित भाषा को नयी अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, जहाँ कथित भाषा और हरकत की भाषा एकमेक हो जाती है। इस सन्दर्भ में यह कहना कि असंगत नाटककारों ने पारम्परिक नाट्य भाषा का बहिष्कार किया है, संगत नहीं। भारतेन्दु और प्रसाद ने भी बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया, किन्तु सीमित दायरे में। भुवनेश्वर ने बोलचाल की भाषा को अपने सर्जन का एक मात्र आधार बनाया और नाट्य भाषा की क्षमता को विकसित किया।

भुवनेश्वर ने बोलचाल की भाषा, जिसमें बिम्ब और हरकत की प्रधानता थी, को जीवन्त बनाया। नाटक को जीवन्त बनाने की यह सजग दृष्टि सभी स्थितियों में देखी

जा सकती है— चाहे वह परिवेश निर्माण से सम्बन्धित हो या तनावपूर्ण स्थितियों के चित्रण से सम्बन्धित हो । ' ताँबे के कीड़े ' में फुनफुना लिए हुए आउन्सर (स्त्री) और बाहर से पात्रों की आवाजें एक पूरे नाटकीय परिवेश को निर्मित करती हैं । अतः परिवेश के लिए जितने चिन्तित प्रसाद थे उतने भुवनेश्वर भी । यह बात अलग है कि ' स्कन्दगुप्त ' और ' ताँबे के कीड़े ' की प्रकृति अलग है । पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सभी नाटकों की भाषा में तारतम्य है, जिसके कारण भाषिक क्षमता में निरन्तर विकास होता गया है ।

जिस तरह प्रसाद ने ' स्कन्दगुप्त ' में तत्कालीन जटिल परिस्थितियों को तनावपूर्ण भाषा में साकार करने की कोशिश की उसी तरह भुवनेश्वर ने भी । पर समकालीन तनाव का मूर्त रूप भुवनेश्वर की बोलचाल प्रधान बिम्बात्मक भाषा प्रस्तुत करती है—

' मैं थका अफसर हूँ (ऊँघा हुआ सा) मैं बहुत थक गया हूँ । अंधे कुएँ--- मैं जैसे एक - एक करके चीजें जमा हो जाती हैं । कुएँ की ओर --- मरी हुई सूखी बिल्ली- बैबी का जाँघिया टूटा कनस्टर वैसे ही— वैसे ही थकान मेरे अन्दर जमा हो गई है । एक अपराध और थकान ।' २४

प्रतीक और बिम्बात्मक भाषा में सर्जनात्मक क्षमता की वृद्धि प्रसाद के ' स्कन्दगुप्त ' से ही देखी जाती रही है, जिसके महत्व को भुवनेश्वर ने अपनी नाट्य-भाषा के तहत स्वीकार किया । प्रसाद ने बिम्ब - विधान के लिए कुछ विशेष शब्दावली को स्वीकार किया है जबकि भुवनेश्वर बिम्ब के लिए बोलचाल की शब्दावली को अधिक उपयुक्त समझते हैं, जिसमें अनुभूति सम्प्रेषण की सशक्त क्षमता है—

' हम खयालात पैदा करते हैं । (फुनफुना हिलाकर) जो समय और ऋतुओं का दर्पण दमकते हुए हीरों की तरह काट देते हैं । खयालात जो वीरान सड़कों पर छिपे हुए जालों की तरह बिछे रहते हैं (फुनफुना) हम मृत्यु को निरूपर कर देते हैं । ' २५

यथार्थवादी (ऊसर, अण्डे के छिलके) घटना प्रधान (हानूश) और ऐतिहासिक नाटकों में रचनाकार परिवेश, समकालीन तनाव, एवं जीवन के विरोधाभासों को प्रतिबिम्बित करने के लिए भाषा पर पूर्णतया अवलम्बित रहता है, किन्तु एकाएक

नाट्य भाषा की प्रकृति ऐसी नहीं । एब्सर्ड नाटककारों की भाषा प्रकृति मितव्ययी है इसीलिए उनके नाटकों में कोई स्थान अर्थक्षमता की दृष्टि से रिक्त नहीं— चाहे वह मौन हो, वाक्यों के बीच का अन्तराल हो या रुकत हो । यही मुख्य कारण है— एब्सर्ड नाटक की भाषा में उत्तरोत्तर विकसित होती गई सर्जनात्मक क्षमता का ।

नाट्य भाषा तथा अनुभव में समरूपता को अधिक से अधिक विकसित करने का श्रेय विपिनकुमार अग्रवाल को है । इन्होंने भुवनेश्वर की नाट्य भाषा में निहित अनन्त अर्थ - शक्ति और सम्भावना को पहचाना और उसे प्रसरित किया । भाषा से अनुभव के साकार और प्रशस्त होने की स्थिति ' तीन अपाहिज ' (सन् १९६३) में देखी जा सकती है । भाषा और अनुभूति में एकता की भावभूमि पर आरूढ़ होकर समकालीन नाटककार की मौन की ओर उन्मुखता स्वाभाविक है । अर्थ की अनन्त सम्भावना के कारण मौन की महत्ता को विपिनकुमार अग्रवाल ने पहचाना और मौन के भाव को कारुणिक रूप में ही नहीं, वरन् उसे आक्रोशविहीन और व्यंजनात्मक रूप में ग्रहण किया । भुवनेश्वर ने मौन को तनाव के रूप में अधिक ग्रहण किया । प्राचीन हिन्दी एवं संस्कृत नाटकों में भाषा की सामान्य भंगिमा अतिशयोक्ति की मानी जाती है । उसके बीच समकालीन नाटकों का मितकथन जितनी सीमा तक प्रीतिकर है उतनी सीमा तक आश्चर्यजनक भी । ' लोटे के कीड़े ' और ' तीन अपाहिज ' की मुख्य वस्तु यही है — [illegible] के समक्ष मौन की सार्थकता । तभी तो एब्सर्ड नाटक एक ऐसे दर्शक की अपेक्षा करता है जो टूटे फूटे संवादों, बेमेल— चरित्रों, अव्यवस्थित बिम्बात्मक वस्तुओं को कल्पना से जोड़कर अवसरानुकूल अर्थ निकाल सके । समकालीन नाटक में मौन एक ओर अनुभव का गहन रूप है तो दूसरी ओर नाट्य भाषा की दृष्टि से मितकथन ।

' तीन अपाहिज ' अपने सीमित दायरे में भाषा योजना की दृष्टि से सैम्युअल बैकेट के ' वेटिंग फ़ॉर गोदो ' के निकट है । भाषा संरचना की समानता प्रस्तुत संवादों में देखने योग्य है—

' कल्लू : (उठने का उपक्रम करते हुए) चलो ।
  लल्लू : चलो क्या ? कैसे चलें ?
  कल्लू : (झींककर उठना बन्द करता है ।) उठकर ।
  लल्लू : हाँ, उठकर । (और आराम से बैठ जाता है ।)

गल्लू : (लेटते हुए) कहाँ ?` २६

` पोजो : बताओ ।

ब्लाडिमीर : इसकी मदद ही क्यों न करें ?

एस्त्रागो : क्या चाहता है ?

ब्लाडिमीर : उठना चाहता है ।

एस्त्रागो : तो फिर उठता क्यों नहीं ?

ब्लाडिमीर : चाहता है हम उसे उठायें ।` २७

यहाँ संवादों में क्रियाशीलता है, पर पात्रों में निष्क्रियता । विगलित समाज की मूल्यहीनता और अर्थहीनता का अहसास कराने में संवादों की लय अधिकतम अंश तक मदद करती है ।

भुवनेश्वर ने ` ताँबे के कीड़े ` में जिस तरह भुनभुने वाली अनाउन्सर के द्वारा परिवेश का उद्घाटन किया है उसी तरह विपिनकुमार अग्रवाल ने तीन अपाहिज ` में कल्लू, लल्लू, गल्लू की निष्क्रियता द्वारा । तीनों पात्रों के तीन तरह बैठने से नाटकीय वातावरण आप से आप व्याप्त हो जाता है । अतः इस नाटक की भाषा योजना जैसे अतिरंजित नहीं वैसे मंचीय विधान भी अतिरंजित नहीं । यही कारण है उसकी सफल अभिनेयता का । ` तीन अपाहिज ` का अनेक बार मंचन और उसकी सफलता का प्रामाणिक महत्त्व है । सत्यव्रत सिन्हा का अभिमत है— ` वस्तुतः यह अद्भुत सत्य है कि आधुनिक नाटककार मंच के माध्यम से ही नाटककार है, अन्य कोई माध्यम उसके लिए सम्भवतः हो ही नहीं सकता ।` २८

समकालीन जीवन के तनावों की पकड़ ` आधे - अधूरे ` (सन् १९६९) में है । ये तनाव बोलचाल की भाषा में साकार बन सके हैं । चाहे रंगमंच पर प्रयुक्त दृश्य वस्तु हो, मौन हो या हरकत सभी में अर्थ वैभव की तलाश है । भाषा और हरकत का सानुपातिक प्रयोग यदि भुवनेश्वर और विपिन ने किया है तो मोहन राकेश ने भी ।
मोहन राकेश अपनी नाट्यभाषा में स्वरात्मक एवं अवसरानुकूल अर्थ के लिए बराबर सजग दीखते हैं और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है । यह सफलता रंगमंच के लिए महत्त्वपूर्ण बन जाती है, क्योंकि नाटककार यदि नाटकीय परिकल्पना की भाषा में

मूर्तबद्ध करता है, तो निर्देशक अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक को सार्थक दिशा निर्दिष्ट करता है। पर नाटक को रंगमंच पर सजीव बनाने की क्षमता सर्जनात्मक भाषा में होती है। इस सन्दर्भ में ओम शिवपुरी की धारणा स्मरणीय है— " एक निर्देशक की दृष्टि से ` आधे अधूरे ` मुझे समकालीन जिन्दगी का पहला सार्थक हिन्दी नाटक लगता है। यह मौजूदा जीवन की विडम्बना के कुछेक सघन बिन्दुओं को रेखांकित करता है। इसके पात्र, स्थितियाँ एवं मनःस्थितियाँ यथार्थपरक तथा विश्वसनीय हैं। इसकी गठन सुदृढ़ तथा रंगोपयुक्त है। पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान रंगक्रियाओं की दृष्टि से भली-भाँति संयोजित हैं। पूरे नाटक की अवधारणा के पीछे सूक्ष्म रंगचेतना निहित है।" २९

समकालीन नाटक की भाषा में प्रतीक और बिम्ब क्रमशः भाषा के सामान्य रूप में परिवर्तित होते जाते हैं। भुवनेश्वर ने इसकी शुरुआत बहुत पहले कर दी थी। ` आधे अधूरे ` में ऐसे प्रतीकों का विकसित रूप देखा जा सकता है, जो पूर्णतया बोलचाल की भाषा पर अवलम्बित हैं। बिम्ब और प्रतीकों में अर्थ की धारा तीव्र गति से प्रवाहित होती है। कमरे के तीन दरवाजे उन तीन पुरुषों के प्रतीक हैं जिनसे सावित्री अधिक संघर्षमय जीवन व्यतीत कर रही है। कैंची की ` चक चक ` ध्वनि अर्थ की दृष्टि से सम्पन्न है। तसवीरें कतरता अशोक उद्देश्यहीन भटकते युवकों का प्रतिनिधित्व करता है। यह ध्वनि विखण्डित मानव मूल्यों का प्रतीक है, जिसके कारण समाज दिग्भ्रमित हो रहा है। कमरे की बिखरी वस्तुएँ अव्यवस्थित जिन्दगी को चरितार्थ करती हैं। सिंघानिया द्वारा पूछे गये प्रश्नों का प्रत्युत्तर अशोक कीड़े मसलकर दे देता है। वास्तव में यह अपने समय का पहला नाटक है, जिसमें प्रतीक, बिम्ब एवं हरकत की भाषा अत्यधिक सर्जनात्मक बन पड़ी है।

समकालीन नाटक में नाटककार प्रतीक के लिए किसी निश्चित सीमा में आबद्ध नहीं, न भाषा और न तो वस्तु से। प्रतीकों के लिए उसे सुन्दर वस्तु जितनी प्रीतिकर है उतनी ही कुरूप। वस्तु का महत्त्व अधिक नहीं, महत्त्वपूर्ण है उसमें अर्थ की सघनता। मुद्राराक्षस ऐसे नाटककार हैं जिन्हें प्रतीक विशेष रूप से प्रिय रहा है। इसका प्रामाणिक रूप ` तिलचट्टा ` (सन् १९७३) है। तिलचट्टा, कुत्ता, साइरन, घड़ी (जिसका शीशा कोने से चटका है और नौ के अंक पर रेडियम झड़ चुका है) बकरे की बोली बोलने

वाला आदमी, इन प्रतीकों के प्रति अतिरिक्त मोह नाटक की रंगमंचीय सफलता में अवरोधक बन जाता है। इनमें सबसे प्रभावशाली प्रतीक "तिलचट्टा" है जो सड़न-सीलन, गन्दगी, अँधेरे और यौन कुंठाओं को ध्वनित करता है। "तिलचट्टा" में बोलचाल की भाषा का प्रयोग उन्मुक्त भाव से किया गया है।

हरकत की भाषा को विकसित करने में "तिलचट्टा" का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं। हरकत के द्वारा इस नाटक में अतिनाटकीयता का संचरण हुआ है। कुर्सी का भौंकना, काले आदमी द्वारा बकरे की बोली बोलना ये सभी हरकतें सामाजिक विसंगतियों की बढ़ती शक्ति को उद्घाटित करती हैं।

नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी लक्ष्मीनारायण लाल ने नाटक के लिए रंगमंच की महत्ता को सक्रिय रूप में स्वीकार किया। "रंगमंच और नाटक की भूमिका" में उनका रंगमंच सम्बन्धी दृष्टिकोण देखा जा सकता है— "रंगमंच का रूप अन्वेषण और उसका अर्थ गौरव जीवन की ही भाँति है। वह अपने अतल में जितना गहन और अमूर्त है, भौतिक धरातल पर उतना ही मूर्त और विराट् है। जितना ही वह एक ओर आदिम सनातन है, उतना ही वह गत्यात्मक और युग सापेक्ष्य है।" ३० दृष्टि की यह सजगता नाटक की सार्थकता का कारण है। नाट्यभाषा की गत्यात्मक चेतना "व्यक्तिगत" (सन् १९७५) में मिलती है, जिसमें बोलचाल की भाषा का सफल निर्वाह हुआ है। उसकी सफलता का साक्ष्य है एम० के० रैना की विचारधारा— "निर्देश नहीं थे। इसीलिए "व्यक्तिगत" के लिखित शब्दों ने मुझे मंच पर दृश्य बिम्बों की रचना की ओर सहज ही प्रेरित किया। आकार को साकार करना जिसे कहते हैं कुछ वैसा ही भाव मुझे मिला इसकी निर्देशन— प्रक्रिया में।" ३१

"व्यक्तिगत" में "मैं" चरित्र के द्वारा स्वातन्त्र्योत्तर पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियों के विघटन को बिम्बित किया गया है, जिसकी नियति हमेशा तड़पने की रही है। "वह" समाज का प्रतीकात्मक रूप है और "मैं" उसे उपभोक्ता से अधिक कुछ नहीं समझता। बोलचाल की सहज भाषा में ये प्रतीक अन्यमनस्कता और अन्तर्द्वन्द्व को सम्प्रेषित करते हैं।

दृश्य - बिम्बों और प्रतीकों की दृष्टि से सम्पन्न है मोहन राकेश का पार्श्व नाटक "छतरियाँ" (सन् १९७३)। यदि इस नाटक की भाषा समकालीन अन्य नाट्यभाषा

की लीक से हटकर है, तो रंगमंच के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग भी । कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और संवाद विहीन नेपथ्य की ध्वनियों द्वारा इसमें अर्थ सम्प्रेषण की सशक्त क्षमता है । `छतरियाँ` में प्रयुक्त एक - एक शब्द कहीं अलग से नहीं लाये गये हैं, बल्कि प्रचलित शब्दों के वजनदार प्रयोग हैं । एक - एक शब्द में तीक्ष्ण धारा है, जिसके द्वारा अर्थ क्रियाशील होता है । रंगमंच और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है इसे मोहन राकेश ने स्वीकार किया है और उनका पालन भी— ` रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है । इस भूमिका का निर्वाह माध्यम की सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है, उनके अतिरिक्त तथा अपेक्षित प्रयोग से नहीं । शब्दों की बाढ़ से, या बिना नाटकीय प्रयोजन के प्रयुक्त शब्दों से, रंगसिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ - साथ उस बिम्ब से संयोजित रहने की सम्भावना भी शब्दों में होनी आवश्यक है ।` ३२

मोहन राकेश में, बड़े संयत रूप से ही सही, नाट्य भाषा का अभिजात रूप है । फिर यह अभिजात्य प्रायः उतना है जितना सामान्य जन जीवन में प्रचलित है—

` संकट का अर्थ है मूल्यों को लेकर उठते प्रश्न । (प्रतिध्वनियाँ : प्रश्न प्रश्न प्रश्न) प्रश्नों का अर्थ है विचारों की महामारी (प्रतिध्वनियाँ : महामारी महामारी महामारी) महामारी का अर्थ है मनुष्यता से हटता मनुष्य - जीवन । (प्रतिध्वनियाँ मनुष्य - जीवन मनुष्य - जीवन मनुष्य - जीवन) और मनुष्य - जीवन का अर्थ है ----` ३३

आधुनिक नाटककार अपनी प्रयोग वृत्ति के कारण भाषिक स्तर पर या तो पूरी तरह सफलता हासिल करता है या फिर अपनी प्रकृति से प्रयोगशील कुछ अधिक बन जाता है । पर दोनों रूपों में भाषा की सर्जनात्मक क्षमता क्षरित नहीं होती । यह बात अलग है एक में ज्यादा होती है तो दूसरे में कम ।

लोक नाटक में भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का विकसनशील रूप नहीं मिलता । लोक नाटक की भाषा किसी बोली विशेष से प्रभावित होती है । बोली में सर्जनात्मक शक्ति कम होती है, क्योंकि उसका व्यवहार उच्च बौद्धिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में कम होता है । आधुनिक नाटक की भाषा में सर्जनात्मक क्षमता के विकास से जो अन्तर आया है उसके मूल में भाषा प्रयोग - विधि है । अन्य (ऐतिहासिक, पौराणिक, अतीत) नाटकों में नाटककारों की व्यक्तिगत प्रतिभा भाषा की सर्जनात्मक क्षमता का अधिकतम

विकास करती है, जबकि लोकनाटक का नाटककार मूलतः साधारण भाषा को हल्की सर्जनात्मक शक्ति के स्पर्श के साथ प्रयुक्त करता है । लोकनाटक का वास्तविक रस इसलिए उसके सामूहिक गायन या पाठ में होता है । बोली की उन्मुक्त प्रकृति को उसके सामान्य दैनन्दिन रूप में हल्की सी सर्जनात्मक शक्ति के साथ लोकनायक सरस बना देता है । इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भाषा - रूप सदैव भाषा की एक स्थिति में स्थिर रहे यह आवश्यक नहीं ।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में नाट्य भाषा बोलचाल की भाषा से दूर थी— क्रमशः यह दूरी कम होती गई । पर आधुनिक काल में नाट्यभाषा के बोलचाल की भाषा के निकट आ जाने पर भी, दोनों में पूर्णरूप से साम्य है यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि नाट्य भाषा और व्यावहारिक बोलचाल की भाषा में गुणात्मक अन्तर होता है । नाटककार बोलचाल की शब्दावली का प्रयोग अपने ढंग से सुझाव और सर्जनात्मक रूप में करता है । अतः भाषा प्रयोग - विधि सर्जनात्मक धारा को प्रभावित करती और रखती है ।

।। सन्दर्भ ।।

१- बार्कर : आन पोयट्री एन ड्रामा : पृष्ठ-१६ - १७ (द एलिमेण्ट्स आफ ड्रामा में पृष्ठ- २८ पर उद्धृत)

२- रोनाल्ड पीकाक : द आर्ट आफ ड्रामा : पृष्ठ-१०४ (रंगमंच : एक माध्यम से पृष्ठ - २८)

३- डॉ० गिरीश रस्तोगी : समकालीन हिन्दी नाटककार : पृष्ठ-६

४- (सं०) शिवप्रसाद मिश्र (' रुद्र ' काशिकेय) भारतेन्दु ग्रन्थावली (अन्धेर नगरी) : पृष्ठ-१८२

५- - वही - पृष्ठ- १७१

६- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ-६०

७- (सं०) शिवप्रसाद मिश्र (' रुद्र ' काशिकेय) भारतेन्दु ग्रन्थावली (अन्धेर नगरी) : पृष्ठ - १७६

८- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ- ३२ - ३३

९- - वही - पृष्ठ - ५६

१०- - वही - पृष्ठ - ६१

११- डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृष्ठ - ६२

१२- डॉ० दशरथ ओझा : नाट्य निबन्ध : पृष्ठ - ४७

१३- जयशंकरप्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृष्ठ-१०४

१४- - वही - : स्कन्दगुप्त : प्रथम अंक : पृष्ठ - २२

१५- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजत रश्मि : पृष्ठ - १३३

१६- - वही - पृष्ठ - १४०

१७- सुरेन्द्र वर्मा : तीन नाटक : पृष्ठ - ६४

१८- - वही - पृष्ठ - ४५

१९- - वही - पृष्ठ - ५२

२०- जगदीशचन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक दो : पृष्ठ - ५८

२१ - - वही - अंक एक : पृष्ठ - ८८

२२ - - वही - अंक एक : पृष्ठ - ३६

२३- - वही - अंक तीन : पृष्ठ : ८५

२४- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १६१

२५- - वही - पृष्ठ - १५८

२६- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - ११

२७- सैम्युअल बैकेट : (रूपान्तरण कृष्ण - बलदेव वैद) गोडो के
इन्तज़ार में : अंक दो : पृष्ठ-१२५

२८- डॉ० सत्यव्रत सिन्हा : नवरंग : भूमिका : पृष्ठ - २१

२९- (सं०) इब्राहिम अल्काज़ी : आज के रंग नाटक : पृष्ठ - ३४५

३०- डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : रंगमंच और नाटक की भूमिका : पृष्ठ - १०

३१- एम० के० रैना : व्यक्तिगत : (निर्देशक की बात) : पृष्ठ - ६

३२- मोहन राकेश : नटरंग : अंक १८ जनवरी - मार्च १९७२ (रंगमंच और शब्द)
पृष्ठ - २६

३३- - वही - अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ - १८५

चतुर्थ अध्याय

।। जीवन - यथार्थ और नाटकीय भाषा ।।

किसी भी कृतित्व या रचना के मूल में सामाजिक अनुभूति का होना अनिवार्य है। रचनाकार सामाजिक यथार्थ को आत्मसात् करके स्वयं को कृति के रूप में सम्प्रेषित करता है। यही अनुभूति रचनाकार में जीवन - दृष्टि का निर्माण करती है, जिसके आधार पर नाटक का सर्जन होता है। रचनाकार यथार्थ को कितना आत्मसात् करता है और रचना के द्वारा कितना सम्प्रेषित कर पाता है यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है जीवन - दृष्टि के निर्माण की अपेक्षा। जीवन - यथार्थ और सर्जनात्मक भाषा की संश्लेषणात्मक स्थिति रचना को शाश्वत बनाती है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं।

आधुनिक नाटककारों ने समकालीन मनोविकारों को उद्घाटित करने के लिए भाषा को अधिक से अधिक सशक्त बनाया। सर्जनात्मक भाषा जिस तरह नाटक की नस - नस में संचरित हो रही है वह उसकी सामर्थ्य का, प्रभाव की एकता का, और यथार्थ को सम्प्रेषित करने का प्रामाणिक रूप है। वह साधारण से साधारण वस्तु का प्रयोग असाधारण कर लेता है। यही कारण है कि साधारण से साधारण शब्द भी प्रयोग के स्तर पर विशिष्ट बन जाते हैं। दृष्टि की समग्रता का प्रमाण आधुनिक नाटक में हर जगह से मिल सकता है— चाहे वह भाषा - विधान के स्तर पर हो या दृश्य वस्तुओं के प्रयोग के स्तर पर हो। सर्जनात्मक भाषा ही यथार्थ को सम्प्रेषित करती है न कि कथावस्तु। अतः सर्जनात्मक रचना में वस्तु और रूप की एकान्विति, संवेदना के सर्वोच्च धरातल, परिवर्तन की उत्कट जिज्ञासा का संश्लेष होता है।

यद्यपि नाटक में निहित जीवन की आधारशिला सर्जनात्मक कल्पना होती है, किन्तु वर्तमान सामाजिक विकृतियों के विभिन्न पक्षों को नाटककार नजर - अन्दाज नहीं करता। यह बात अलग है कि कलात्मक दुनिया और यथार्थ दुनिया में अन्तर होता है। विपिनकुमार अग्रवाल के शब्दों में— " नाटक में यथार्थ का वास्तविकपन उतना नहीं उभरना चाहिए, जितना कि यथार्थ का आभास। यह आभास साज समान पर निर्भर नहीं करना चाहिए, बल्कि यथार्थ के ढाँचे पर। रोजमर्रे के जीवन में चीजों के रूप और रंग के विस्तृत ज्ञान से हम कभी नहीं परिचित होते हैं। प्रायः उतना ही

देखते हैं जितना हमारे लिए जरूरी है। हम हर दृश्य के बीच में महसूस करते हैं कि वहाँ बहुत सी चीजें हैं, बहुत से व्यापार ऐसे हैं, बहुत सी बातचीत ऐसी है, जिससे हमारा ताल्लुक नहीं है। पर उसी के बीच में हम अपने काम की, मतलब की चीज, व्यापार या बातचीत से नाता जोड़ते हैं। यदि नाटक में दर्शक को इससे मिलती जुलती स्थिति का आभास मिल सके तो उसे यथार्थ का, जीवन के निकट होने का भान अवश्य होगा[1]।" नाटकीय यथार्थ जगत में सर्जनात्मक कल्पना का मिश्रण होता है और यही कारण है कि भोगे गये यथार्थ और रचित यथार्थ में अन्तर होता है। इसका अस्तित्व निर्द्वन्द्व नहीं होता, बल्कि द्वन्द्वयुक्त होता है, यथार्थ के कल्पनात्मक चित्रण के कारण। "यद्यपि नाटककार की अन्तर्दृष्टि अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाती है, किन्तु वह निश्चित रूप से उस युग समाज के अन्तर्गत मूल्यों तथा समस्याओं के तनाव से उत्पन्न होती है। "२

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे राजनीतिक सामाजिक जीवन की विकृतियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गई हैं और जैसे - जैसे ये विकृतियाँ बढ़ती गई हैं वैसे - वैसे नाटकों की सामाजिक चेतना प्रखर होती गई है। जिस परिवेश में हम जी रहे हैं उसमें विघटित मानवीय मूल्यों, शासन की स्वार्थपरता एवं सामाजिक जीवन के हर स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण सांस लेना दूभर हो रहा है। इन सबके फलस्वरूप यदि शोषित वर्ग के मन में गहरा असन्तोष और विक्षोभ है तो आश्चर्य नहीं। व्यंग्यात्मक नाट्य लेखन को उर्वरक बनाने में इस स्थिति का प्रमुख हाथ है।

आक्रोश की सक्रियता क्रान्ति को जन्म देती है और व्यक्ति जब विसंगतियों को अपनी नियति मानकर उसमें जीने के लिए विवश हो जाता है तो यह विवशता व्यंग्य को जन्म देती है। ` अन्धेर नगरी ` में दोनों रूप व्याप्त है। पहली स्थिति जनचेतना को जितनी उद्बुद्ध करती है दूसरी स्थिति सामाजिक को उतनी ही संतुष्टि प्रदान करती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ` अन्धेर नगरी ` शाश्वत नाटक है जिसके आधार पर भारतेन्दु यथार्थवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।

रंगमंच पर नाटक के जीवित स्पन्दन से अनुभोक्ता और ग्रहीता का एकाकार होना

अधिकतम सीमा तक सम्भव बन पाता है और यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। प्रेक्षक का नाटक में निहित यथार्थ से साक्षात्कार तभी सम्भव है जब भाषा सर्जनात्मक और प्रवाहमयी हो। जीवन्त और प्रवहमान भाषा प्रेक्षक की संवेदना को अधिक से अधिक जागृत करती है और वर्तमान के प्रति दायित्व का बोध कराती है। अतः यथार्थ, भाषा और अनुभव के संश्लेषण से रचना कालबद्ध न होकर सार्वजनीन और सार्वभौमिक बन जाती है।

भारतेन्दु ने यथार्थ को देखा ही नहीं, बल्कि उसके छिपे अंश को उजागर किया और उसके परिशमन के लिए सामूहिक और योजनाबद्ध आन्दोलन का रूप दिया। युगीन समस्याओं, राजनैतिक, सामाजिक स्थितियों, राष्ट्रीय चेतना, जन - जागृति को मानवीय संवेदना से जोड़कर यथार्थ निरूपण के लिए व्यंग्य को आधार रूप में ग्रहण किया। " अन्धेर नगरी " में यथार्थ का तीखापन व्यंग्य और लोकप्रचलित शब्दावली के सुन्दर सामन्जस्य के कारण उभरा। जैसी व्यंजना में यथार्थ का अभिज्ञान और आकर्षण दोनों है, जो कौतूहल वृत्ति को जागृत तो करता है, साथ - साथ उसमें सत्ता से सीधे टकराने की शक्ति है—

" सांच कहै ते पनही खावैं । झूठे बहुविधि पदवी पावैं ।
छलियन के एका के आगे । लाख कहौ एकहु नहिं लागे ।।[3]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यथार्थ के उलझे और जटिल पहलुओं को, बाह्य आन्तरिक विसंगतियों की सूक्ष्म और गहरी पहचान जितना नाटक में सम्भव है उतना किसी अन्य विधा में नहीं। आज का नाटक अनुभव की ऊपरी सतह तक सीमित नहीं है, बल्कि अनुभव की गहराई का साक्ष्य प्रस्तुत करने में संलग्न है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का नाटक " बकरी " की व्यंग्यात्मक भाषा " अन्धेर नगरी " के समकक्ष है। व्यंग्य की तीक्ष्णता, उसके सांकेतिक रूप और लोक भाषा के सुन्दर सामन्जस्य से समकालीन राजनीति की लक्ष्यभ्रष्टता और ग्रामीणों की पीड़ा तथा विवशता में यथार्थ का निरावरण उद्घाटन हुआ है। " बकरी " की " बकरी सेवा - संघ, " " बकरी स्मारक निधि " जैसी संस्थायें आधुनिक व्यवस्थात्मक व्यभिचार का पर्दाफाश करती हैं। डॉ० गिरीश रस्तोगी के शब्दों में " हिन्दी नाटक को बनावटी मंच और

पश्चिमी शिल्प प्रयोगों से हटाकर ' सुलेपन ' और ' सहजता, ' ' खुलेपन ' और ' परम्परागत लोकरूप ' तक ले आना हिन्दी नाटक के विकासात्मक क्रम का महत्त्वपूर्ण अंग है। नाटक भी रंगमंच की दिशा बदलता है, अभिनय शैली के मानदण्ड बदलता है, दर्शकों की बनी - बनायी अभिरुचि को तोड़ता है, उन्हें नये संस्कार देता है, भाषागत अभिव्यक्ति में एक स्वाभाविक मोड़ पैदा करता है— ये सब बातें ' बकरी ' के सामने आती है।' [4] व्यंग्य की तीक्ष्णता ' अन्धेर नगरी ' में जिस तरह यथार्थ को ठोस भावभूमि प्रदान करती है उसी तरह ' बकरी ' में भी। यथार्थ को ग्रहण करने की प्रक्रिया में नाटक या तो वर्ग विशेष का बनकर रह जाता है या समग्र अनुभव का प्रतिबिम्ब यह भाषा की सर्जनात्मक क्षमता पर निर्भर करता है। ' अन्धेर नगरी ' की तरह ' बकरी ' किसी वर्ग विशेष का नाटक नहीं। यह उच्चवर्ग और जन साधारण सबको समान परितुष्टि प्रदान करता है— भाषा प्रवाह के कारण। ' बकरी ' का व्यंग्य समग्र यथार्थ को पूरे परिवेश के साथ, उसका वीभत्स किन्तु (ग्रामीण जनता का) कारुणिक चित्र उपस्थित करता है—

' युवक : फिर चुप क्यों रहे ? कहा क्यों नहीं कि बकरी विपती की है उसे दे दी जाए। विपती सुबकती पहले रोती चिल्लाती जा रही थी। रास्ते में मैंने—

दूसरा ग्रामीण : अरे। भगवान के नांव से लिहिन तो काव करिन ? कहिन बकरी नाय है, देवी है, देवी का मान होवै कै चाही, अब हम का कहित देवी के मान न होय ?

युवक : हमारा ही जूता हमारे ही सिर ?

एक ग्रामीण : अरे अब कौन प्रपंच करे, ऊ कहिन देवी है हम मान लिहा।

युवक : प्रपंच उन्होंने किया या आपने ?

दूसरा ग्रामीण : उनका प्रपंच ऊ जानैं, भगवान जानैं भगवान उनका देखि हैं। [5]

स्वातन्त्र्योत्तर भारत का सारा सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा एक चक्र की भांति है, किन्तु उसके घूमने की दिशा अनुकूल न चलकर प्रतिकूल है। इस स्थिति में जन साधारण की दुर्दशा सर्वाधिक हुई है— सब कुछ मूक भाव से सहते चले जाने की प्रवृत्ति के कारण। ' बकरी ' के प्रतीकों में अर्थवत्ता की तलाश है, जो यथार्थ स्थिति को

साकार करती है। इसमें दर्शायी गई ग्रामीण जनता की पनीक्षा प्रेक्षक को समकालीन प्रश्नों के कठघरे में छोड़ देती है, पर उनमें से जो थोड़ा बुद्धिजीवी हैं उसमें क्रान्ति की आकांक्षा अवश्य अंकुरित हुई है। समसामयिक वास्तविकता यदि जटिल और संश्लिष्ट है तो उसका निराकरण इन्कलाब जिन्दाबाद की सार्थक सूझ द्वारा किया जा सकता है। मार्ग की अवरोधक स्थितियों को दूर करना रचनात्मक दायित्व है न कि उसका दर्शक बने रहना। विद्रोह जनित मूल्य यथार्थ स्थितियों से टकराकर उत्पन्न होते हैं। समकालीन विकट यथार्थ को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर और उसका अनुभव करने के पश्चात् विद्रोही चेतना सामने आती है— एक रचनात्मक संगठित शक्ति के रूप में। विद्रोही मानसिकता प्राचीन रूढ़ियों की श्रृंखला को तोड़ती है और नये मूल्यों की तलाश करती है। यदि रचना नूतन भविष्य का आधार बन पाती है तो वही के मार्फत।

जीवन के यथार्थ और उसके अन्तर्विरोधों का बोलचाल की सर्जनात्मक भाषा में आकर्षण के स्तर पर प्रयोग ' अन्धेर नगरी ' में लक्षित होता है, पर उसका निखरा रूप प्रसाद के स्कन्दगुप्त में मिलता है। ' स्कन्दगुप्त ' में यथार्थ आदर्श से अनुप्राणित है ऐतिहासिक चरित्र के कारण। नाटककार का मुख्य ध्येय मनोरंजन नहीं होता, यथार्थ मूल्यों की प्रतिस्थापना होती है। अपने कलात्मक रूप के कारण नाटक स्वतः आनन्दानुभूति प्रदान करने लगता है। जीवन मूल्यों का निदर्शन, ऐतिहासिक, पौराणिक किसी भी नाटकीय रूप में हो सकता है। यही कारण है कि अरस्तू ने त्रासदी, कामदी दोनों में आनन्द की अनुभूति को अंगीकार किया। व्यक्ति सुखद जीवन से गुजरता है तो अकेला और कष्ट की सघन खाई को पार करता है तो अकेला। ' स्कन्दगुप्त ' का स्कन्द जीवन के क्रूर सत्य से गुजरता है, जिसमें भाषा अपनी उदात्तता का परिचय देती है—

' देवी यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक - दूसरे का मुँह देखकर काट लें। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? (कुछ ठहरकर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ ? देवसेना। देवसेना।। तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द ओह। ' दे

आत्मकेन्द्रित होकर स्कन्द कुछ क्षण के लिए विस्तृत दुनिया से कटकर स्वयं तक सीमित हो जाता है। यह यथार्थ पक्ष है। आत्मकेन्द्रितता विरक्ति से उद्भूत है इसलिए जीवन के मोड़ में कभी - कभी स्कन्द अपनी दुनिया में डुबकी लगाता है फिर सब कुछ यथार्थ घटित होने लगता है। यहाँ प्रेम के अमूर्त और आदर्श पक्ष को ग्रहण किया गया है, जबकि शारीरिक आकर्षण उसके स्थूल रूप को उद्भासित करता है। प्रेक्षक इस निराशा और अकेलेपन से अनेक बार गुजर चुका होता है, किन्तु प्रस्तुत उद्धरण में एक सार्वकालिक गुण है, जो सर्जनात्मक भाषा की उर्वरक क्षमता से जड़ों को मजबूत करके वक्ता की उक्तियों से यथार्थ वृक्ष को तैयार करता है। इस प्रकार नाटक में निहित यथार्थ कथन का रूप विचित्र होता है— " लेखक शब्द प्रतीकों के माध्यम से किसी घटना के बाह्य स्वरूप का अंकन नहीं करता, वस्तुएँ जिस रूप में इन्द्रियों द्वारा जानी जाती हैं उसकी अनुकृति नहीं प्रस्तुत करता वरन् इन वस्तुओं की मानसिक प्रतीति का चित्रण करता है।" ७

नाटकों में नित्य परिवर्तित होते जीवन मूल्यों, संत्रास, यन्त्रणा की अभिव्यक्ति के लिए संवेदना का नवीन रूप परिलक्षित होता है। इन नव्यतर संवेदनाओं के लिए भारतेन्दु ने व्यंग्य का सहारा लिया तो प्रसाद ने सजावट का। वर्तमान समस्याओं और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पक्ष के चित्रण के लिए कहीं इतिहास (" स्कन्दगुप्त," " औरंगज़ेब की आखिरी रात ") को आधार बनाया गया है तो कहीं पुराण (" पहला राजा ") को।

नाटक की कथावस्तु, संवाद, पात्र एवं शिल्प पर यथार्थ से संश्लिष्ट चिन्तन प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। ऐसा नाटककार विशेष जीवन दृष्टि को नाटक की वास्तविक सामग्री बनाता है, जो किसी देश जाति के इतिहास में विशेष महत्त्व पा चुकी होती है। इन नाटकों में निहित यथार्थ आदर्शोन्मुख होता है, किन्तु यथार्थ चित्रण में किसी तरह बाधित नहीं होता। प्रेषणकर्ता की अनुभूति की तीक्ष्णता का आविष्करण सर्जनात्मक भाषा में होता है और यह प्रक्रिया प्रेक्षक के अन्दर एक आस्वादमूलक सक्रियता में पर्यवसित हो जाती है। इस आविष्करण का संस्करण प्रेक्षक में किस प्रकार होता है? इसका रूप तीन बातों में नियत होता है— भाषा का सुव्यवस्थित विधान (जिसमें यथार्थ का बोध, उच्चारण, शिष्टाचार के शब्दों, सम्बोधन

द्वारा होता है) परिस्थितियाँ (जिसके द्वारा तथ्यपरक यथार्थ साबित होता है) वर्तमान परिस्थिति का जटिल रूप (जिसके माध्यम से समसामयिक परिवर्तन का परिज्ञान होता है) ।

नाटक में चित्रित यथार्थ जब घटित होता है तो निश्चित रूप से किस बात की प्रतीति कराता है ? तथा किन परिस्थितियों का सामना प्रेक्षक करता है ? इन शंकाओं का समाधान हो जाता है उपर्युक्त रूपों में । " स्कन्दगुप्त " और " औरंगजेब की आखिरी रात " की विविधता, व्यापकता और गहनता का यही कारण है । इतिहास के आधिक्य के कारण " स्कन्दगुप्त " में सामाजिक परिवर्तन और मानव के विकास की सम्भावना उतनी नहीं उदित होती जितनी " औरंगजेब की आखिरी रात " में । ऐतिहासिक दृष्टि में बोलचाल की भाषा का सामन्जस्य " औरंगजेब की आखिरी रात" को अधिक सहज बना देता है । यद्यपि अन्य नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटककार का दायित्व अधिक बढ़ जाता है— परम्परागत— सामयिक, व्यक्तिगत - सामाजिक , शारीरिक - मानसिक तथा निजी और सार्वजनिक पहलुओं के संश्लिष्ट रूप को प्रस्तुत करने का । डॉ० नित्यानन्द तिवारी के शब्दों में इस विषय को समझा जा सकता है— " इतिहास दृष्टि साहित्यिक अनुभूति को जटिल संस्थान मानती है जिसमें समाज अपनी सभी सक्रिय शक्तियों के साथ सजीव केन्द्र के रूप में विद्यमान होता है । अर्थात् सौन्दर्यात्मक संरचना और संगठन समाज की आन्तरिक गति, अन्तर्विरोधों की टक्कर , उसके फलस्वरूप परिवर्तन और उसकी गति के पुनर्गठन का प्रतिरूप होता है । जो साहित्य इसकी गवाही नहीं देता ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें सजीव सौन्दर्य भी नहीं होता ।" [8]

प्रसाद ने " स्कन्दगुप्त " के माध्यम से तत्कालीन समय में व्याप्त विभिन्न धर्मों के बीच प्रतिद्वन्द्विता का चित्रण किया है, जो साथ - साथ वर्तमान जटिल परिस्थितियों में साम्प्रदायिक टकराहट को ध्वनित करता है । यह साम्प्रदायिक टकराहट जिसने समकालीन सामाजिक संगठन शक्ति में दरार पैदा कर दी थी, पूर्व युग का विकसित रूप है । प्रख्यातकीर्ति के संवादों में प्रसाद की बौद्ध और वैदिक धर्मों से सम्बन्धित जो व्यथा - गाथा व्यक्त होती है वह अपने युग के हिन्दू और इस्लाम धर्मों के मतभेद को उद्घाटित करता है—

" सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार, विवृत हो रहे हैं और होंगे ।

हम लोगों को हठधर्मी से उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखायें हैं। आओ, हम दोनों विचार के फूलों से दु:ख - दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।` ६

नाटक की सर्जना एक स्वायत्त प्रतिसृष्टि के रूप में होती है। बिम्बात्मक भाषा चित्रात्मकता प्रदान कर यथार्थ को रचनात्मक और सक्षम बनाती है। जिस युग में नाटक की रचना होती है वह अनुबन्ध नाटक से किस प्रकार जुड़ता है? यह प्रश्न उठता है। वास्तव में नाटककार, प्रेक्षक, अभिनेता सभी मानव समाज के जीवनांश हैं, जो नाटक में निहित अनुभव को अपने - अपने ढंग से ग्रहण करते हैं। यह जीवन संस्कृति से नियत रहता है, जिससे समाज और संस्कृति का शाश्वत निर्मित होता है। यह समाज और इतिहास नाटकीय व्यापार के इर्द - गिर्द चक्कर लगाते हैं। नाटक पूर्ण बनता है तो इसी के द्वारा। नाटक और यथार्थ के सम्बन्धों की जाँच करने में इस कार्य-व्यापार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नाटकीय कार्य - व्यापार का जीवन में कौन सा स्थान है—यथार्थ या काल्पनिक इसकी तलाश नाटक की सार्थकता है। इसके माध्यम से नाटककार जीवन के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रश्नों से जूझकर, उस पर चिन्तन कर, अनुभवों से उनका सम्बन्ध स्थापित कर और इन सबको परस्पर अनुस्यूत करके जीवन की समग्रता को चित्रांकित करता है। इस यथार्थ का सम्प्रेषण प्रेक्षक को कहाँ तक कर्तव्य के लिए प्रेरित करता है यह उसकी सर्जनात्मक भाषा पर निर्भर करता है। अत: नाटक में यदि यथार्थ का रूपायन होता है तो कर्तव्य की प्रेरणा भी मिलती है—`आओ - - - करें।`

`स्कन्दगुप्त` एक प्रातिनिधिक सृष्टि है। ऐसा नाटककार जिसका आधुनिक नाट्य साहित्य में अप्रतिम योगदान है—प्रतिनिधि पात्र की सृष्टि करता है—जिनमें समकालीन यथार्थ की प्रतिच्छवि समाहित होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक सशक्त नाटककार की रचनात्मक संवेदना अपने युग की संवेदना को रेखांकित करती है। युगीन संवेदना नाटक के माध्यम से यदि उजागर होगी तो प्रेक्षक का यथार्थ से साक्षात्कार होगा। प्रतिनिधि पात्र गरिमामय, शास्त्रीय एवं आदर्श रूप को तो प्रस्तुत करता ही है, किन्तु उसका पहला और प्रमुख सम्बन्ध यथार्थ से होता है फिर अपने विकसनशील रूप में वह युगीन संवेदना से जुड़ता है।

ऐतिहासिक भावभूमि पर भाषा संरचना के सहज एवं बिम्बात्मक रूपों में यथार्थ की अधिक रोचक पकड़ सुरेन्द्र वर्मा के ` नायक खलनायक विदूषक ` नाटक में है और यही स्थिति उसे अन्य ऐतिहासिक नाटक ` स्कन्दगुप्त `, ` औरंगजेब की आखिरी रात ` के निकट लाती है। सुरेन्द्र वर्मा ने बोलचाल की सामान्य शब्दावली में नाटक और रंगमंच सम्बन्धी अपनी चिन्ता को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सन्दर्भों में अभिव्यक्त किया है। कपिंजल के माध्यम से शोषक के आतंकपूर्ण दुर्व्यवहार से ग्रसित सामाजिक, राजनीतिक कुव्यवस्था का प्रतिरोध किया गया है—

` ( तत्क्षण ) और अब राज्य के लिए है। ---- फिर कल के दिन कोई धर्मगुरु आ जायेगा, तो धर्म के लिए होगा फिर परसों के दिन कहीं का नाट्याचार्य आ जायेगा, तो कला के लिए होगा। ---- यह दुश्चक्र कभी नहीं टूटेगा श्रीमान्। निर्णय लेना ही होगा। ` १०

स्वतन्त्रता पूर्व नाटकों की प्रमुख समस्या परतन्त्रता के बन्धन से जनता को परिचित कराना था। ` अन्धेर नगरी ` और ` स्कन्दगुप्त ` में राष्ट्रीय जागरण का उद्बोधन प्रमुख है। पर स्वातन्त्र्योत्तर कालीन नाटकों में बढ़ती सामाजिक विसंगतियों का यथार्थ और विस्तृत चित्रण है। यदि स्वातन्त्र्योत्तर कालीन नाटककारों में सामाजिक विसंगतियों को देखकर गहरी वेदना है तो उससे मुक्ति की छटपटाहट भी है। जनता की समस्त आकांक्षायें स्वतन्त्रता पूर्व जो उसने सँजो रखी थी वे स्वतन्त्रता के पश्चात् ध्वस्त होने लगीं। नयी - नयी समस्याओं का आविर्भाव होने लगा। इन्हीं परिस्थितियों को नाटककारों ने अपना प्रतिपाद्य बनाया। ` पहला राजा ` में जहाँ स्वार्थलिप्सा और महत्वाकांक्षा से उपजे, राजनैतिक कुचक्रों, झूठ, प्रपंच, छल-छद्म, क्रूरता, हिंसा की झाँकी प्रस्तुत की गई है वहाँ यथार्थ का प्रामाणिक रूप प्रस्तुत होता है। इस यथार्थ चित्रण के लिए प्रसाद ने जैसे इतिहास को आधार रूप में ग्रहण किया उसी तरह माथुर ने पुराण का आधार ग्रहण किया। यथार्थ का निरूपण न होने के कारण प्रेक्षक, नाटक का द्रष्टा न बनकर भोक्ता बन जाता है। जो वर्ग अपने लिए नये मूल्यों की स्थापना करना चाहता है और उसके लिए अधिक से अधिक चिन्तित है उसमें नेता वर्ग सर्वप्रथम आता है तथा छल - कपट की प्रवृत्ति के कारण समाज से स्वीकृति प्राप्त करने में सफल हो जाता है—

'गर्ग : लेकिन हमारे आश्रमों की आमदनी तो बढ़ रही है। धन - धान्य तो हमारे हाथ आ रहा है। चिन्ता क्या है?

शुक्राचार्य : गर्ग मुनि, चिन्ता ? आत्रेय आश्रम और भृगु आश्रम दोनों अच्छी तरह समझ लें कि दृषद्वती का यह बाँध पूरा होते ही— साँचे यज्ञ की पूर्ति होते ही— राजा पृथु हम लोगों को दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंकेगा। और —— उसके मन्त्रिमण्डल में होंगे जंघा पुत्र कवष और दस्यु सुन्दरी उर्वी।' ११

भुवनेश्वर ऐसे पहले रचनाकार हैं, जिन्होंने आधुनिकता के संशयात्मक रूप और चिन्तन के बदलते आपसी सम्बन्धों को विसंगत भाषा द्वारा नयी संवेदनाओं में अंकित किया। यह अन्वेषण साहित्य में नये मूल्यों का प्रादुर्भाव करता है। विपिनकुमार अग्रवाल के शब्दों में— "हर समय के पाठक और दर्शक एक माँगों के वातावरण की सृष्टि करते हैं, जिसके बीच कला या साहित्य का आकार ढलता है, पनपता है। वास्तव में यह रिश्ता दोहरा है। साहित्य लौटकर रुचि को प्रभावित करता है और नयी माँगों को जन्म देता है।"१२ पारम्परिक व्यामोह के बन्धन से स्वयं को मुक्त रखने के कारण एकाङ्क नाटककारों का यथार्थ चित्रण विशेष ढंग का होता है। उनके लिए यथार्थ जीवन की सुन्दरता में जितना आकर्षण है उससे अधिक उसके क्रूर रूप में। ऐसे नाटकों ('ताँबे के कीड़े', 'तीन अपाहिज') की विशेष दृष्टि प्रेक्षकों को बाँधने और उसे यथार्थ में शामिल करने पर केन्द्रित रहती है। इसमें यथार्थ का सर्जन विशुद्ध अनुभव के रूप में प्रमुख है, बिना किसी भावुकता और रोमानियत के। इस सन्दर्भ में 'ताँबे के कीड़े' की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

'पागल बाबा : रिक्शेवाले ने कितना अच्छा नाश किया। मेरी ख्वाहिश है कि हम उसके स्टेचू बनाएँ। उसकी आली [illegible] बेचने के लिए कम्पनियाँ खड़ी करें——

लेकिन मशालची बाबा - - - तुम घर से कितनी दूर निकल आए हो, और तुम्हारा स्कूटर कीड़ों ने खत्म कर दिया है।

एक स्वर : हमारी सबसे ताज़ी इजाद, काँच के स्कूटर। इनको सिर्फ ताँबे के कीड़े खा सकते हैं।' १३

यथार्थ की जटिलता प्रतीकों में दृष्टिगत होती है और यही प्रतीक यथार्थ के विश्लेषण की पद्धति में ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। विश्लेषण की यह पद्धति विज्ञान से प्रभावित है, क्योंकि साहित्य समाज की प्रत्येक शक्ति से प्रभावित होता है। डॉ० रघुवंश के शब्दों में— " आज के वैज्ञानिक युग में हम यथार्थ के बारे में अधिक ही नहीं भिन्न ढंग से भी जानते हैं। इसके अतिरिक्त जिन मानवीय परिस्थितियों में आज हम जी रहे हैं वह अनेक प्रकार और रूपों में जटिल है। ऐसा नहीं है कि आज हम वस्तुओं और मानवीय अर्थ में व्यक्तियों को सम्बन्धों की जटिलता में पाते हैं वरन् यह भी है कि उनको देखने समझने के मौलिक ढंग बदल गये हैं।"[१४] विश्लेषण की दृष्टि विघटन को रचना में अधिक संश्लिष्टता और जटिलता के साथ रूपायित करती है। एब्सर्ड नाटककार की भाषा अलंकरण विहीन ही नहीं ऊपर से बिखरी और टूटी हुई लगती है, जिसे सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़कर देखने पर पूर्णता मिलती है— अर्थ की दृष्टि से, वरना जीवन के विरोधाभासों को सर्जन की आधुनिक प्रवहमान गति सहर्ष स्वीकार करती है। वर्तमान असामन्जस्य और विघटन पर यदि आधुनिक नाटक आधारित है तो यह यथार्थ निरूपण के पक्ष में उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

नया नाटक, नाटक की मौलिकता में पैठने के लिए प्रेक्षक को जागरूक करता है। यथार्थ के उद्घाटन के लिए मोहन राकेश ने समकालीन समाज के तनावों और अन्तर्द्वन्द्वों में गोता लगाया है और " आधे - अधूरे " में यथार्थ के उन तारों को झंकृत किया है, जिसमें प्रेक्षक इतना मुग्ध हो जाता है कि पूरा नाटक स्वयं के ऊपर घटित होने लगता है। रचनाकार की पैनी दृष्टि समकालीन मध्यवर्गीय परिवार के बिखराव और संत्रास को प्रतीकात्मक, तीखी एवं सहज भाषा में व्यक्त करती है। संवेदना का आधुनिक रूप यदि कहीं दृष्टिगोचर होता है तो " आधे - अधूरे " में। यहाँ न कथानक के पारम्परिक ढाँचे की चिन्ता है न भाषा को बाह्य उपकरण से सजाने की। चिन्ता है अनुभव को सर्जनात्मक रूप में पेश करने की। " आधे - अधूरे " में यथार्थ की कई धाराएं समाविष्ट हैं— पारिवारिक विघटन, दाम्पत्य सम्बन्धों की कटुता, आपसी रिश्तों की रिक्तता, मानवीय सम्बन्धों की टूटन, यौन विकृतियां, आर्थिक विपन्नता का सम्बन्धों पर कुप्रभाव।

पुरुष एक : (गुस्से से उठना) तुम तो ऐसी बात करती हो जैसे— ।

स्त्री : खड़े क्यों हो गये ?

पुरुष एक : क्यों मैं खड़ा नहीं हो सकता ?

स्त्री : (हल्का वकफा लेकर तिरस्कारपूर्ण स्वर में) हो तो सकते हो, पर घर के अन्दर ही ।` १५

` आधे - अधूरे ` के ठोस संवाद, सशक्त भाषा और तेवर जीवन की अपूर्णता (समकालीन द्वन्द्वात्मक और तनावपूर्ण जिन्दगी) का दिग्दर्शन कराते हैं। पारिवारिक सदस्य बाह्य रूप में एक दूसरे से जितने जुड़े हैं आन्तरिक रूप में एक दूसरे से अपरिचित के समान व्यवहार करते हैं। आर्थिक दृष्टि से पराश्रित होने के कारण पुरुष एक अपने परिवार में अजनबी बन जाता है फिर भी उसी परिवार में जीने के लिए अभिशप्त है। आधुनिक नारी परम्परागत वर्जनाओं से स्वयं को मुक्त कर, नये मूल्य निर्माण के लिए आकुल है, किन्तु उसी वेग से नयी समस्याओं की व्युत्पत्ति हो रही है। आर्थिक स्वावलम्बिता और मानसिक स्वतन्त्रता के कारण आधुनिक नारी वर्तमान और भविष्य के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक जागरूक हो गई है, पर ऐसे में किया जाने वाला प्रयास निरर्थक साबित होने लगता है और पूर्व संस्कार पुरुष से - आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा की - अपेक्षा संत्रास को जन्म देता है। प्रस्तुत उद्धरण में स्त्री - पुरुष का संवाद स्तरात्मक भाषा को जन्म देता है, जिसमें समकालीन जीवन के घात - प्रतिघातों का चित्रात्मक अंकन हुआ है।

विपिनकुमार अग्रवाल ने आत्मालोचन सिद्धान्त और विसंगत भाषा द्वारा यथार्थ को संघनत्व प्रदान किया इसमें कोई सन्देह नहीं। गहन अनुभव का इसमें निर्णायक महत्त्व है। नाटककार अनुभव द्वारा वास्तविकता से निरन्तर जूझते रहने के कारण नाटक का सर्जन करता है ऐसे में अनुभव की सम्पूर्ण प्रक्रिया का बोध जागृत होता है। यथार्थ की तात्कालिक संवेदना से नाटक में निहित यथार्थ विचार - प्रक्रिया निष्पन्न होती है जो न तार्किक होती है न धार्मिक। इसका आधार यथार्थ वस्तुओं का जीवन्त रूप होता है जो एक तरफ सामाजिक विसंगतियों की चीर - फाड़ करता है तो दूसरी तरफ नया मूल्यान्वेषण करता है। ` तीन अपाहिज ` में वास्तविकता से टकराव न भावात्मक है न कोरा वैचारिक, बल्कि उसकी बिम्बात्मक और आक्रोश रहित सहज भाषा यथार्थ का सहानुभूतिपूर्ण अंकन करती है। इस यथार्थपरक दृष्टि में विज्ञानवादी दृष्टि

का निर्देश है और पात्रों की अनिश्चयात्मक वृत्ति है। यह मुद्रा विज्ञान से प्रत्यक्ष प्रभावित नहीं है, बल्कि उन सामाजिक विसंगतियों से उत्पन्न है, जो शक्ति सम्पन्न लोगों को निरर्थक बनाती है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत उद्धरण उल्लेखनीय है—

` कल्लू : अच्छी मैंने अकल बतायी।

(खल्लू, गल्लू नहीं मानते। उसे फिर घुमाकर बैठाल देते हैं। इस सिलसिले में कुछ भी घूमकर बैठ जाते हैं।)

गल्लू : फिर गलत हो गया।

खल्लू : सही क्या था ? (दोनों कल्लू की ओर देखते हैं।)

कल्लू : जो पहले था वह अब नहीं है। न सही, न गलत)

गल्लू : न सही न गलत। (दुहराता है, मानों समझने का प्रयत्न कर रहा हो।)

खल्लू : तो अब क्या है ? (दोनों कल्लू की ओर देखते हैं।) कल्लू जो है।` १६

` जो है ` विज्ञान से प्रभावित है, जो यथार्थ का प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करता है। सामाजिक विसंगतियों की संशयात्मक अनिश्चयात्मक और प्रश्नात्मक मुद्रा सही और गलत के बीच भूल रही है, अनुभव किये गये सत्य के निकट है।

यथार्थ स्थितियों के चित्रण का आधार विपिनकुमार अग्रवाल में बोलचाल की सामान्य भाषा है तो मुद्राराक्षस में प्रतीक - विधान। हिंसा, काम, कुंठा और जीवन की त्रासदी का विस्तारपरक अंकन ` तिलचट्टा ` में होता है, जिसका वातावरण संवादों और प्रतीकों द्वारा निर्मित हुआ है। इस भौतिकतावादी युग में मानवीय प्रवृत्तियों का सहज रूप विकृतियों से सम्बन्ध बनाकर उसकी शरण में पहुँच गया है। उच्च वर्ग कामुक और हिंसात्मक भावना द्वारा निम्न वर्ग को अपना शिकार बनाता है तब निम्न वर्ग जीवन की त्रासदी को भोगने के लिए विवश बन जाता है। जब कुछ नहीं समझ पाता तो आत्महत्या में शान्ति ढूँढता है। यौन जीवन की अतृप्तावस्था कुंठाओं को जन्म देती है और इसके माध्यम से सामाजिक वर्जनाओं और रूढ़ियों का अनावृत्त रूप ` तिलचट्टा ` में रूपायित हुआ है। ` तिलचट्टा ` सीलन, गन्दगी

सामाजिक अंधेरा, यौन कुंठा एवं तमाम विसंगतियों का सार्थक प्रतीक है। समकालीन विसंगत यथार्थ में परिवर्तन की त्वरित और वेगवान धारा कुछ निश्चित नहीं रहने देती। इस अनिश्चयात्मक वृत्ति में मानव सत्य से कहाँ तक दिग्भ्रमित हुआ है— इसका अनुमान "तिलचट्टा" द्वारा लगाया जा सकता है। यद्यपि इसमें प्रयुक्त प्रतीकों का आधिक्य अर्थवत्ता में अवरोधक है, इसे झूठ के आवरण से ढँका नहीं जा सकता, किन्तु अनिश्चयात्मक वृत्ति और त्रासदी की सार्थकता से मुख नहीं मोड़ा जा सकता। निश्चयात्मक वृत्ति के मोह का अतिक्रमण कर रचनागत विसंगतियों के परिपार्श्व में आज के जटिल जीवनानुभव को क्रियाशील कर सका है— सशक्त भाषा में। आधुनिक नाट्य साहित्य में "संशय" की मूल्यवत्ता को स्वीकार किया गया है, क्योंकि जीवन में कुछ भी पूर्ण निश्चित नहीं है। अतः निश्चयात्मकता के व्यामोह में यथार्थ से बचाव की दृष्टि झलकती है। कला का यथार्थ से क्या सम्बन्ध है इसे निर्मल वर्मा की अवधारणा द्वारा समझा जा सकता है—

"दरअसल कला की नैतिकता और रहस्य अनिवार्य रूप से ऐसी रूप रचना है जो व्याख्या के परदे को चाक करता हुआ उन सबको रहस्यहीन और बेपर्द करे जिनसे हम घिरे हुए हैं। कला का अर्थ एक ऐसी यथार्थ रचना है जो सारी व्याख्याओं और संदेशों से मुक्त हो— उनसे जो हमारे और संसार के बीच खड़े हैं।" २७

नाटक और जीवन की अन्तरंगता "व्यक्तिगत" में देखी जा सकती है। पर "बकरी" जितना सार्वजनीन है उतना "व्यक्तिगत" नहीं जिसके मूल में है इसकी सीमा। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रसाद ("स्कन्दगुप्त") माथुर ("पहला राजा") और वर्मा ("औरंगजेब की आखिरी रात") का नाटकीय यथार्थ दूसरी तरह का है, जो आदर्शोन्मुख है— इतिहास, पुराण पर आधृत होने के कारण, किन्तु इधर के नाटक (भुवनेश्वर के "ताँबे के कीड़े" से लेकर वर्तमान समय तक) यथार्थ पर पूर्णतया अवलम्बित हैं। इनमें अपने कथ्य के अनुरूप नयी और सर्जनात्मक भाषा की भंगिमा विशेष तरह की है। आज यथार्थवाद के आग्रह के कारण नाटक में वातावरण निर्माण के लिए बहुत ही कटु, अप्रिय, भयानक स्थितियों का चित्रण किया जाता है, जिसमें परिवेश यथार्थ के रंग को और गहरा कर देता है। जो नाटककार भाषिक परिवर्तन से प्रभावित थे वे भाषा को प्रयोग के स्तर पर सशक्त रूप

देने लगे । ` व्यक्तिगत ` में बोलचाल की शब्दावली से सम्पन्न प्रयोगात्मक भाषा विधान है, किन्तु यथार्थ से पलायन नहीं । सामाजिक कटु यथार्थ से उत्पन्न विद्रोही भावमुद्रा की आस्फालन के रूप में अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उन स्थितियों का निखार अनुभव की गहनता और भाषिक विधान में है । ` मैं ` और ` वह ` के माध्यम से यथार्थ को गतिशीलता मिल सकी है । व्यक्ति की निरर्थकता की विवशता सर्वव्यापी अनुभव है । ` मैं ` का बहुआयामी बिम्ब यथार्थ को अनावृत्त करता है । स्वतन्त्रता के पश्चात् सम्पूर्ण सामाजिक विकृतियाँ— दूसरे की वस्तु हड़प लेने की नियति, यथार्थ की क्रूरता को भोगने की विवशता, सामाजिक शक्तियों के बिखरने की प्रवृत्ति—को ` मैं ` एक तरफ साकार करता है तो दूसरी तरफ वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक पक्ष को उजागर करता है । सभी रूपों में व्यक्ति जीवन की विषमता का सामना कर रहा होता है— ` मैं ` और ` वह ` जितना व्यक्तिगत मामले में परेशान हैं उतना पारिवारिक । ` मैं ` अधिक धन (चाहे जिस तरीके से) प्राप्त करने की आकांक्षा से पीड़ित है तो उसकी पत्नी ` वह ` उसे (` मैं ` को) पति के रूप में प्राप्त करके दु:खी है, क्योंकि ऐसा पति उसके लिए प्रेरणादायक न बनकर उन्नति के मार्ग में बाधक है । स्वार्थी मनोवृत्ति ने पति - पत्नी जैसे निकटतम रिश्ते में दरार कर दी है । इसका सटीक उदाहरण प्रस्तुत है—

` कहीं पढ़ा था आर्थिक स्वतन्त्रता ही बुनियादी स्वतन्त्रता है । पर कहाँ है वह स्वतन्त्रता ? हमारा रहन - सहन, खाना - पीना, पहनना - ओढ़ना, हमारी सारी आदतें उस भूखे गुलाम जैसी हैं जिसे कभी सन्तोष नहीं होता । ` १८

चूँकि परिवार समाज की एक इकाई है इसलिए उसका इन स्थितियों से प्रभावित होना स्वाभाविक है । जिसमें जीवन की सौन्दर्यबोधता, रिश्तों का माधुर्य, कर्तव्य, भावना सब समाप्तप्राय हैं— ऐसे समाज को अपराध, असत्य, शोषण, विश्वासघात आदि भ्रष्टाचार ने चारों तरफ से आबद्ध कर लिया है । ` व्यक्तिगत ` में न कथा-वस्तु है न तो विशेष पात्रों का चयन । संवादों में बिम्बों, प्रतीकों और कार्य-व्यापार द्वारा समकालीन यथार्थ को क्रियाशील किया गया है । यथार्थ की जटिलता और बिखराव को समग्रता में मूर्तिमान किया गया है ।

यथार्थवादी नाटकों में भुवनेश्वर का ` ऊसर ` प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें

जटिल समस्याओं के बीच निरीह मानव की सजीव झाँकी प्रतिबिम्बित हो उठती है। उसी तरह के यथार्थवादी नाटक ' अण्डे के छिलके ' में जीवनानुभवों को पारिवारिक परिदृश्य में रखकर आत्मसात् किया गया है और ठोस जीवन सन्दर्भों में रूपायित किया गया है। इसमें आधुनिक संवेदना की सूक्ष्म पकड़ है। प्रतीकों में बाह्याडम्बर - संस्कारों की स्वीकृति - अस्वीकृति के बीच व्यक्ति का विवादास्पद रूप, उलझनपूर्ण मनःस्थिति, छटपटाहट साकार हो उठी है, जिसमें हरकत की महत्वपूर्ण भूमिका है ' आधे - अधूरे ', ' ताँबे की कीड़े, ' ' ऊसर, ' ' तीन अपाहिज ' में प्रयुक्त हरकत की तरह।

नाटक में निहित यथार्थ का अंकन चित्रात्मक हो या वर्णनात्मक उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना उसका यथार्थ पक्ष। ' हानूश ' नाटक अपनी संरचना में वर्णनात्मक अधिक है, पर उसमें जीवन के यथार्थ का अतिक्रमण नहीं। शिल्प की सादगी, संवादों का पैनापन और घनीभूत तनावों का भावात्मक चित्रण रचनाकार की सच्ची अनुभूति के साथ प्रेक्षक तक सम्प्रेषित होता है— मूल रूप में। यों तो ' हानूश ' में समस्याओं का प्रबल रूप उजागर होता है— परिवार की आर्थिक समस्या, सामाजिक राजनीति और लोलुपता, सत्ता वर्ग का शोषण, पर मुख्य है कलाकार हानूश के माध्यम से एक कलाकार की सृजनेच्छा शक्ति का संकल्प और उसके दरम्यान विवशता, निरीहता और संकटापन्न स्थितियों से जूझते रहना। रचनात्मक संघर्ष का उत्स प्रत्येक रचनाकार की रचना में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में होता है, किन्तु ' हानूश ' में कलाकार का संघर्ष जितना मार्मिक और व्यापक है उतना किसी में नहीं। इसके मूल में रचनाकार की चयन वृत्ति है। रचनाकार की सम्पूर्ण वृत्ति द्वन्द्व और पीड़ा पर केन्द्रित है। पूँजीवादी समाज में कला और कलाकार के व्यक्तित्व का संकट प्रमुख समस्या है। यह विराट् संकट सामाजिक अन्तर्विरोधों, निराशाओं, विनाश की आशंकाओं से युक्त भविष्य, सत्य मानवीय भावनाओं पर प्रहार और सत्ता की पाशविक, विध्वंसात्मक वृत्तियों के उच्छृंखल, विस्फोटक रूप से सघन होता जा रहा है। इन स्थितियों से गुजरना उसकी विवशता बन गई है। मूल्यों और सम्बन्धों की सहजता के विलुप्त होने का कारण आर्थिक अभाव है। हानूश और कात्या निम्न मध्यवर्गीय परिवार का प्रतिनिधित्व करते हैं। पारिवारिक तनाव की उपज आर्थिक संकट से है। ' जो आदमी अपने परिवार का पेट

नहीं पाल सकता उसकी इज्जत कौन औरत करेगी ।` यद्यपि `हानूश` में उसका रूप स्थाई न होकर क्षणिक है, पर वह यथार्थ है । इसमें एक तरफ आर्थिक संकट और राजनीतिक संकट तथा सत्ता की क्रूरता है और दूसरी तरफ उसकी घड़ी बनाने की लगन, कलाकार की सिसृक्षा के बीच हानूश का झूलता कारुणिक व्यक्तित्व शाश्वत सत्य है, जो हृदय को उद्वेलित करता है ।

`छतरियाँ` में यथार्थबोध नेपथ्य की ध्वनियों, प्रतीक वस्तुओं (रंग बिरंगी और छोटी - बड़ी छतरियाँ) द्वारा होता है । सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक , धार्मिक समस्याओं के बीच निरीह मानव समकालीन विसंगतियों का यथार्थ रूप है ।

रचना के प्रकाश में आते ही यह प्रश्न उठता है कि उनका वर्तमान से क्या रिश्ता है ? परिस्थितियों से आधारित नाटक में यथार्थबोध, उसमें निहित जीवन सन्दर्भ में पैठकर किया जा सकता है । ऐसा नाटक मनोरंजन का साधन भर नहीं, बल्कि दायित्व के भार से दबा होता है, जो अवांछित वस्तु का बहिष्कार करता है । यही दायित्व रचना को सशक्त बनाता है । ऐसे में समसामयिक जटिल प्रश्नों - चाहे वह भाषा सम्बन्धी हो या समाज सम्बन्धी - से रचनाकार का टकराना सर्जनात्मक बन जाता है। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति भारतेन्दु ने नाटकों में यथार्थवादी जीवन दृष्टि की परिकल्पना की । `अन्धेर नगरी` इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जिसमें राष्ट्रीय चेतना के साथ समकालीन यथार्थ का व्यापक रूप मूल रूप में सम्प्रेषित होता है । भारतेन्दु के बाद प्रसाद प्रमुख हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने जीवनानुभूतियों को सर्जनात्मक धरातल प्रदान किया । स्वातन्त्र्योत्तर (विसंगत) नाटकों में यथार्थ को बिना किसी बाह्य आवरण के सीधे सम्प्रेषित करने का सफल प्रयास है, जिसके लिए कहीं भाषा का प्रतीकात्मक रूप सक्षम है तो कहीं बिम्बात्मक, कहीं बोलचाल का सामान्य रूप है तो कहीं व्यंग्यात्मक, कहीं अलंकरण है तो कहीं वर्णनात्मकता । मुख्य रूप से रचनाकार भाषा से संघर्ष करता है ।

सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का सशक्त रूप नाटक में निहित यथार्थ जीवन - दृष्टि को उसके आधारभूत तत्त्व से अलग करके नहीं देखा जा सकता, क्योंकि उसका सम्पूर्ण ताना - बाना उसी पर आधृत होता है । आधुनिक नाटकों में यथार्थ जीवन का आधार क्या है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, जिसका मानचित्र रचनाकार की चेतना में सर्वप्रथम

निर्मित होता है, पर बाद में प्रेक्षक में संक्रमित होता है। नाटक में यथार्थ से सम्बन्धित किसी भी प्रकार का विवेचन, विश्लेषण, उपलब्धि, सम्भावना और समस्याओं की जटिल अभिव्यक्ति आधारभूत तत्व के बिना सम्भव नहीं। यथार्थवादी चेतना जैसे - जैसे प्रबल होती गई उसके आधारभूत तत्व बदलते गये। कलात्मक यथार्थ का ग्रहण संवेदना एवं यथार्थ से संश्लिष्ट होता है। यथार्थ का ढाँचा और संवेदना का सूत्र दृश्य यथार्थ के महल को खड़ा करते हैं। संवेदना का मूल रूप अपने अनुकूल नाटक की कथावस्तु का निर्माण करता है और पूरे यथार्थ की संकल्पना अनुभव द्वारा होती है। आधुनिक नाटक का क्रमशः बुनियादी परिवर्तन इस बात को लक्षित करता है कि नयी संवेदनायें अपने मार्ग की तलाश स्वयं कर लेती हैं। संवेदना के रूपान्तरण से ही साहित्य की अन्तर्वस्तु में परिवर्तन होता है, किन्तु बाह्य परिस्थितियों की भाँति साहित्य की प्रवृत्तियाँ शीघ्र नहीं परिवर्तित होतीं। साहित्य की प्रवृत्ति उतना समय लेती है जितनी रचनाकार की संवेदना। संवेदना का रूपान्तरण यथार्थ से बदलते सम्बन्धों का परिणाम है।

रचनात्मक यथार्थपरक दृष्टिकोण में मात्र कल्पना आधार शिला नहीं होती, बल्कि वह समकालीन परिवेश से जुड़कर अनुभव और सर्जनात्मक कल्पना को विस्तार देती हुई निकटतम यथार्थ वस्तुओं को आत्मसात् कर लेती है। यही यथार्थ नाटकों की विशिष्टतम उपलब्धि होती है। यथार्थवादी नाटक सिद्धान्त की लक्ष्मण रेखा में आबद्ध नहीं, बल्कि उसका उन्मुक्त और सहज रूप अन्तर्निहित जटिलता को भेदता है। प्रहसन (' अन्धेर नगरी ') जैसे सहज रूप में समाज की कटु वास्तविकता अभिव्यक्त हुई है। तत्कालीन जटिल यथार्थ का दिग्दर्शन ' अन्धेर नगरी ' में व्यंग्य के भीतर से होता है, जो तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से प्रसूत है। जब जीवन करुणा, त्रासदी और हास्यास्पद स्वांग से अभिशप्त है, तो नाटक किसी तरह उससे वंचित नहीं - न शिल्प के स्तर पर और न मार्मिक स्तर पर। कथ्य और व्यंग्य की प्रभावान्विति समकालीन जटिल जीवन को आर - पार देख सकने वाली जिस प्रखर दृष्टि की अपेक्षा रखती है वह भारतेन्दु में विद्यमान है।

चूँकि अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक जीवन के अधिक निकट होता है क्योंकि अपनी अभिनेय प्रकृति के कारण वह समग्र यथार्थ से साक्षात्कार कराता है- चाहे वह

सुन्दर हो या कुरूप - इसलिए नाटक और यथार्थ के सम्बन्ध में पिछले नाट्य साहित्य में जो कशमकश रही वह स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य साहित्य में नहीं दिखाई पड़ती । किसी वस्तु को कपोल कल्पना द्वारा बढ़ा चढ़ाकर देखने की रुचि यथार्थवादी नाटककारों में नहीं। पुरानी, नयी नैतिकता का टकराव, मूल्यों के संघर्ष को इन नाटकों में सर्जनात्मक अभिव्यक्ति मिली है । पुराने मूल्यों का ढाँचा समकालीन समाज व्यवस्था में इतनी गहराई से जड़ जमा चुका है कि इसे रातोंरात परिवर्तित करने की सामर्थ्य न समाज में है न साहित्य में । परिवर्तन की गति तेज न होकर धीमी है और इसके विभिन्न आयामों को समकालीन नाटक अलग - अलग ढंग से मुखरित करता है । यद्यपि आधुनिक नाट्य साहित्य में यथार्थ की पकड़ उत्तरोत्तर सघन होती गई है, पर एक ही विचारधारा और युगीन परिस्थिति को रचनाकार न तो एक तरह से आत्मसात् करता है, न बिम्बित करता है और न सम्प्रेषित ।

स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य साहित्य में यथार्थ को मुक्त भाव से स्वीकार करने के कारण कल्पना की ऊँची उड़ान और रोमान्टिकता की जगह बौद्धिक चिन्तन ने ग्रहण की तथा यथार्थ पर पड़े आवरण को हटाकर जीवन की कुरूपता को व्यंजित किया गया । इस काल के नाटकों की अधिकतर संख्या ऐसी है जिनकी मूल दृष्टि परिस्थितियों पर केन्द्रित है और इसके आधार पर यथार्थ परिवेश निर्मित होता है । ' ऊसर ', ' पहला - राजा ', ' बकरी ' ये ऐसे नाटक हैं जिनमें यथार्थ को अनुभूति के सँवाद में ढालकर उतारा गया है । ये नाटक यथार्थ के ढाँचे से मुक्त नहीं हैं, पर उनमें मुक्त होने की कोशिश अवश्य है । ' ऊसर ' के संवादों में वह शक्ति है, जिसके द्वारा पूरा का पूरा यथार्थ मानस में स्थाई प्रभाव छोड़ता है । ' पहला राजा ' को नाटककार ने ऐतिहासिक, पौराणिक, यथार्थवादी किसी भी श्रेणी में रखने से इनकार किया है, किन्तु उसमें निहित यथार्थ पर प्रेक्षक कैसे पर्दा डाल सकता है ? ' पहला राजा ' का यथार्थ भोगा हुआ यथार्थ है जैसा भूमिका में व्यक्त किया गया है । इसमें ऐसे यथार्थ का साक्षात्कार होता है जैसे रचनाकार यथार्थ का निरूपण मात्र नहीं कर रहा है, बल्कि उसमें जी रहा है और उसे समग्रता में प्रस्तुत कर रहा है । सत्ता की कुत्सित और शोषण की प्रवृत्ति तथा आम जन जीवन के साथ उसके दुर्व्यवहार से गाँव और शहर दोनों आक्रान्त हैं । ' पहला राजा ' और ' बकरी ' दोनों का कथन लगभग एक है, किन्तु उनकी प्रकृति में अन्तर है । ' पहला राजा ' पौराणिक कथा से

प्रभावित है तो ` बकरी ` लोककथा से । लोक भाषा और व्यंग्य से ` बकरी ` का पूरा यथार्थ प्रकाशित हो उठता है, जिसमें शोषण की पीड़ा को झेलती हुई आम जनता का असन्तोष, विद्रोह, झुँझलाहट और यथास्थितिवादी समाज के विरोध में आत्मविश्वास युक्त निर्णय का कम महत्त्व नहीं है। अन्याय के विरुद्ध साहसपूर्ण विरोध के समानान्तर दर्शक की चेतना चलती है, क्योंकि ये परिस्थितियाँ उसे अपनी लगती हैं। इसमें यदि समकालीन व्यवस्था से सम्बन्धित प्रश्न उठते हैं तो उसका समाधान भी है। ` कुसर ; ` पहला राजा ` तथा ` बकरी ` तीनों नाटकों में अनुभव की समग्रता यथार्थ की आन्तरिक भावभूमि का संस्पर्श कराती है।

यों तो नाटक की क्षमता भाषा की सर्जनात्मकता पर पूर्णतया निर्भर करती है, पर जहाँ पूरा का पूरा यथार्थ संवादों में अंकित कर दिया जाता है वहाँ भाषा की सर्जनात्मकता पर मुहर लग जाती है। मोहन राकेश के ` आधे अधूरे ` में भाषा की लय, संवादों के नाटकीय प्रयोग समकालीन जीवन के घात - प्रतिघातों को नवीन संवेदना में प्रस्तुत किया गया है। नयी संवेदना ने अभिव्यक्ति के नये मार्ग की तलाश की है। मोहन राकेश जैसे प्रयोगशील नाटककार के समक्ष महत्त्वपूर्ण प्रश्न है मानव व्यक्तित्व की पूर्णता की तलाश। उसके पूर्व के नाटकों (` अन्धेर नगरी `, ` स्कन्दगुप्त, ` ` कुसर, ` ` पहला राजा `) में समष्टि में व्यष्टि विलीन था। उसमें पूरी मानवता की तलाश थी न कि अहं भाव की स्वीकृति मात्र। पूर्णता की खोज दर्शन की अपेक्षा अनुभूति, भावात्मक तन्मयता के स्थान पर निर्वैयक्तिक प्रक्रिया, सजी सजाई भाषा की जगह बोलचाल की सरल भाषा में सार्थक हुई। ` अण्डे के - छिल्के ` में जीवन के यथार्थ की सम्भावना कम नहीं है, जिसमें सूक्ष्म तथा विषय संवेदना अनुभव की अद्वितीयता को अक्षुण्ण रख सकी है। ` अण्डे के छिल्के ` यथार्थ के पारम्परिक रूप (कथानक) में आबद्ध है जबकि ` आधे - अधूरे ` में रूढ़ियों को तोड़कर यथार्थ का चित्रण किया गया है। मध्यवर्गीय संस्कारों और आधुनिकता के बीच की तड़प, टूटन और बेचैनी ` अण्डे के छिल्के ` में भाषा की नाटकीय और सर्जनात्मक सम्भावना द्वारा साकार होती है।

समकालीन नाटक और यथार्थ में प्रगाढ़ सम्बन्ध के मूल में दृश्य (दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली सामान्य) वस्तुएँ रही हैं। इन्हीं दृश्य वस्तुओं के बिम्बात्मक प्रयोग और सशक्त हरकतों के कारण नाटक में यथार्थ का अहसास भर नहीं, बल्कि

यथार्थ का साक्षात्कार होता है। " जो कथा दर्शकों के सामने दिखाने के उपयुक्त है, उसमें कुछ ऐसा घटनाक्रम होना ही चाहिए जिसकी अभिव्यक्ति कथोपकथन द्वारा नहीं कार्य - व्यापार द्वारा हो। यदि इस प्रकार के आवश्यक दृश्य नाटककार छोड़ दे या उनका संवादों में ही वर्णन कर दे और दर्शकों के सामने प्रस्तुत न करे तो दर्शक निराश होंगे और उनकी रुचि कम होने लगेगी। " १६ " आधे अधूरे " नाटक में दृश्य वस्तुओं की अस्त व्यस्त स्थिति समकालीन जीवन के बिखराव, तनाव, रिश्ते के खोखलेपन को बिम्बित करती है। बिखरी वस्तुओं को सावित्री द्वारा करीने से रखा जाना जीवन को पूर्णता में देखे जाने की बेचैनी है। पुरुष द्वारा अखबार पढ़ने की क्रिया सत्य से मुँह छिपाने की सक्रिय कोशिश है। अशोक के माध्यम से कैंची द्वारा तस्वीर काटने की क्रिया समकालीन मूल्यों का विघटन है। इसी तरह टिन का डिब्बा, रबर स्टैंप, बस्ता ऐसे प्रतीक हैं, जो यथार्थ की सांकेतिकता को प्रकट करते हैं। " छतरियाँ " ध्वनि नाटक होने के बावजूद इस दृष्टि से सम्पन्न है। " ताँबे के कीड़े " में यथार्थ को ध्वनित करने में झुनझुना, रिक्शे की घंटी, सीटी के नाटकीय प्रयोग का निर्णायक महत्त्व है।

भाषा और अनुभव की परिपक्वता में यथार्थ की समग्रता का अवलोकन " तीन-अपाहिज " में होता है। इसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति निरी भावुकता से अलग वैज्ञानिक कोटि के आत्मनियन्त्रण से युक्त है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या " तीन अपाहिज " में यथार्थ की भूमि पर पहुँचने का उपक्रम मितकथन द्वारा सम्भव हो सका है? साधारण और सीमित वस्तुओं में व्यापक अनुभूति को अभि - व्यंजित किया गया है। " तीन अपाहिज " में प्रयुक्त विसंगत भाषा द्वारा जीवन की विसंगति और उससे उत्पन्न संत्रास, क्षोभ का उद्घाटन मात्र नहीं है, बल्कि यहाँ अनुभव विभिन्न आयामों में स्थान पा सका है।

आधुनिक नाटककार कहीं यथार्थ अनुभव को आस्थावान (प्राचीन मूल्यों के प्रति) बनकर मर्यादित ढंग से व्यक्त करता है तो कहीं उसके प्रति संशयशील बनकर। " तिल-चट्टा " में यह संदेहास्पद स्थिति रचनाकार की अनुभूति की नहीं, बल्कि विसंगत स्थितियों में सत्य को न पहचान पाने की कसक है। युगीन यथार्थ के आतंकित क्षणों में, विज्ञान की अभिशप्त सम्भावना में, मूल्य, मर्यादा और संस्कृति के विघटन में सत्य

को न झेल पाने की विवशता में व्यथित मन की शंका तथा त्रासदी " तिलचट्टा " में साकार हो उठी है। इस त्रासदी को मुद्राराक्षस ने सत्य की ज्योति के रूप में स्वीकार नहीं किया, लेकिन उनमें समकालीन विघटन के बीच डूबती अस्मिता के अहसास द्वारा सत्य को झेल पाने की सामर्थ्य अवश्य है। यह निष्ठा अन्य सर्जकों की निष्ठा के समानान्तर है या नहीं यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना युग जीवन के सन्दर्भ को व्यंजित करने का नया और सशक्त आधार प्रतीक योजना। इस अभिजात रूप में प्रतीकों का संक्रमण सरल से कठिन होता गया है इसे इनकार नहीं किया जा सकता, पर उनमें अर्थ उकेरने की विपन्नता नहीं।

समकालीन नाटकों में ऐसी संख्या अधिक है, जिसका विषय मध्यवर्ग से जुड़ा हुआ है। संवेदना का नया रूप उसे अधिक निकट से देखने, समझने और अनुभव करने का अवसर प्रदान करता है। " व्यक्तिगत " युगीन समस्याओं - प्रेम विवाह, शासक की हिंसक मनोवृत्ति तथा अन्य विकृत स्थिति को झेलती मध्यवर्गीय दुनिया की बेचैनी को नया अर्थ देता है। जटिल यथार्थ को सम्प्रेषित करने की क्षमता " व्यक्तिगत " में अपूर्व है। इसमें यथार्थ को व्यंजित करने का आधार अनुभूतिपरक उतना नहीं है, जितना भाषा के नये संस्कार में यथार्थ मुखर हुआ है। यद्यपि इस भाषिक प्रयोग के कारण नाटक में अपेक्षित संवेदना की शिथिलता अवश्य लक्षित होती है, पर ऐसे स्थान बहुत कम हैं। भाषा के नवीन प्रयोग में यथार्थ को रूपायित करने का उत्साह रचनाकार को अतिरिक्त महत्त्व देता है।

आधुनिक नाटकों में निस्संगता, विसंगतियों से मुक्ति की छटपटाहट के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं, जिनसे संवेदना के परिवर्तन की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। नियति की यथावत् स्वीकृति और उससे सम्बन्धित वेदना को यथार्थ - चित्रण के अवलम्बन द्वारा मूल्यों को स्थापित करने का निर्णय जीवन की गतिशीलता को द्योतित करता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो समकालीन नाटकों में खण्डित यथार्थ समग्रता में स्थान पा सका है, क्योंकि यथार्थ के अन्तर्गत यदि असत्य आता है तो सत्य भी आता है। पाप की कालिमा है तो प्रकाशपुंज है। समकालीन नाट्य साहित्य के यथार्थ में जीवन की कुरूपता व्यंजित हुई है सुन्दरता नहीं। यह तो निर्विवाद सत्य

है कि जटिल स्थितियों की क्रूर आकृति ने जीवन की सौन्दर्यमयता को ढक लिया है, किन्तु उसका कुछ प्रकाश तो अवश्य है, जो सत्य से जूझने की शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति सर्जनात्मक भाषा में निहित होती है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या प्रकाश का कुछ अंश भी यथार्थ की सीमा में नहीं आता ? अन्धकार को ही नाट्य साहित्य में जीवन की नियति मान लिया गया है ? यदि ऐसा नहीं है तो दूसरा पक्ष क्यों नाट्य साहित्य में अस्पृश्य बनता जा रहा है ? क्या प्रश्नों के अम्बार में नया नाटक लाचार और विवश व्यक्ति को देखने का आदी हो चुका है ? ऐसे में प्रश्नों के समाधान का सम्बल विसंगतियों से जूझने की नयी शक्ति प्रदान करता है जैसे " बकरी " में।

।। सन्दर्भ ।।

१- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ-७३
२- गोविन्द चातक : नाट्यभाषा : पृष्ठ - ८५
३- सं० शिवप्रसाद मिश्र (रुद्र काशिकेय):भारतेन्दु ग्रन्थावली : पृष्ठ - १७६
४- डॉ० गिरीश रस्तोगी : समकालीन हिन्दी नाट्यकार : पृष्ठ - १८४
५- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - ३२ - ३३
६- जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : पृष्ठ - १३४
७- वारफील्ड : साहित्य का मूल्यांकन (जजमेण्ट इन लिटरेचर का हिन्दी - अनुवाद): पृष्ठ - ३०
८- डॉ० नित्यानन्द तिवारी : (सं० उदयभानु सिंह, हरभजन सिंह, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव) साहित्य अध्ययन की दृष्टियां : पृष्ठ - ५५
९- जयशंकरप्रसाद : स्कन्दगुप्त : चतुर्थ अंक : पृष्ठ - १०६
१०- सुरेन्द्र वर्मा : तीन नाटक : पृष्ठ - ६०
११- जगदीशचन्द्र माथुर : पहला राजा : पृष्ठ - ६३
१२- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - १०२
१३- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १७३
१४- डॉ० रघुवंश : समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता : पृष्ठ - ४६
१५- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - २०
१६- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : तीन अपारिचय : पृष्ठ - २०
१७- पूर्वग्रह : मार्च - जून १६७८ पृष्ठ - ३६
१८- लक्ष्मीनारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य ७ पृष्ठ - ४२
१९- (सं० देवीशंकर अवस्थी) साहित्य विधाओं की प्रकृति : नाटक का विधान : बेंडर मैथ्यूज अनुवाद - इन्दुजा अवस्थी

पंचम अध्याय

प्रतिनिधि नाटकों की भाषा का व्यावहारिक अध्ययन

।। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — अन्धेर — नगरी ।।

शताब्दियों की परम्पराओं, रूढ़ियों और सांस्कृतिक पद्धतियों में पूर्णतया जकड़ी हुई भाषा में मौलिक अन्तर उपस्थित करना भारतेन्दु के संघर्षशील व्यक्तित्व का द्योतक है। भारतेन्दु के समक्ष जहाँ तत्कालीन सांस्कृतिक आवश्यकताओं का प्रश्न व्यापक है, वहीं भाषा की सर्जनात्मकता का आग्रह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अतः उनका भाषिक - चिन्तन सांस्कृतिक आवश्यकताओं से सम्पृक्त है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता और यही भारतेन्दु को श्रेष्ठ नाटककार साबित करता है। कर्तव्य के प्रति सुप्त जनता में राष्ट्रीयता एवं अन्य मानवीय मूल्यों के संचरण के लिए रचनाकार ने सशक्त भाषा की नाड़ी को पहचाना। इस सन्दर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा की अवधारणा इन शब्दों में अभिव्यक्त हुई है— " भारतेन्दु ने खड़ी बोली के हिन्दी रूप को सँवार कर हमारी जाति की सांस्कृतिक आवश्यकतायें पूरी की। इस हिन्दी के कारण यहाँ की जनता भी अन्य प्रदेशों के साथ संस्कृति की एक सामान्य दिशा में बढ़ने में समर्थ हुई। भारतेन्दु के साहित्य में परम्परागत साहित्यिक धाराओं के साथ नये युग की राष्ट्रीय एवं जनवादी संस्कृति की धारायें आ मिलीं।"[१]

नाट्य भाषा अपने सहज से सहज रूप में भी अत्यधिक सक्रियता प्राप्त कर सकती है, इस विश्वास को सुदृढ़ करने के लिए भारतेन्दु प्रणीत " अन्धेर नगरी " (१८८१ई०) का व्यावहारिक अध्ययन पर्याप्त होगा, क्योंकि किसी रचना को महत्त्वपूर्ण साबित करने में उसकी भाषा का विशेष योगदान होता है। " अन्धेर - नगरी " राजनीतिक प्रहसन है, जिसमें अंग्रेजी राज्य की अन्धेरगर्दी भाषा की पुष्टता के साथ चित्रित हुई है, और मात्र इतना ही नहीं, बल्कि समसामयिक समस्याओं का निदान कर भारत - उद्धार की आकांक्षा भी व्यक्त की गई है। सम्पूर्ण समस्याओं की मूल जड़ राजकीय अव्यवस्था है। यह नाटक का केन्द्रबिन्दु है, जिसके चारों ओर नाटकीय परिवेश चक्कर लगाता रहता है। भारतेन्दु की भाषा इस प्रहसन में अपने चरम रूप में परिलक्षित होती है, यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है— " भारतेन्दु जी जनता की नाड़ी पहचानते थे। उन्होंने प्रहसन का ऐसा आख्यान निकाला, जो ग्रामीण जनता को रुचिकर भी हो और लोगों की रुचि को परिमार्जित भी कर

सके। शब्दावली उन्हीं के घर की हो, पर सुरुचिपूर्ण हो।" [2]

"अन्धेर - नगरी" में बोलचाल की शब्दावली का इतना सुसंगत प्रयोग हुआ है कि भाव और भाषा का तारतम्य कहीं टूटने नहीं पाया है, बल्कि उसकी वेगवती धारा आद्योपान्त प्रवाहित होती गई है। गोवर्धनदास का संवाद इसका सटीक उदाहरण है——

"हाय! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरु जी ने कहा था कि - ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना। अरे इस नगर का नाम ही अन्धेर नगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब बचने की कौन आशा है।" [3]

ये पंक्तियाँ शोक और पश्चात्ताप के भावों को जागृत करने में पूर्णतया समर्थ हैं। "हाय" शब्द दुःख और पश्चात्ताप का बोधक है। अतः भाषा की सर्जनशीलता शब्द - सुप्रयोग पर निर्भर करती है। "सरल भाषा का प्रयोग कैसे किया जाये कि उसमें महत्त्वपूर्ण बातों का भार ढोने की ताकत आ जाये। यह तभी मुमकिन है जब भाषा का चुनाव ऐसे हो कि हर शब्द सही और साफ़ मानी दें।" [4]

सामान्य जन - जीवन में प्रचलित शब्दों के स्वाभाविक प्रयोग में भारतेन्दु सिद्धहस्त रहे हैं। ऐसे में कहीं - कहीं शब्दों का तोड़ - मरोड़ भी किया गया है। "उपवास" की जगह "उपास" "मोटा होना" की जगह "मुटाना" शब्द इसका उदाहरण है।

"अन्धेर - नगरी" के रचनाकार का दृढ़ विश्वास है कि सुरुचिशील नाट्य - भाषा के लिए शब्दगत सौन्दर्यता उतनी आवश्यक नहीं है, जितनी पात्रानुकूल एवं स्वभावानुकूल शब्दावली। "अन्धेर नगरी" में यदि विभिन्न पात्रों का समावेश है, तो उनमें प्रकृति की विविधता भी है। पात्रों के इस प्रकृति - वैविध्य को भाषा की विविधता के साथ अभिव्यंजित किया गया है। हलवाई के संवाद में उसकी प्रकृति स्पष्ट झलकती है——

"घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चभाचभ। ले भूरे का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका। पापड़ पड़ाका।

ऐसी बात हलवाई जिसके हुच्चि कौम हैं भाई । जैसे कसकरी के विलस मन्दिर के भितरिये, वैसे अन्धेर नगरी के हम । " ५

" आप्लावित" और " सराबोर " शब्दों का प्रयोग " चमाचम " की जगह हो सकता था, किन्तु लोक प्रचलित शब्द में अर्थ की अधिक शक्ति का समावेश है । " आप्लावित " और " सराबोर " शब्द मात्र अर्थ की दृष्टि से समृद्ध हैं, जबकि " चमाचम " शब्द में अर्थ समृद्धि और ध्वनि - सौन्दर्य दोनों का समाहार है । " कड़ाका ", " पड़ाका " शब्द भी अर्थ और ध्वनि से सम्पृक्त हैं, और भारतेन्दु के तुकान्तप्रिय व्यक्तित्व को उजागर करते हैं । एक प्रसंग को दूसरे रूप में मोड़ देने की प्रक्रिया भारतेन्दु की भाषिक-प्रौढ़ता को उद्घाटित करती है । मिठाइयों की विशेषता बताते-बताते हलवाई का अपनी निम्नता जाति के प्रति गहरी आलोचना व्यक्त करना उस बात की पुष्टि करता है । " पछताय " तद्भव शब्द है, जो भाषा की प्रकृति को द्विगुणित करता है ।

अन्धेर नगरी में पात्रों की एक विशिष्ट श्रेणी है, जो व्यक्तिगत स्तर पर नहीं, बल्कि सम्पूर्ण वर्ग की रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों को यथार्थ ढंग से रूपायित करती है। " जातवाला ब्राह्मण " इसका उदाहरण है । वह पैसे के लिए निन्दित कार्य करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करता । पेट के लिए वह धर्म, मर्यादा, सच्चाई सब कुछ बेचने के लिए तैयार है । पेट ही उसके समक्ष सर्वोपरि है । पेट के लिए वह जीता है । उद्धृत पंक्तियों में तत्कालीन ठेकेदार ब्राह्मणों के कुकृत्यों का पर्दाफ़ाश हुआ है, जिसको भारतेन्दु की भाषा ने साकार किया है—

" एक टका दो हम अभी जात बेचते हैं । टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें । टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तानी, टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें । टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें । वेद, धर्म्म , कुल, मरयादा , सचाई, बड़ाई सब टके सेर । " ६

तत्कालीन स्खलित संस्कृति का सशक्त चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है, और भा

में ग्लानि उत्पन्न करके अधिकतम सीमा तक जनता के अन्दर राष्ट्रीय भावना का संचार करने में भी सहायक है। बंगला का ' टके ' शब्द अपने में अर्थ सम्पदा का समावेश करता चलता है। ' लिए ' की जगह ' वास्ते ' का प्रयोग सरलता की दृष्टि से सशक्त बन पड़ा है। ' अन्धेर - नगरी ' में प्रयुक्त पात्रानुकूल भाषा भरतमुनि द्वारा निरूपित नाट्य - भाषा - दृष्टि से अनुप्राणित है, क्योंकि भारतेन्दु जी किसी प्राचीन नियम को चकनाचूर नहीं करना चाहते थे, बल्कि पुरादर्शों को जड़ से हटाकर नवादर्शों को ग्रहण करने के पक्षपाती थे। डॉ० दशरथ ओझा का मन्तव्य इस कथन को अधिक पुष्ट करता है—

" भारतेन्दु जी किसी भी परम्परा का बहिष्कार तथा संहार नहीं करना चाहते थे। यह नाटक सम्भवतः उन्हीं अपढ़ लोगों को दृष्टि में रखकर किया गया है, जिनकी शब्दावली अति परिमित होती है और जिन्हें सीधे - सादे व्याख्यान के द्वारा प्रहसन देखने का अभ्यास है। घटनायें उन्हीं के घर घटित होने वाली हों, पर कला से वंचित न हों। " ७

तत्कालीन पतनोन्मुख भारतीय संस्कृति को जहाँ ठेकेदार ब्राह्मण और पतन के गर्त में गिराते हैं, वहीं महन्त जी जैसे ब्राह्मण हैं, जो शिष्यों द्वारा माँगी गई भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते हैं और विवेकहीन शिष्य को उपदेश देने के साथ - साथ संकट के समय उबार लेते हैं। उनके अन्दर ईश्वरीय शक्ति है तभी तो वह भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं को सही बताने में समर्थ होते हैं, भले ही लोभ के वशीभूत होकर ' गोबर्धन ' जैसे शिष्य उनकी बातों का समर्थन न करें—

" बसिये ऐसे देस नहिं, कनक वृष्टि जो होय।
रहिये तो दुख पाइये, प्रान दीजिए रोय।। " ८

इस दोहे के माध्यम से विद्वानों की विद्वता का सही मूल्यांकन, लोभ संवरण करने की शिक्षा मिलती है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये पंक्तियाँ दोहे के रूप में अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जितनी क्रियाशील बन पड़ी हैं, उतनी शायद गद्य - रूप में न बनतीं। जहाँ भी ऐसे स्थल आये हैं, वहाँ संस्कृत शब्दों का भी दिग्दर्शन होता है। ' वृष्टि ' संस्कृत शब्द है। यह अर्थ की धारा में बाधक

नहीं है, बल्कि रचनात्मक स्रोत को प्रवाहित करता है। अतः भरतमुनि द्वारा स्वीकृत ब्राह्मणोचित भाषा का प्रयोग बड़ी दक्षता के साथ किया गया है। भारतेन्दु ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किया है, जबकि प्रसाद किसी निश्चित सीमा में आबद्ध नहीं हैं।

सर्जनात्मक एवं स्वाभाविक आवश्यकता से प्रेरित होकर तद्भव शब्दों एवं मुहावरों का व्यवहार भारतेन्दु की मौलिक भाषा में बड़ी सतर्कता के साथ हुआ है, और तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों एवं भारतीयों के प्रति अंग्रेजों के अमानवीय व्यवहारों को तीक्ष्णता के साथ अभिव्यंजित करता है। इस अभिव्यक्ति में रचनाकार का अपना ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतवासियों की तरफ से अंग्रेजों के प्रति व्यंग्य है। उद्धृत पंक्तियों में भाषा की सर्जनात्मक सम्भावना चरम सीमा पर पहुँच गई है—

" चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया ।।
चूरन ऐसा हट्टा कट्टा । कीना दाँत सभी का खट्टा ।। " [6]

हिन्दू द्वारा बनाया गया चूर्ण भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन को खण्डित करता जाता है। इसमें अंग्रेजी शासन के प्रति बहुत गहरी व्यंजना है। तत्सम शब्द " चूर्ण " का प्रयोग जन सामान्य की बोली में " चूरन " किया गया है, जिसको तद्भव की संज्ञा दी जा सकती है। भाषा को सहज, बोधगम्य एवं प्रभावशाली बनाने के लिए " दाँत खट्टे करना " मुहाविरा का प्रयोग सार्थक बन पड़ा है। " हट्टा - कट्टा " में चूर्ण की शक्ति, सामर्थ्य उद्भाषित हुई है, और हट्टा - खट्टा आदि शब्दों में भारतेन्दु के तुकान्तप्रिय व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक है।

भारतेन्दु के मानस में नाट्य भाषा को लेकर जितना अन्तर्द्वन्द्व परिलक्षित होता है उतना समकालीन किसी अन्य लेखक में नहीं। उनका यह रूप " अन्धेर नगरी " के विविध पात्रों के विविध भाषा रूपों में प्रस्फुटित हुआ है। ऐसी अभिव्यक्ति भारतेन्दु की संवेदनशीलता की व्यापकता के साथ - साथ उन्मुक्त व्यक्तित्व को चरितार्थ करती है। वाक्यों में निहित अन्तराल से उनकी भाषिक क्षमता नये ढंग से अंकुरित होती है, जिसमें ध्वनि सौन्दर्य का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं। प्रस्तुत पंक्तियों में यह द्रष्टव्य है—

' मई नीबू से नरंगी । मैं तो पिय के रंग न रंगी । मैं तो भूखी लेकर उंगी । नरंगी ले नरंगी । कंवला, नीबू, रंगतरा, संगतरा । दोनों हाथों लो— नहिं पीछे हाथ मलते रहोगे । ' १०

नरंगी के साथ - साथ ' न रंगी ' का प्रयोग कर, भारतेन्दु ने शब्दों की पुनरावृत्ति से स्वयं को बचाया है । ' नरंगी ' शब्द में ' न ' और ' र ' के बीच कुछ अन्तराल कर देने से अर्थ परिवर्तित हो गया है । ' न रंगी ' में अर्थ का अधिक समावेश है, जबकि नरंगी मात्र अपने तक सीमित है । नरंगी वाली पारिवारिक परिवेश में स्वयं को नियन्त्रित नहीं करती, बल्कि आर्थिक परेशानी फेलती हुई नरंगी बेचने के प्रति तटस्थ है । यहाँ समकालीन समस्या के विराट रूप का दिग्दर्शन होता है । यही मूलकारण है कि ' अंधेर नगरी ' में रचनाकार की लेखनी बार - बार ऐसी समस्याओं का स्पर्श करती है, और विभिन्न रूपों में उसका साक्षात्कार कराती है— परतन्त्र जनता का चित्रण और उसके उद्धार की कामना । नरंगी वाली अपने व्यवसाय के लिए स्वयं को समर्पित कर दी है और सांसारिक सुख से वंचित है । ' मई नीबू से नरंगी '— सौन्दर्य के विलास का सूचक है । ' रंगी ' में व्यवसाय के प्रति अटूट लगाव है, क्योंकि वही तो उसके जीवन का आधार है । इन छोटी - छोटी व्यात्मक पंक्तियों में व्यवसाय का चित्र जैसे जीवन की वास्तविकता को उपस्थित कर देता है, किन्तु उसकी भाषा बाजारू नहीं । एक तरह से व्यवसाय का यह रूप रचनाकार की प्रगाढ़ अनुभूति के साथ - साथ जीवन के वैविध्य को अंकित करता है । व्यावसायिक और व्यक्तिगत जीवन की टकराहट, भाषिक संरचना में अर्थ के नये आयाम को विकसित करती है,और सामाजिक व्यक्ति का संघर्षमय जीवन गतिशील हो उठता है । यही तो जीवन की सम्यता है, जिसको आधुनिक नाटककारों ने अपनी रचना का आधार बनाया है । व्यवसाय - जिससे व्यक्ति प्रतिदिन जूझता है, वह भी नीरस और सपाट नहीं, बल्कि ऐसी तमाम समस्याओं से संघर्ष करने के लिए एक अजीब उत्साह है । ' रंगतरा ' और ' संगतरा ' शब्द तुकान्त हैं । ' हाथ मलते रहना ' मुहाविरा अर्थ - कोण में वृद्धि करता है, जैसे इसकी अनुपस्थिति में इन पंक्तियों की भाषिक क्षमता हाथ मलती रह जाती । अत: इस उद्धरण में सर्वहारा वर्ग की परवशता मस्तिष्क पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ती है ।

' अन्धेर नगरी ' में कहीं - कहीं उर्दू शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो जन -

प्रचलित शब्दावली में इस तरह घुल - मिल गये हैं कि मन को उलझन नहीं है। यों तो बोलचाल की सामान्य शब्दावली का प्रयोग प्रसाद ने भी किया है; पर प्रयोग का कलात्मक ढंग उनका अपना है। प्रसाद की तरह भारतेन्दु को सामान्य शब्दावली के प्रयोग के लिए किसी विशेष प्रकार की मन:स्थिति नहीं बनानी पड़ी। प्रस्तुत पंक्तियों में उर्दू शब्दों का समाहार देखा जा सकता है, जिससे उसकी भाषिक क्षमता स्थिर न होकर तीव्र वेग से परिचालित होती है।

" यह तो बड़ा गज़ब हुआ, ऐसा न हो कि बेवकूफ़ इस बात पर सारे नगर को फूँक दे या फांसी दे।" ११

रचनाकार अधिक से अधिक भाषा की सजीवता से बचना चाहता है। इसके लिए जन प्रचलित शब्दावली एक मात्र उपाय है, चाहे वह जहाँ से भी लेनी पड़ी हो। " गज़ब " और " बेवकूफ़ " उर्दू शब्द हैं, और अभिव्यक्ति शक्ति का सन्निवेश करते हैं।

भारतेन्दु जैसे रचनाकार के लिए तत्सम, तद्भव, उर्दू शब्दों और मुहावरों से सन्तुष्ट हो पाना सम्भव न था। नाट्य भाषा के सन्दर्भ में उनकी विशेष चिन्ता सहज से सहज रूप में अनुभव सम्प्रेषण की रही है। यही कारण है कि उनके अनुभव की समग्रता किसी विशिष्ट वर्ग तक सीमित न होकर सभी वर्गों के जीवन में व्याप्त हो गई है। ऐसे में अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को भी उन्होंने खुलेआम लिया है। यह उनके उन्मुक्त व्यक्तित्व का प्रतीक है। उन्मुक्त व्यक्तित्व की उन्मुक्तता प्रस्तुत पंक्तियों में देखी जा सकती है----

" चूरन खावैं एडीटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात ॥

— — — — —

चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते ॥" १२

शब्दावली चाहे किसी भाषा की हो, पर महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि वह अपने रचना - विधान में कितना खप पा रही है---- अनुभव सम्प्रेषण की दृष्टि से। " एडीटर " और " पुलिस " अंग्रेजी शब्द होने के बावजूद अलग से आरोपित नहीं लगते। विरोध शासक से है, न कि उसकी भाषा से। भाषा सभी अपने में श्लाघ्य

है। इन शब्दों द्वारा तत्कालीन समाज की क्रूर अव्यवस्था अपने यथार्थ रूप में मानस-पटल पर अंकित हो जाती है। सामान्य से सामान्य पात्र के कथन में विशेष भावों की अभिव्यक्ति रचनाकार की विशेष उपलब्धि रही है। `पाचक वाला` चूर्ण बेचने के बहाने सशक्त शब्दों द्वारा समकालीन व्यवस्था पर तीक्ष्ण आघात करता है। हिन्दू जनता द्वारा बनाये गये चूर्ण का प्रयोग कर, अंग्रेज भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन को खोखला करते हैं, और उनके क्रूर कर्मों की परतों को भारतेन्दु की भाषा क्रमशः उकेरती जाती है। सूक्ष्म स्तर पर पतन के गर्त में गिरती हुई जनता के प्रति यह एक सम्बोधन है। जनता अपने वर्तमान में जो कार्य कर रही है वह ठीक कर्तव्य के विपरीत है। ऐसा नहीं है कि वह अपने कर्म से संतुष्ट है। वह अपनी पीड़ा का कारण समझ रही है, पर किंकर्तव्यविमूढ़ है। कुछ क्षण के लिए, जब तक भारतेन्दु की रचनात्मक `अन्धेर नगरी` में भ्रमण नहीं करती। तत्कालीन सरकार पुलिस नेक-विवेक, कानून सब पचा जाती है। यह अभिव्यक्ति किसी सीमित दायरे में न रहकर, सम्पूर्ण भारतवासियों की तरफ से अंग्रेजी शासन के प्रति बहुत बड़ी चुनौती है। `चूरन` तद्भव शब्द है, जो संस्कृत के तत्सम शब्द `चूर्ण` से बना है। भाषिक संरचना में `चूरन` शब्द अधिक सटीक है। यह तुकान्त पंक्तियों में अपनी सत्ता को विलीन कर देता है। `पाचक वाला` अपढ़ व्यक्ति `चूरन` और `पुलिस` जैसी लोक प्रचलित शब्दावली का ही तो प्रयोग करेगा। `बात न पचना` लोकोक्ति है, जो रचनाकार की पात्रानुकूल और लोकोन्मुखी भाषा दृष्टि को प्रतिध्वनित करती है।

बाह्य जिन्दगी की अव्यवस्थात्मक कुरूपता रचनाकार के अन्तर्मन को मात्र स्पर्श नहीं करती, बल्कि उसकी संवेदनशीलता पर कुठाराघात करती है, वे संवाद चाहे पात्र के व्यक्तिगत अनुभव से सम्पृक्त हों, या कि व्यावसायिक अनुभव से, अथवा राजनीतिक परिवेश से संश्लिष्ट हों। इस प्रक्रिया में भाषिक संरचना व्यंग्यात्मक शैली में परिचालित होती है। गोबर्धन दास के स्वगत गान में समसामयिक स्थिति का चित्र प्रतिबिम्बित हुआ है—

> " सांच कहैं ते पनही खावैं। झूठे बहुविधि पदवी पावैं।।
> छलियन के एका के आगे। लाख कहौ एकहु नहिं लागै।।" १२

`पनही` देशज शब्द है, जो लोकोन्मुखी भाषा के अनुकूल है। यह ऐसा

समाज है जहाँ सत्य का कोई मूल्य नहीं है, और इतना ही नहीं ऐसा व्यक्ति (सत्यवादी) अपनी स्थिति पर नहीं छोड़ा जाता बल्कि रचनाकार के शब्दों में " फनही " खाता है। ऐसे समाज में दुष्टों की संख्या अधिक है, इसलिए एकाध ईमानदार व्यक्तियों का जीना दूभर हो गया है।

" अन्धेर नगरी " में प्रारम्भ से ही अंग्रेज शासक के अमानवीय व्यवहारों पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त कर, भारतवासियों को कर्तव्य पथ पर उन्मुख करने की दृष्टि रखा रही है, जिसको सक्रियता प्रदान करने के लिए व्यंग्य और जन - जीवन में प्रचलित शब्दावली का कलात्मक संश्लेषण किया गया है। भारत के अन्न पर पलकर अंग्रेज शासक भारतीयों पर अत्याचार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। हिन्दुओं की सम्पूर्ण पीड़ा चना बेचने वाले घासीराम के शब्दों में कराह उठी है—

" चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लाते।।" १५

घासीराम के हाथों का बना चटपटा चना अंग्रेज हाकिम बड़े चाव से खाते हैं, और उन पर दूना टैक्स लाने में भी नहीं चूकते। यह कहाँ का न्याय है ? इससे अधिक अन्याय नहीं हो सकता। यह पंक्ति पाठ - प्रक्रिया में जितना सीधा और सपाट प्रतीत होता है, अर्थ की सम्भावनाओं में उतना ही बेजोड़ है। अधिक गहरी पीड़ा छिपाई नहीं जा सकती। वह किसी न किसी बहाने मुखरित हो जाती है,तभी तो घासीराम चना बेचते समय भी अपनी दयनीय अवस्था का आभास दे देता है। वह अपढ़ व्यक्ति है, इसलिए अंग्रेजी शब्द " टैक्स " के स्थान पर " टिकस " का प्रयोग करता है। " टिकस " शब्द तत्कालीन समाज में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों की उच्चारणगत विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करता है।

भारतेन्दु ने राजसभा में भी व्यंग्य द्वारा तत्कालीन शासन पर तीक्ष्ण आघात किया है, जिसके द्वारा उन्होंने आधुनिक नाट्य - साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान हासिल किया। अंग्रेजी राज्य में अपराधी कोई होता है, और उसके अपराध का दण्ड कोई दूसरा भोगता है। अंग्रेज शासक का मस्तिष्क इतनी सूक्ष्मता से विचार नहीं कर पाता कि जो अपराध करे वही दण्ड पाये। तत्कालीन समाज में प्रदिप्त अमानवीयता का चरम रूप प्रस्तुत पंक्तियों में मुखरित हुआ है।

" हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी

पकड़ कर फाँसी दे दी, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याय न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें।" १५

व्यंग्य में हास्य का पुट देने से भाषा में किसी तरह की खरोंच नहीं आने पायी है। किसी मोटे आदमी को उसके अनजान में प्यादों द्वारा पकड़कर लाया जाना और मात्र मोटे होने की वजह से फाँसी मिलना बाह्य स्तर पर हास्य की सृष्टि करता है। इस हास्य सृष्टि का उद्देश्य पाठक को हँसाकर छोड़ देना नहीं है, बल्कि हँसाकर रचनाकार की गहन अनुभूति से सामन्जस्य स्थापित करवाना है। हँसकर छोड़ देने मात्र से पाठक - वर्ग रचनाकार के व्यंग्य - चित्र में प्रवेश करने से वंचित रह जायेगा। इन पंक्तियों की गहराई में पैठकर विचार किया जाय तो तात्पर्य यही होगा——

" अन्धेर नगरी " ऐसी नगरी है जहाँ बेकसूर भोली जनता अन्यायी शासक के अन्याय का शिकार होती है। " न्याय " की जगह " न्याव " का प्रयोग रचनाकार की जन प्रचलित भाषा का परिचायक है।

प्रहसन अपने समय की नयी उपलब्धि है, जिसमें व्यंग्य एवं हास्य द्वारा रचनाकार अभीप्सित मन्तव्य को व्यक्त करता है। " अन्धेर नगरी " उच्चकोटि का प्रहसन है। समाज की जटिल समस्याओं को सरल भाषा में अंकित करने की जो दृष्टि इस प्रहसन में मिलती है, वह तत्कालीन किसी अन्य में नहीं। " अन्धेर - नगरी " की सबसे बड़ी विशेषता है— उसकी स्तरात्मक भाषा। सभी अपने - अपने अनुरूप अर्थ की भावभूमि का संस्पर्श करते हैं, चाहे वह युवा वर्ग हो, या कि युवातर वर्ग हो, अथवा वृद्ध वर्ग। बच्चे जहाँ इसके अभिधात्मक अर्थ से पूर्णतया संतुष्ट हो लेते हैं, वहीं आलोचक अर्थ की तहों को उकेरने के साथ - साथ नई दृष्टि पाते हैं। गोबर्धनदास का मिठाई की दुकान देखकर खुश होना, अत्यधिक मोटा होना, और सिर्फ मोटे होने की वजह से प्यादों द्वारा फाँसी पर लटकाने के लिए ले जाया जाना, बच्चों के लिए हास्यास्पद है, किन्तु अपने सूक्ष्म रूप में यह सत्ता के अव्यवस्थित रूप का निदर्शन है। " अन्धेर नगरी " का तात्पर्य सत्ता से है। जहाँ सत्ता रहेगी, वहाँ अन्धेर नगरी होगी। पर ऐसी नगरी उपेक्षिता बनकर लेखक की लेखनी से वंचित नहीं होगी। उसमें भी भारतेन्दु जैसे प्रत्येक

ईमानदार रचनाकार रचनात्मक यात्रा करेंगे और उस गहन अन्धकार से संघर्ष करके आलोक पुंज को फैलायेंगे ।

' अन्धेर नगरी ' प्रहसन और ' अन्धायुग ' आधुनिक नाट्यनाटक दोनों में मात्र सत्ता का अंधापन चित्रित होता है । ' अन्धेर नगरी ' जहाँ प्रहसन है, वहीं ' अंधायुग ' गम्भीर नाटक है । भारतेन्दु और धर्मवीर भारती दोनों रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य समकालीन सत्ता के अव्यवस्थित रूप का चित्रण रहा है, किन्तु ढंग अपना अलग - अलग है । मुक्तिबोध की कविता ' अंधेरे में ' का उद्देश्य भी सामाजिक समस्या को प्रकाश में लाना रहा है, किन्तु वह अपनी विधा में अलग है । यों तो संश्लिष्ट समस्याओं के चित्रण में भाषा का गम्भीर होना स्वाभाविक है, पर गम्भीर समस्या का अंकन यदि सरल और सशक्त भाषा में हो, तो बात अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जैसा ' अन्धेर नगरी ' के रचना विधान का वैशिष्ट्य है । ' अन्धेर नगरी ' मानवमूल्यों के विखण्डन की चरम परिणति है । इस प्रक्रिया में नगरी का अंधेरापन (या सम्पूर्ण पीड़ा) रचना में आद्योपान्त व्याप्त है, क्योंकि अंधेरे में वेदना का रूप अधिक उग्र हो जाता है । यह रचनात्मक और मनोवैज्ञानिक सत्य है । ' अन्धेर नगरी ' की भावभूमि का संस्पर्श भारतेन्दु, मुक्तिबोध और भारती ने एक साथ न करके अलग - अलग खण्ड और रूप में किया है ।

अधम से अधम पात्र को नायकत्व प्रदान करना भारतेन्दु के व्यक्तित्व की नयी उपज है । यह दृष्टि संस्कृत की प्रचलित परम्परा का अतिक्रमण करती है । ऐसे पात्र जहाँ समसामयिक मानव जीवन की विकृतियों को उद्घाटित करते हैं, वहीं अपने - अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं । इस सीमा के अन्तर्गत संवादों की क्रियाशीलता विकसित होती चलती है । ऐसे में सत्य का कलात्मक रूप सामने आया है । ' अन्धेर-नगरी ' के चौपट राजा की भाषा से उसकी मूढ़ता का अनुमान सहज ही हो जाता है, जिससे नाटक के आद्योपान्त हास्य की सृष्टि होती रहती है । इस प्रक्रिया में समसामयिक शासन का अव्यवस्थित रूप यथार्थ के धरातल पर खुलकर सामने आया है । प्रस्तुत उद्धरण में हास्य रस की सुन्दर योजना द्रष्टव्य है—

" सेवक— पान खाइए महाराज ।

राजा— (पीनक से चौंककर घबड़ाकर उठता है) क्या कहा ? सुपनखा आई ए

महाराज । (भागता है) ` १६

राजा और सेवक का संवाद किसी गम्भीर मुख पर तात्कालिक हँसी लाने में समर्थ है । ` पान ` के पहले ` सु ` लगाकर और पा की आ मात्रा को निकाल कर ` खाई ` बना है । ` र ` को सम्बोधन रूप में परिवर्तित करके ` पान खाइये महाराज ` की जगह ` सुपनखा आई ए महाराज ` रचनाकार के कलात्मक प्रयोग का सफल उदाहरण है । सूक्ष्म स्तर पर ये पंक्तियाँ राजा के भयभीत स्वभाव का साक्षात्कार कराती हैं। राजा रानी से डरता है, इसलिए सुपनखा के नाम से चौंक उठता है । अतः शब्दों में निहित अक्षरों के स्थानान्तरण से हास्य की सुन्दर सृष्टि हुई है ।

` अन्धेर नगरी ` में हास्य का रूप उन्मुक्त है । इसके लिए कहीं अक्षरों के हेर-फेर से नवीन शब्द की रचना की गई है, तो कहीं भाषिक वैभिन्य से । ऐसी मनः-स्थिति में राजा कल्लू बनिया से कहता है— ` क्यों बे बनिए । इसकी लरकी नहीं बरकी क्यों मर गई ? १७

` बकरी ` के स्थान पर ` बरकी ` का प्रयोग हास्य सृष्टि के उद्देश्य से किया गया है । यह प्रयोग उद्देश्य की सिद्धि करने में तत्पर है । ` बरकी ` बोलकर राजा अपनी मूर्खता को भी सामने रखता है ।

` अन्धेर नगरी ` में तुक द्वारा हास्य की योजना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है, जिससे अनायास हँसी की रेखा स्पष्ट हो जाती है और पाठक स्वयं को हल्का महसूस करने लगता है । राजा के संवाद के एक अंश को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—
` क्यों बे भिश्ती । गंगा - यमुना की किश्ती । इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गयी । ` १८

हास्य सृष्टि में जितना सहयोग तुक का है उससे कहीं अधिक विपरीत वाक्यार्थ का । ` दीवार गिर पड़ी और बकरी दब गई ` की जगह ` बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ` हास्य की दृष्टि से सशक्त है ।

` अन्धेर नगरी ` में भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन की मूल्यवत्ता टके से आँकी गई है । पतनोन्मुख संस्कृति को मापने के लिए इस (टके) से अधिक सटीक शब्द सम्भवतः

नहीं हो सकता, या होगा तो अर्थ की इतनी विराटता को अभिव्यंजित नहीं कर सकता। यों तो वेद - धर्म, कुल - मर्यादा, सच्चाई - बड़ाई आदि का मूल्य टके से भी कम प्रतीत होता है, क्योंकि घासीराम, नरंगीवाली, हलवाई, पाचवाला आदि के द्वारा जो मूल्य बताया गया है, उसमें भी एक तरह की जापरवाही बरती गई है। इस बात की पुष्टि के लिए गोवर्धन दास और दुकानदारों का सशक्त संवाद है—

'गो० दा०— (कुंजड़िन के पास जाकर) क्यों माई, भाजी क्या भाव ?

कुंजड़िन—बाबा जी, टके सेर। निबुआ, मुरई, धनियाँ, मिरचा, साग सब टके सेर।

गो० दा०— सब भाजी टके सेर। वाह वाह! बड़ा आनन्द है। यहाँ सभी चीज टके सेर। (हलवाई के पास जाकर) क्यों भाई हलवाई ? मिठाई कितणे सेर ?

हलवाई - बाबा जी! लड़ुआ, हलुआ, जलेबी, गुलाबजामुन सब टके सेर।' १६

क्रिया पद का लोप भाषा में अधिक अर्थ-सम्पदा को समाहित करता है, और भारतेन्दु की भाषा में शब्द मितव्ययता की दृष्टि को उजागर करता है। 'नीबू', 'मिर्चा,' 'मूली' की जगह 'निबुआ', 'मिरचा', 'मुरई' का प्रयोग क्षेत्र-उच्चारण की दृष्टि से है, जो अपनी स्वाभाविकता में बेजोड़ है। वाह वाह! मनोभावाभिव्यक्ति मूलक शब्द है, यह गोवर्धनदास की खुशी को पूर्णतया उभारने में समर्थ है। 'सब' में हल्की खिन्नता के साथ - साथ थोड़ा ठहराव भी है, जो तत्कालीन परिस्थितियों को खोलकर सामने रख देता है।

'अन्धेर नगरी' के प्रारम्भिक भजन में राम की उदात्तता की साकार अभिव्यंजना हुई है, जिसके मूल में रचनाकार की गहरी आस्तिकता रही है। राम का स्मरण आवश्यक है, यदि किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करनी है तो—

'राम के भजे से गनिका तर गई,
राम के भजे से गीध गति पाई।
राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भजन बिनु सबहि नसाई।।' २०

अत्यधिक कष्ट के समय व्यक्ति ईश्वर को ही सहायक समझता है—चाहे वह सूर,

तुलसी, भारतेन्दु जैसे महान रचनाकार हों या कि अकिंचन। इसमें जो सन्तोष, आनन्द है वह अन्यत्र नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है ईश्वर स्मरण से प्रेरणा मिलना— सामाजिक विकृतियों से मुकाबिला करने की। राम महिमा का चित्रांकन मध्यकालीन कवियों ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए किया, जबकि भारतेन्दु ने इहलौकिक जीवन के लिए आवश्यक समझा। मध्यकालीन विचारधारा और आधुनिक विचार-धारा समसामयिक परिस्थितियों से अनुप्राणित है। भारतेन्दु पुनर्जागरण काल के रचनाकार हैं, जिसकी विशेषता जातियों की टकराहट, संस्कृतियों की टकराहट और सम्पूर्ण मनुष्य की कल्पना है। सम्पूर्ण मनुष्य में धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि भाव निक्षिप्त हैं। मध्यकालीन संस्कृति की विशेषता वैराग्य, परलोक की धारणा और मोक्ष है, जबकि पुनर्जागरण में इहलोक और जीवनप्रियता पर बल दिया गया। अतः इस भजन से भारतेन्दु की आधुनिक विचारधारा मुखरित हुई है।

'अन्धेर नगरी' में महन्त विशिष्ट पात्र है। जहाँ महन्त जी अपने शिष्यों को किसी गम्भीर विषय की शिक्षा देते हैं, वहाँ उपदेशात्मकता की वृद्धि आ गई है। प्रस्तुत उद्धरण द्रष्टव्य है, जिसमें गोबर्धनदास को ही लोभ करने की शिक्षा नहीं दी गई है, बल्कि सभी लोग इससे सीख ग्रहण करते हैं —

> 'लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
> लोभ कभी नहिं कीजिए, यामें नरक निदान।।' २१

यह छन्दबद्ध संवाद तत्कालीन समय में जितना उपयोगी था, उतना आज भी है और जब तक समाज रहेगा तब तक इसकी उपयोगिता ताजी रहेगी। ऐसे संवाद में साहित्यिक शैली का प्रयोग तटस्थ भाव से किया गया है।

'अन्धेर नगरी' में महन्त ऐसा पात्र है, जिसकी वक्तृत्व कुशलता अन्य चरित्र के हृदय को परिवर्तित कर देती है। उसमें यदि ज्ञान है, तो उसको उद्घाटित करने के लिए समृद्ध भाषा - संसार भी है। महन्त की वाग्मिता शक्ति—'राजा! इस समय ऐसा साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जायगा' २२ से अन्याय की प्रतिमूर्ति पात्र अपने अस्तित्व को सदा के लिए मिटा देते हैं। राजा के कथन— 'चुप रहो,

सब लोग, राजा के आहत और कौन बैकुंठ जा सकता है"[23] में हिन्दू समाज में व्याप्त अन्याय को विलुप्त करने की कामना है।

यहाँ "आहत" शब्द राजा की उपस्थिति मात्र का सूचक न होकर सामाजिक अन्याय एवं बुराइयों का पोषक है।

"अन्धेर नगरी" के अन्त में भरत वाक्य का प्राविधान किया गया है, क्योंकि उसमें सर्वभूत - हित मंगल - कामना का भाव निहित है—

"जहाँ न धर्म्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजान समाज।
ते ऐसेहि आपुहि नसे, जैसे चौपट राज ।। २४

इस प्रकार "अन्धेर नगरी" प्रहसन का भाषा - विधान मूलतः संस्कृत नाट्य परम्परा के अनुसार संचालित होता है, क्योंकि भारतेन्दु ने प्राचीन नींव पर अपनी आधुनिक विचारों को टिकाया।

भारतेन्दु की ग्राहिका शक्ति श्लाघ्य है। संस्कृत नाट्य परम्परा के प्रति उनका मोह मात्र मोह प्रदर्शित करने के लिए नहीं था। संस्कृत नाट्य परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करके वह आधुनिकता के पक्षपाती रहे। इसकी पुष्टि "नाटक" पुस्तक से हो जाती है— "नाट्य काव्य, दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं क्योंकि जो प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मत पोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी।" २५

यों तो नाट्य साहित्य की परम्परा बहुत पुरानी है पर भारतेन्दु काल से साहित्यिक नाटक यथार्थ के धरातल पर अवतरित हुआ। भारतेन्दु पूर्व नाटक का रूप लोक नाट्य था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में लिखा "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।" २६

आधुनिक शिष्ट नाट्य के प्रवर्तन का श्रेय भारतेन्दु को है उसमें भी "अन्धेर नगरी" प्रहसन की नई शुरुआत का योगदान गुणात्मक है। यह प्रहसन नाम मात्र से आधुनिक नहीं है, बल्कि इसमें भारतेन्दु की आधुनिक दृष्टि समाविष्ट है। उनकी आधुनिक

दृष्टि की परिचायक सर्वप्रथम सर्जनात्मक भाषा है। ब्रज भाषा पद्य की जगह भारतेन्दु ने जन प्रचलित भाषा खड़ी बोली को अपनी रचना का आधार बनाया, जो उस समय में एक बड़ी चुनौती थी। अतः उनका क्रान्तिकारी रूप भाषिक - क्षेत्र में भी सक्रिय था।

' अन्धेर नगरी ' में पात्रों की प्रकृति और उच्चारणानुकूल बोलचाल के शब्दों का सर्जनात्मक प्रयोग संवेदना की अभिवृद्धि करने में समर्थ हुआ है। " साधारण व्यवहार में भाषा के सर्वस्वीकृत और समूचे अर्थ को ग्रहण किया जाता है, जब कि साहित्य में शब्द की किसी नयी वैकल्पिक और विशिष्ट छाया की सर्जना होती है।"[२७] 'अन्धेर-नगरी' में भारतेन्दु की भाषा सम्प्रेषणीयता की चरम सीमा पर पहुँचकर परतन्त्र जनता को कर्तव्य के लिए तत्पर करती है।

॥ स न्द र्भ ॥

१- डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : पृष्ठ - ७८

२- डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : पृष्ठ - १८१

३- सं० श्री शिवप्रसाद मिश्र : भारतेन्दु ग्रन्थावली : प्रथम खण्ड : पृष्ठ - १८२

४- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - ७५

५- सं० श्री शिवप्रसाद मिश्र : भारतेन्दु ग्रन्थावली : प्रथम खण्ड : पृष्ठ - १७०

६- ,, ,, पृष्ठ - १७१

७- डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : पृष्ठ - १८१

८- सं० श्री शिवप्रसाद मिश्र : भारतेन्दु ग्रन्थावली : प्रथम खण्ड : पृष्ठ - १७३

९- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७०

१०- ,, ,, ,, पृष्ठ - १६९

११- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७७

१२- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७०

१३- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७९

१४- ,, ,, ,, पृष्ठ - १६९

१५- ,, ,, ,, पृष्ठ - १८०

१६- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७५

१७- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७६

१८- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७७

१९- ,, ,, ,, पृष्ठ - १७१-१७२

२०- ,, ,, ,, पृष्ठ - १६७

२१- ,, ,, ,, पृष्ठ - १६८

२२- ,, ,, ,, पृष्ठ - १८३

२३- ,, ,, ,, पृष्ठ - १८४

२४- ,, ,, ,, पृष्ठ - १८४

२५- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : नाटक : पृष्ठ - १३

२६- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ - ३०८

२७- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : भाषा और संवेदना : पृष्ठ - १०४

॥ जयशंकर प्रसाद — ` स्कन्दगुप्त ` ॥

प्रसाद विकसनशील प्रतिभा के रचनाकार हैं। उनके नाटकों में भाषा की सर्जनात्मक क्षमता उत्तरोत्तर निखरती गई है। ` सज्जन ` (सन् १६१०) से लेकर ` कल्याणी परिणय, ` प्रायश्चित, ` राज्यश्री, ` विशाख, ` जनमेजय का नागयज्ञ, ` अजातशत्रु, ` स्कन्दगुप्त, ` ` चन्द्रगुप्तमौर्य, ` ` ध्रुवस्वामिनी ` (सन् १६३३) तक प्रसाद की भाषिक सर्जनात्मक क्षमता सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में संक्रमित होती गई है। ` स्कन्दगुप्त ` अपने में ऐसा नाटक है, जो अपनी भाषिक क्षमता के आधार पर प्रसाद को रचनाकारों की सर्वोत्कृष्ट श्रेणियों में ला खड़ा करता है।

प्रसाद - प्रणीत ऐतिहासिक नाटक ` स्कन्दगुप्त ` का रचनाकाल सन् १६२८ ई० है जिसमें भाषा के प्रचलित संस्कार को अपने ढंग से निखारने का आग्रहपूर्ण प्रयास है। ` स्कन्दगुप्त ` में हूण - विद्रोह - काल के माध्यम से समसामयिक खण्डित मानवीय मूल्य, पतनोन्मुख धर्म एवं संस्कृति का उद्घाटन किया गया है। और राष्ट्रीय भावना के उंवरण द्वारा देशवासियों को कर्तव्यपथ की ओर उन्मुख करने की समस्या प्रमुख रही है। इस अन्तरंग और बाह्य जटिलता की उदात्त अभिव्यक्ति के लिए स्कन्दगुप्त जैसा उदात्त चरित्र रचनाकार के लिए वरेण्य है। इतिहास और कल्पना के सानुपातिक प्रयोग में समकालीन जीवन के अनुभव को जोड़कर वर्तमान और भविष्य के मार्ग निर्देशन की सक्रिय कोशिश है। " इतिहास केवल अतीत नहीं है। इतिहास से ही वर्तमान जीवन सम्भव है।" १

प्रसाद ने अपनी जिस नवीन बौद्धिक चेतना को छायावाद के रूप में नया मोड़ दिया, उसमें व्यापक स्तर पर भाषिक आन्दोलन का भी समावेश था। " राष्ट्रीय आन्दोलन और जन - जागरण की युग चेतना बाह्य स्तर पर जितनी सक्रिय थी, उतनी वह राष्ट्र के अन्तर्मन को आन्दोलित किये हुए थी। इस प्रकार मानव हृदय की गहराई में उसके मानसिक और भावात्मक जीवन में घटित होने वाली क्रान्ति युग का ही नहीं, उसकी भाषा का भी कायाकल्प करने को सन्नद्ध थी।" २ प्रगाढ़ अनुभूति और भाषा में समानता छायावादी नाट्य - भाषा की विशिष्टता कही जा सकती है, जिससे रचनाकार की अनुभूति की गहराई तक पाठक का प्रवेश सम्भव है। प्रसाद की नाट्य - भाषा सामान्य से विशिष्ट होती गई है। यही कारण है कि, उनकी भाषा के

शाब्दिक अर्थ मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ जा सकता । अर्थ की असीमित सम्भावनाओं के कारण प्रसाद की भाषा में गद्य और पद्य भाषा का परम्परिक अन्तर हल्का पड़ गया। अत: भाषा की सर्जनात्मक क्षमता के प्रवाह को देखते हुए ` स्कन्दगुप्त ` नाटक अपने रचना - संगठन में प्रौढ़ है, यह बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा जा सकता है ।

नाटक मूलत: संवादों में होता है । संवाद में भाषा की विशिष्ट भंगिमा समाहित रहती है । यही कारण है कि उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि साहित्य की विविध विधाओं में रचनाकार को जितनी भाषिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता रहती है, उतनी नाटककार को नहीं । संवाद की शिथिलता नाटक को असफल सिद्ध कर सकती है । नाटक में नाटकीय परिस्थितियों के अनुरूप संवादों का कसाव अपेक्षित होता है ।

चूँकि संवाद का अस्तित्व वक्ता और श्रोता पर पूर्णतया आश्रित होता है,इसलिए उसमें भाषा का प्रवाह, बोल - चाल का गुण अपेक्षित है । बोल - चाल की भाषा में यथार्थ का अधिक आभास होता है । क्लिष्ट साहित्यक भाषा में अधिक सर्जनात्मक क्षमता होती हो, यह आवश्यक नहीं । " बोलचाल की भाषा अलग होते हुए भी अपने में एक पूरी भाषा है और उसमें नाटक की कलात्मक भाषा बनने के सभी गुण मौजूद हैं ।[3] ` स्कन्दगुप्त ` में बोलचाल की भाषा का बड़ा सक्षम प्रयोग हुआ है—

भटार्क : कौन ?
शर्वनाग : नायक शर्वनाग ।
भटार्क : कितने सैनिक हैं ?
शर्वनाग : पूरा एक गुल्म ।
भटार्क : अन्त:पुर से कोई आज्ञा मिली है ?
शर्वनाग : नहीं ।
भटार्क : तुमको मेरे साथ चलना होगा ।
शर्वनाग : मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ ?
भटार्क : महादेवी के द्वार पर ।
शर्वनाग : वहाँ मेरा क्या कर्तव्य होगा ? [4]

पात्रों से स्वभावानुकूल भाषा का सशक्त प्रयोग प्रसाद - भाषा की विशेषता

कही जा सकती है। दार्शनिक और काव्यमय पात्रों की भाषा गम्भीर और सैनिक कोटि के (शर्वनाग, भटार्क, कमला) पात्रों की भाषा सामान्य शब्दावली से युक्त है। ' सरलता और क्लिष्टता पात्रों के विचारों और भावों पर निर्भर करती है।'[5] ऐसी स्थिति में डा० दशरथ ओझा द्वारा क्लिष्टता, कृत्रिमता और अस्वाभाविकता का आरोप लगाना असंगत है— ' प्रसाद सभी प्रकार के कथन को अलंकृत करने के पक्ष में हैं, चाहे वह यथार्थवाद और स्वाभाविकता से पूर्ण बद भले ही न हो। यही कारण है कि उनकी संवाद योजना में जितना कवित्व है, उतना वाग्वैदग्ध्य नहीं; जितनी गम्भीरता है, उतनी सरलता नहीं ; जितना चमत्कार है, उतनी स्वाभाविकता नहीं ; जितनी भावात्मकता है, उतनी सम्भाषण पटुता नहीं।'[6]

यह ठीक है कि ' स्कन्दगुप्त ' में अधिकतर क्लिष्ट भाषा का प्रयोग प्रसाद ने किया है, किन्तु पात्रों के स्वभावानुकूल उसका प्रयोग हुआ है। स्कन्द, देवसेना जैसे चिन्तनशील पात्रों के मुख से मनोभावों की अभिव्यंजना अत्यन्त सरल शब्दावली में नहीं हो सकती।

संवाद या तो तत्सम शब्दावली में हो जैसा कि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की स्थिति है, या तद्भव शब्दावली में, प्रवाह पहली शर्त है। ' स्कन्दगुप्त ' में जहाँ भी तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है भाषिक प्रवाह में कहीं भी अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ। इस सन्दर्भ में बन्धुवर्मा का संवाद उल्लेखनीय है—

' देवी ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं ; परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी ; उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलम्ब निःशेष था, तब उन्हीं स्कन्दगुप्त ने रक्षा की थी ; यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।'[7]

पुष्करणाधिपति, स्वत्वाधिकारी आदि संश्लेषणात्मक शब्दों का प्रयोग रचनाकार ने भाषा की सर्जनात्मक आवश्यकता से प्रेरित होकर किया है। ये शब्द प्रसाद की मितव्ययी - भाषा के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

को अभिव्यक्ति देती है। ` आशा की आँधी ` रूपक स्कन्द के जीवन के प्रति नैराश्य भाव को अभिव्यक्त करता है। प्राप्य वस्तु न पाकर स्कन्द अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों से निराश होता है, जिसका सजीव चित्रण उद्धृत उदाहरण में हुआ है। ` वन्ध्या ` शब्द कामना की विफलता को रूपायित करने में सक्षम है। ` हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से?` में विरोधाभास है। अन्तःकरण के आलिंगन को उसकी तृष्णा में प्रसाद ने अभिव्यक्त किया है।

प्राचीन नाटकों में स्वगत कथन का प्रयोग स्वाभाविकता की दृष्टि से सक्षम माना जाता था, किन्तु आधुनिक युग में—जब यथार्थवादी नाटकों की रचना हुई तब स्वगत को मार्मिक - संवेदना में बाधक समझा गया। स्वयं प्रसाद ने स्वगत शैली पर व्यंग्य किया—` जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, वह दर्शक समाज या रंगमंच सुन लेता है, पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उनको भरत बाबा की शपथ है।` [९] इसके बावजूद प्रसाद ने स्वगत कथन का प्रयोग किया। शेक्सपीयर ने स्वगत का खूब प्रयोग किया है। प्रसाद पर भी इसका प्रभाव पड़ा। पात्रों की एक विशेष श्रेणी के लिए स्वगत का प्रयोग किया गया है। गम्भीर, दार्शनिक, एकाकी प्रकृति वाले पात्र— स्कन्द, देवसेना आदि मुख्य रूप से इस कोटि में आते हैं।

स्कन्द और देवसेना का चरित्र इतना जटिल है कि इनकी अभिव्यंजना स्वगत कथनों द्वारा हो सकती थी, जैसा प्रसाद ने किया है। अतः जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का यह मन्तव्य—` स्वगत की योजना सर्वथा दोषपूर्ण ही होती है, यह न मानते हुए भी उन स्वगत कथनों की सार्थकता नहीं सिद्ध की जा सकती, जिसमें पात्र केवल इसी अभिप्राय से जमकर बैठा दिखाई पड़ता है—` [१०] असंगत प्रतीत होता है। स्वगत कथनों के अभाव में स्कन्द के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को उसकी सूक्ष्मता से समझना लगभग असम्भव सा है। स्कन्द का यह स्वगत कथन तत्कालीन विघटित मूल्यों और पतनोन्मुख भारतीय संस्कृति को यथार्थ रूप में उद्घाटित करता है—

` करुणा - सहचर! क्या जिस पर कृपा होती है उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो? नाथ! मुझे दुःखों से भय नहीं। संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की

छल्या नहीं । वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है। परन्तु ----- यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं।' ११

स्कन्द के कथन में प्रसाद की आस्तिक मनोवृत्ति साकारता ग्रहण कर सकी है, जो इधर के नये नाटकों में नहीं परिलक्षित होती। अधिक तनाव की स्थिति में व्यक्ति ईश्वर का स्मरण करता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है, जिसको स्वगत में अभिव्यंजित करना अधिक सार्थक था। अतः 'स्कन्दगुप्त' में यह स्वगत कथन स्वाभाविक बन पड़ा है, जिसमें समृद्ध शब्दावली का बहुत बड़ा हाथ है। 'वैभव' का शाब्दिक अर्थ तो है ही, साथ ही यह देश की धर्म, संस्कृति एवं मूल्यों की विराटता को विस्तार देता है। 'सिर पर ठीकरा फूटना' लोकोक्ति अर्थ - समृद्धि का समावेश करती है। 'आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था' वाक्य में देश प्रेम की गहरी व्यंजना हुई है, जो नाटक की मूल समस्या है।

'स्कन्दगुप्त' में दो प्रकार के पात्रों का समावेश किया गया है, जिनकी भावनाओं के अनुसार स्वगत कथन में शब्दों के सजग प्रयोग का आग्रह प्रमुख है। ऐसी स्थिति में यह कहना—'काव्यमय तथा चिंतनपूर्ण संवादों तथा स्वगत कथनों में एकरसता है और उनमें भाषिक और नाटकीय वैविध्य नहीं है'—[१२] निराधार लगता है। 'कामायनी' की श्रद्धा की समकक्षता देवसेना करती है और इड़ा की विजया। यदि देवसेना की प्रकृति में सात्विक गुणों का समावेश है, तो विजया में राजस गुण विद्यमान है। विजया के अन्तर्गत प्रतिहिंसा का भाव परिलक्षित होता है। अपने प्राप्य में देवसेना को बाधक समझकर विजया के अन्तर्गत प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठती है, जिसका जीता - जागता चित्रण इन शब्दों में निरूपित किया गया है—

'(स्वगत) भाव - विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी ------ आह! कैसा भोला मुखड़ा है! नहीं, नहीं विजया! सावधान! प्रतिहिंसा ---- (प्रकट) राजकुमारी! देखो यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी? १३

देवसेना एक ओर जहाँ विजया की प्रिय सखी है वहीं दूसरी तरफ अभीप्सित वस्तु में बाधक है। दोनों को सोचकर विजया के अन्दर अन्तर्द्वन्द्व मचता है, जो विजया द्वारा किये जाने वाले कर्म— देवसेना को मरवाने में अवरोध उत्पन्न करता है। अतः विजया का यह स्वगत कथन व्यक्ति के मनोभावों को प्रकट करने में समर्थ हुआ है।

' स्कन्दगुप्त ' में जो बात पात्रों के बीच प्रकट रूप में नहीं होती वह स्वगत कथन द्वारा व्यक्त होती है। अपने बच्चे की मृत्यु का समाचार पाकर शर्वनाग का कथन इन शब्दों में क्रियाशील हो उठा है—

' छीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल के मांस की तरह सेंकने लगे। जिन पर विश्व-भर का भांडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने ?— हूणों ने — लुटेरों ने— लूट लिया। किसने आहों को सुना ?— भगवान ने ? नहीं उस निष्ठुर ने नहीं सुना। देखते हुए भी न देखा। आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यों की दुर्दशा से दुखी होकर; अब नहीं।१४

यहाँ शर्वनाग को मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और स्कन्द के अन्तर्द्वन्द्व में साम्य है, क्योंकि दोनों के मूल में देश की सुरक्षा का जटिल प्रश्न है। स्कन्द के समक्ष देश की सांस्कृतिक सुरक्षा का प्रश्न प्रारम्भ से है। राज्य सत्ता के प्रति उदासीनता भले ही कुछ क्षण के लिए उसे पथ से विचलित करे, किन्तु इतने पर भी उसने युग के संघर्ष में सक्रिय योगदान दिया। शर्वनाग के अन्दर देश - प्रेम, पुत्र - प्रेम के कारण उपजा है, और पुत्र - शोक से पीड़ित होकर वह ईश्वर के अस्तित्व को नकारने में संकोच नहीं करता। अतः यह मनोवैज्ञानिक सत्य है, जिसे रचनाकार ने सशक्त भाषा में चित्रित किया है।' गुदड़ी का लाल ' शब्द - युग्म अत्यन्त निर्धनता की अवस्था को द्योतित करता है, जिससे पितृ - प्रेम की भावना साकार हो उठी है। शर्वनाग के इस स्वगत कथन द्वारा स्कन्द को अन्तर्द्वंद्व के पराजित होने का परिज्ञान होता है। शायद वार्तालाप में यह उतना स्वाभाविक न बन पड़ता, जितना स्वगत कथन के रूप में।

' स्कन्दगुप्त' में गीतों द्वारा आन्तरिक और बाह्य संघर्ष को बड़े ही सर्जनात्मक ढंग से अंकित किया गया है। परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी जनता लम्बे अन्तराल तक

अव्यवस्थित भारतीय संस्कृति को देखकर त्रस्त हो जाती है। इस दयनीय अवस्था में अपने आप पर शंका होती है। देवसेना के अन्तःकरण में संघर्षों का उठता ब्वंडर उसकी सखी के इस गीत में स्वरित हुआ है—

माझी ! साहस है खे लोगे !

जर्जर तरी भरी पथिकों से—
झड़ में क्या खोलोगे ?
अलस नील - घन की छाया में—
जल जालों की छल - माया में—
अपना बल तौलोगे ?
अनजाने तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं ?
ये झटके झेलोगे ? माझी— १५

प्राकृतिक उपादानों पर मानवीय भावों का आरोप जिसमें व्यक्तिगत संघर्ष में देश की विराट समस्याओं का सन्निवेश है। अन्तःकरण को माझी - रूप में सम्बोधित किया गया है जो कर्तव्य - विमुख जनता को साथ - साथ सम्बोधित करता चलता है। 'जर्जर तरी' तत्कालीन अकिंचन संस्कृति को तो ध्वनित करता ही है, साथ - साथ उसकी सम्पूर्ण अव्यवस्था को आँखों के समक्ष प्रतिबिम्बित करता है। 'तरी' शब्द यहाँ अर्थ की जो विशदता प्रस्तुत करता है, वह अन्य शब्द प्रयोग द्वारा नहीं हो सकता था। 'अलस नील - घन की छाया में' बड़ा ही सूक्ष्म बिम्ब है, जिसमें ध्वनि-सौन्दर्य का सहयोग कम नहीं है। अलसाये हुए नीले बादलों की छाया कितनी शान्त और कितनी पवित्र होगी इसका अन्दाज़ शब्दों के सुसंगत प्रयोग से लग जाता है। छल - माया रूपक कबीर के 'माया महा ठगिनि हम जानी' पंक्तियों की याद दिलाता है। 'अनजाने ——— झेलोगे' में देवसेना की स्कन्द के प्रति आसक्ति है। अव्यवस्था के साम्राज्य में देवसेना के मन में अनजाने प्रेम का जो बीज अंकुरित हो रहा है इस आन्तरिक संघर्ष को संश्लिष्ट भाषा पतन के गर्त में क्रमशः गिरती हुई संस्कृति के साथ रूपायित करती है। प्रसाद ऐसे पहले रचनाकार हैं जिन्होंने खड़ी बोली

का सशक्त प्रयोग इन गीतों में किया ।

देश के लिए अपने वैयक्तिक सुखों को बलि देने के बावजूद स्कन्द के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर देवसेना कर्तव्य पथ पर डगमगाने लगती है, ऐसे में कर्म और कर्तव्य के प्रति उसके अन्दर द्वन्द्व मचने लगता है और उसकी अभिव्यक्ति उसके गीतों में होती है । देवसेना के हृदय में उठते अन्तर्द्वन्द्व को गीत सं० १० में बड़े मार्मिक ढंग से व्यंजित किया गया है—

> हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें
> मचलता है बता क्या दूं छिपा तुझमें न कुछ मुझमें । १६

यद्यपि इस गीत में पहले की भाँति शिल्पगत दोहरा रचाव नहीं है, फिर भी देवसेना का अन्तर्द्वन्द्व अपने पूरे विस्तार में अंकित हुआ है । अतः सरल शब्दों के प्रयोग में भाषा की सर्जनात्मक क्षमता कम नहीं होती इस विश्वास को यह गीत सुदृढ़ करता है ।

एकदम नये नाटक (तीन अपाहिज, आधे अधूरे, शनूश) में तो संवादों के बीच का मौन मुखर हो उठता है । प्रसाद में यह मौन नहीं है, पर संवादों का कसाव और चिप्रता है । इस छोटे से संवाद की यह बेजोड़ कसावट दर्शनीय है—

` देवसेना ! समष्टि में भी व्यष्टि रहती है । व्यक्तियों से ही जाति बनती है । विश्वप्रेम, सर्वभूत - हित - कामना परम धर्म है ; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो । इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो ।` १७

संवादों के कसाव में प्रसाद के पात्रों का मानस सामान्य से विशिष्ट, स्थूल से सूक्ष्म और सरल से कठिन की सीमा का संस्पर्श करता जाता है । इस प्रक्रिया में वह संस्कृत की परम्परिक सूक्ति - शैली से अनुप्राणित दिखाई पड़ता है । ` व्यष्टि में भी समष्टि रहती है` जयमाला की यह धारणा सूक्ति रूप में है, जो क्रमशः व्याख्यायित होती है । अपने व्यक्तिगत सुख से वंचित न होने के लिए जयमाला बन्धुवर्मा के अन्दर आत्म-मोह पैदा करना चाहती है, जिसमें शब्द - प्रयोग का सुनियोजित ढंग जयमाला का

देवसेना को सम्बोधित करके बन्धुवर्मा के प्रति अपने मन्तव्य को ज़ाहिर करना, भारतीय मर्यादा को उजागर करता है। `व्यष्टि` और `समष्टि` शब्द संवाद में सौन्दर्य और अर्थ - विस्तार दोनों का समावेश करता है। `विश्वप्रेम, सर्वभूत- हित- कामना` धर्म की विराटता को ध्वनित करता है। अतः भाषिक - सर्जना का यह रूप प्रसाद की भाषा को `अनावश्यक स्फीति` कहने वाले नलिनविलोचन शर्मा को आश्वस्त करता है। जयमाला अपने मन्तव्य को `व्यष्टि में भी समष्टि रहती है` इतने में व्यक्त नहीं कर सकती थी, यदि कर भी लेती तो पाठक की समझ अधूरी रह जाती। धर्म, संस्कृति के विषय पर जो पात्र सूक्ष्म चिंतन करते हैं उनमें इस शैली का होना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। ऐतिहासिक नाटक में भाषिक क्रियाशीलता लाने के लिए यह अपेक्षित है।

प्रसाद मुख्यरूप से ऐतिहासिक नाटककार हैं। ऐतिहासिक नाटकों में रचनाकार इतिहास में प्रख्यात व्यक्तित्व को मानवीय चरित्र देकर समकालीन अनुभव से जोड़ता है, क्योंकि इतिहास में मानवीय चरित्र लुप्त रहता है। भारतेन्दु इतिहास के आलोचक नहीं थे। भारतेन्दु की दृष्टि इतिहास से शिक्षा ग्रहण करना रही है, जबकि प्रसाद इतिहास की नींव पर रचना का सर्जन करते हैं। अन्य नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों में भाषा - प्रयोग की अत्यन्त जटिल समस्या होती है। ऐसे नाटकों में उदात्त शैली से समागत अन्तराल, तत्सम और शिष्टाचार के शब्दों से काल विशेष का बोध होता है। अतः भाषा का क्लिष्ट और उदात्त होना स्वाभाविक है।

`स्कन्दगुप्त` नाटक में समकालीन भाषा से इतर उदात्त भाषा का प्रयोग बड़ी ही सतर्कता से किया गया है, जिससे उसकी ऐतिहासिकता का परिज्ञान बड़ी सहजता से हो जाता है। विस्तृत गुप्त साम्राज्य के अधिकारी कुमारगुप्त थे। उनके विलासी जीवन का कुप्रभाव देश की संस्कृति, धर्म पर पड़ रहा था। देशप्रेमी और कर्मठ पुत्र स्कन्दगुप्त का चिन्तनभाषा की सर्जनात्मकता के साथ प्रस्फुटित हुआ है—

अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार - लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? (ठहरकर) उँह जो कुछ हो,

हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

यह प्रारम्भिक संवाद जहाँ समसामयिक परतन्त्र जनता की अधिकारों के प्रति उदासीनता की झाँकी प्रस्तुत करता है, वहीं स्कन्द की ऐतिहासिकता का भी स्मरण कराता है। स्कन्द की वीरता में कोई सन्देह नहीं, लेकिन उसके साथ - साथ उसके चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता 'अनिच्छा - वृत्ति' है। 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है' वाक्य में शब्दाकर्षण का अर्थ- समृद्धि से वैमनष्य नहीं है। वह विशिष्ट गुणों से युक्त है, लेकिन साधारण व्यक्ति की तरह रहना चाहता है— अधिकारों से स्वतन्त्र। अतः किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में भाषा - गाम्भीर्य अभिप्रेत है।

पर्णदत्त, स्कन्द का विश्वसनीय सहयोगी है, जो निराश स्कन्द में उत्साह भरता है। समसामयिक सन्दर्भ से जुड़कर भी वह स्कन्द को माध्यम बनाकर अपनी ओजस्वी भाषा से अकर्मण्य जनता को कर्तव्योन्मुख होने की प्रेरणा देता है—

' किसलिए ? त्रस्तप्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए, आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज ! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त - साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।' १६

इतिहास और समसामयिक सन्दर्भ की सम्पृक्ति में भाषा की सहजता स्पृहणीय है, जो पात्रानुकूल होने के साथ - साथ राष्ट्रीयता के उत्स को प्रवाहित करती है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की मूल समस्या राष्ट्रीयता की है। इतिहास साधन है और राष्ट्रीयता साध्य। जिसमें सांस्कृतिक पक्ष को स्कन्द, देवसेना, पर्ण, कमला, बन्धुवर्मा आदि पात्रों की समर्थ भाषा यत्र - तत्र उद्घाटित करती है। त्रस्त प्रजा की करुण पुकार सुनाकर, उनको कर्तव्यबोध कराने की सुन्दर प्रक्रिया राष्ट्रीयता और मानवीयता की संश्लेषणात्मक स्थिति को उजागर करती है।

इतिहास प्रमाणित कुमारगुप्त की पदवियाँ— 'महेन्द्रादित्य', 'श्री अश्वमेध-महेन्द्र,' 'श्री महेन्द्र', के सर्जनात्मक प्रयोग से त्रस्त जनता को आश्वासित करने

की दृष्टि कितनी सजग है, इसके लिए प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइये ? परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध पराक्रम श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है।" २०

"परम भट्टारक", "अश्वमेध - पराक्रम", "महेन्द्रादित्य" आदि शब्दों में अर्थ की ओजस्वी छटा व्याप्त है। पूर्वजों के गुणों के संस्मरण द्वारा अकर्मण्य एवं उदासीन व्यक्ति को कर्त्तव्योन्मुख करने की बलवती इच्छा को प्रसाद ने साकार किया है। "सुपालित", "सुशासित" शब्द कुमारगुप्त की राजनीतिक क्षमता को प्रकाशित करता है। पुराणेतिहास काल में "स्कन्दगुप्त" नाटक में इतिहास का सानुपातिक प्रयोग करने का उद्देश्य उस चरित्र से तादात्म्य स्थापित कराना रहा है, क्योंकि पुराण के प्रति आदर और इतिहास के साथ आत्मीयता सम्भव है। स्कन्दगुप्त, पर्णदत्त, कुमारगुप्त, बन्धुवर्मा आदि पात्रों से प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है, जबकि कृष्ण के प्रति आदर और श्रद्धा ही सम्भव है। अतः इतिहास का सजग प्रयोग प्रसाद की गल्प - प्रतिभा को घोतित करता है, जिसमें उदात्त भावना की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। राष्ट्रीयता और प्रेम जैसे उदात्त भावों के प्रकाशन में "स्कन्दगुप्त" में अति नाटकीयता का दिग्दर्शन हुआ है।

ऐतिहासिक नाटककार की संवेदना की सही पहचान, उसकी इतिहास प्रयोग की सजग दृष्टि की पकड़ के लिए काव्यमय, तत्सम शब्दावली का अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है। तत्सम काव्यमय शब्दावली से काल विशेष का बोध अपूर्ण रह जाता है, जब तक शिष्टाचार के शब्दों में रचनाकार ने अपनी संवेदनशीलता का परिचय न दिया हो। कर्तव्यनिष्ठ और पराक्रमी व्यक्ति के सम्बोधन का विशेष ढंग ऐतिहासिक नाटक में इतिहास की पुष्टि करता है। परम भट्टारक, कुमारामात्य, महाबलाधिकृत का सम्बोधन सम्राट, मन्त्री, सेनापति के लिए किया गया है। विषय पति के सहयोगियों को महाप्रतिहार, महादण्डनायक आदि विशेष पदवियों से सम्बोधित किया गया है जो इतिहास प्रमाणित हैं। प्रस्तुत उद्धरण इस कथन का सटीक उदाहरण है—

"धातुसेन : राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया था। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परन्तु

हाँ, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा। रामचन्द्र ने तो, सुना था, जब वे युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था। सम्राट होने पर भी युद्ध।' २१

सम्राट के लिए 'महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक' का लम्बा समासिक काल विशेषण का बोध कराता है, जिसमें रचनाकार का रचनात्मक व्यंग्य संस्कृत भाषा में मुखर हुआ है।

देशज शब्द 'करनी' में अभिव्यक्त अर्थ की विलक्षणता रचनाकार की व्यंग्यात्मक भाषा, प्रयोग दृष्टि को प्रमाणित करती है। 'सम्राट होने पर भी युद्ध' में एक तनाव है जो आश्चर्य प्रकट करने में सक्षम है।

महाबोधि, महाश्रमण, भिक्षु शिरोमणि आदि शब्दों का प्रयोग गुप्तकाल में बौद्ध प्रभाव का सूचक है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'स्कन्दगुप्त' में प्रयुक्त एक - एक शब्द नाटककार की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को प्रकट करता है। वृद्ध और पिता के लिए तात, पुत्र के लिए वत्स, श्रेष्ठ पुरुष के लिए आर्य श्रेष्ठ, और नारी के लिए 'आर्या' के सम्बोधन में भरतमुनि की नाट्यशास्त्र दृष्टि का समर्थन है। 'स्कन्दगुप्त' की भाषा में भारतीय संस्कृति और परम्परा का निर्वाह यथास्थान हुआ है। स्कन्द अपनी विमाता के कुकर्म से क्षुब्ध होकर भी मात्र '[illegible] माता' कहता है और अन्त में उसे क्षमा कर देता है।

सांस्कृतिक परिवेश और सूक्ष्म संवेदनाओं को अपने भीतर आत्मसात् करने में बहुत बड़ी सीमा तक सक्षम होने के कारण 'स्कन्दगुप्त' में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग शैली के रूप में परिलक्षित होता है। इस प्रकार की सर्जनात्मक भाषा के प्रयोगकर्ता जयशंकर प्रसाद को मौलिक रचनाकार किसी विवशता के वशीभूत होकर नहीं कहना पड़ता। काव्यात्मक भाषा का सामन्जस्य नाटक में तीन प्रकार से होता है— कविता और गद्य का अलग - अलग प्रयोग, जैसा कि शेक्सपीयर ने किया, पूरा नाटक कविता के रूप में, जैसा इलियट ने किया, और काव्यात्मक गद्य का प्रयोग। प्रसाद की स्थिति इन तीनों से इतर है। उन्होंने यथास्थान काव्यात्मक शैली का सफल प्रयोग किया। 'कामायनी', 'आँसू' आदि की तरह नाटक में काव्य की छटा मुखर नहीं है, क्योंकि नाटक संवादों

का एक क्रम है। काव्य - रूप की अधिक उद्भावना संवादों में अस्वाभाविकता को प्रश्रय देती है। राष्ट्रीयता के आवेश में, प्रेम के उन्माद में, इतिहास रस की परि-कल्पना में, आदर्शात्मक भावबोध की स्थापना में, स्वगत कथनों के प्रयोग में काव्यात्मक भाषा का दिग्दर्शन होता है। जयमाला के स्वर में काव्यात्मक सौन्दर्य और सशक्त अभिव्यक्ति की सम्पृक्ति द्रष्टव्य है—

" एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु - हृदय कँपा दो। वीर बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान।— आगे, पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे।" २२

" भैरव ------ कँपा दो " में नाद - सौन्दर्य अपनी पूरी संश्लिष्टता के साथ मानस - पटल पर अमिट छाप छोड़ता है। " प्रलय की ज्वाला"— युद्ध की भयानकता का आभास देने में सक्षम है, जो उनके अस्तित्व, और सांस्कृतिक सुरक्षा के लिए समस्याओं से जूझने वाली दृढ़ता को प्रतिफलित करती है। " मध्याह्न का भीषण सूर्य " के प्रयोग में प्रकाश - पुंज की चरम सीमा है, जिसमें चेतना के स्तर पर वीरगति का भाव निहित है। " आगे, पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता में चित्र का साम्य भाव देखने योग्य है।

मालिनी के प्रणय से वंचित मातृगुप्त के कारुणिक संस्मरण में प्रेम की पवित्रता का चित्रण अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। मालिनी से साक्षात्कार होने पर वह वस्तु-स्थिति से अवगत होता है, और उसके भावुक मन को ठेस लगती है। ऐसे में पात्रों की भाषा का काव्यात्मक हो जाना स्वाभाविक है और उसको उसी स्वाभाविकता से अंकित करना रचनाकार की भाषिक विशेषता रही है—

" मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रखा। भूल में ------ आह मालिनी! मेरे शून्य भाग्याकाश के मन्दिर का द्वार खोलकर तुम्हीं ने उनींदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था। तुम्हीं मालिनी! तुमने सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेच डाला।" २३

मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रसाद ने मातृगुप्त की मन:स्थिति का सजीव अंकन किया है,

जिसमें सूक्ष्म स्तर पर सच्चे और निःस्वार्थ प्रेम की व्यंजना हुई है। प्रेम की यह पवित्रता कोरे देवदासियों की स्थिति पर तरस खाने के लिए विवश करती है। 'अंगार की निधि' मुक्तावलि में मालिनी के प्रति मातृगुप्त के सच्चे स्नेह की आकुलता चित्रित हुई है। 'आह' शब्द में मातृगुप्त की पीड़ा कराह उठी है। मातृगुप्त कवि है और उससे पहले एक आदमी। उसके अन्तर में सुप्त प्रेम भाव को मालिनी ने जाकर हरा कर दिया और बाद में उसी मालिनी का प्रेम व्यावसायिक बन गया। मातृगुप्त के प्रेम और मालिनी के इस प्रेम में कितना अन्तर है? एक पवित्र और निःस्वार्थ है, तो दूसरा व्यावसायिक और लोभी। मातृगुप्त के हृदय की पवित्रता 'माम्यालाप के मन्दिर' में अभिव्यंजित हुई है।

इतिहास रस की परिकल्पना में भी काव्यात्मक भाषा का दिग्दर्शन होता है। जहाँ एक दूरी और निकटता या अतीत और वर्तमान दोनों की उन्मापना एक साथ होती है, वहाँ काव्यात्मकता आ जाती है। इसे इतिहास रस की संज्ञा दी गई। इस सन्दर्भ में पर्णदत्त का यह संवाद उल्लेखनीय है—

'अब गुप्त - साम्राज्य की नासीर - सेना में - उसी गरुणध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र - धर्म का पालन करते हुए उसी मान के लिए मर मिटूँ यही कामना है।' २४

'स्कन्दगुप्त' नाटक में संस्कृति के उदात्त मूल्यों की सुरक्षा की समस्या है, और उसी के अनुरूप शब्दों की अर्थ-गरिमा की योजना करके, धर्म, संस्कृति की निश्चितता द्वारा राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने की रचनात्मक बेचैनी है। 'उसी गरुणध्वज की छाया में' कहकर पर्णदत्त अतीत की ओर ध्यान आकृष्ट करता है, और 'मर मिटूँ' में वर्तमान का संकेत है। अतः यहाँ पर इतिहास रस की उद्भावना निश्चित रूप से हुई है। अपने कर्तव्य द्वारा पर्णदत्त ने तत्कालीन अकर्मण्य जनता को कर्तव्य का ध्यान दिलाया है, जो रचनाकार का प्रमुख उद्देश्य है।

यों तो 'स्कन्दगुप्त' नाटक में स्कन्द, पर्णदत्त, चक्रपालित, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, देवसेना, देवकी, जयमाला आदि अनेक देशप्रेमी पात्रों का प्रणयन हुआ है, किन्तु विदेशी पात्रों द्वारा भारत की प्रशंसा में राष्ट्रीयता का आग्रह अधिक मुखर हुआ है। धातुसेन

ऐसा ही पात्र है, भारतीय संस्कृति के प्रति जिसकी दृष्टि श्लाघ्य है। ऐसे भावबोध की स्थापना में काव्यमयी भाषा स्पृहणीय है—

"तुम देखती नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है? एक से एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।" २५

ऊँचे हिमालय पर्वत और विशाल समुद्र के संयोजन से घर की परिकल्पना रचनाकार की कल्पना और भाषा दोनों की उदात्तता को चरितार्थ करती है। इतने बड़े प्राकृतिक घर में, जिसमें प्रकृति की रमणीय छटा की सजावट हो, सौन्दर्य अपने चरम सीमा पर होगा। "एक से एक सुन्दर दृश्य" में प्रकृति की छोटी - बड़ी सभी सौन्दर्यवत्ता विद्यमान है, जो पढ़ने के साथ - साथ परत - दर - परत खुलती जाती है। मुहाविरा, रूपक आदि बिना किसी सहयोग के यह बिम्ब कितना सजीव है यह देखने योग्य है, जिसमें दार्शनिक भाव का समावेश है।

स्वगत कथन के प्रयोग में जनता की पराधीनता की लम्बी अवधि से ऊबकर, रचनाकार की मानसिक खीझ काव्यात्मक भाषा में व्यक्त हुई है—

"देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपनी ज्वालामुखियों को बर्फ के मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता?" २६

पुत्र शोक से दुःखित होकर शर्वनाग की खीझ ईश्वरीय - शक्ति में सन्देह प्रकट करने लगती है, और धीरे - धीरे प्राकृतिक उपादानों को भी तीव्र स्वर से नकारने की प्रबल इच्छा सर्जनात्मक भाषा में क्रियाशील बन पड़ी है। "धधकती हुई नाश की प्रचण्ड ज्वाला" में समसामयिक जनता का दुःख अपनी विकृत अवस्था में आँखों के समक्ष आ जाता है। अन्तिम दो पंक्तियों में व्यंजना है— हिमालय के साथ-साथ अकर्मण्य जनता को भी कर्तव्योन्मुख करने का सफल प्रयास। यों तो इस मनःस्थिति के चित्रांकन में रचनाकार का भाषा - व्यक्तित्व मोटे तौर पर मध्यकालीन कवियों से अनुप्राणित दृष्टिगोचर होता है। (मधुबन तुम कत रहत हरे) किन्तु समसामयिक जटिल अनुभव का बिम्ब के रूप में निरूपण प्रसाद की [illegible] उपलब्धि है। हिमालय— जिसकी

ज्वालामुखियाँ बर्फ की परतों से आच्छादित हैं, और वह परतें मोटे चादर का आभास कराती हैं, वह अपनी धर्म, संस्कृति के प्रति निष्क्रिय है। धधकती हुई नाश की प्रचण्ड ज्वाला का असर उसकी निष्क्रियता पर होना चाहिए यदि नहीं होता तो उसको उसी ऊँचाई से नहीं खड़ा रहना चाहिए अर्थात् शर्म से झुक जाना चाहिए। सूक्ष्म स्तर पर कर्तव्य के प्रति सुषुप्त जनता को भी यही करना चाहिए। यह पूरा भावचित्र कई तत्त्वों से निर्मित हुआ है, और उसका आपसी सम्बन्ध सम्पूर्ण सौन्दर्य बोध को अधिकाधिक गहरे और सूक्ष्म स्तर पर विकसित करता है, जहाँ उसकी ताज़गी, मौन और सौन्दर्य सब एक संश्लेष्णात्मक स्थिति को विकसित करते हैं।

भावात्मक भाषा के उपकरण हैं— बिम्ब और लय। आवेग के क्षण में जब पात्र अपनी भावात्मकता का प्रकाशन कर रहा होता है, तो उसकी भाषा में लोच होता है। जैसे लय - सौन्दर्य का नाटक की भावात्मक भाषा में विशेष महत्त्व नहीं है, जब तक कि वह सर्जनात्मक भाषा या बिम्ब से जुड़ नहीं पाता। 'स्कन्दगुप्त' की भाषा में जहाँ भी बिम्ब का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है, वहाँ प्रसाद की रचनात्मक स्वायत्तता और स्वाधीनता सूक्ष्मता की अधिकतम सीमा का संस्पर्श कर सकी है, और उनकी अनुभूति, उसे अभिव्यंजित करने वाली बिम्बों की लड़ियाँ, रचना विधान एक संश्लिष्ट रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। इसकी सही पहचान के उपक्रम से ही व्यावहारिक भाषा की प्रक्रिया को सार्थक बनाया जा सकता है। बिम्ब में सर्जनात्मक क्षमता विद्यमान रहती है। बिम्ब - गठन में भाषा की उन्मुक्तता समसामयिक अनुभव को काव्य के स्तर पर निरूपित नहीं करती, तो यह निश्चित है कि 'स्कन्दगुप्त' में दर्शन और इतिहास की साक्षात्कार - प्रक्रिया बाधित होती।

बिम्ब प्रयोग के विविध रूप हैं— जैसे- राजनीति सम्बन्धी बिम्ब, प्रेमोन्माद सम्बन्धी बिम्ब, दर्शन सम्बन्धी बिम्ब, आदर्शभाव सम्बन्धी बिम्ब, स्मृति सम्बन्धी बिम्ब, स्वगत कथन सम्बन्धी बिम्ब, संगीत सम्बन्धी बिम्ब। अन्य बिम्बों की चर्चा तो किसी न किसी रूप में हो चुकी है। यहाँ संगीत, राजनीति सम्बन्धी बिम्बों की चर्चा अभिप्रेत है।

सम्पूर्ण नाटक रचना - विधान में देवसेना का केन्द्रीय स्थान है, और उसकी भाषा का निर्धारण भी उसकी विशेषताओं के आधार पर हुआ है। इसकी पहली

विशेषता "संगीतमय" है— पारस्परिक संगीत का वाद्य में विलय हो जाना ही लय है। लय का अर्थ में निर्णायक महत्व नहीं है, बल्कि उससे सौन्दर्यात्मक वृद्धि भले हो जाती हो। देवसेना के लिए सम्पूर्ण सृष्टि संगीतमय है, स्वयं उसका जीवन भी संगीतमय है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में संगीत का स्वरूप जब उभरा है, तब पाठक सुर और लय में तन्मय हो जाता है। "भाषा तन्मयता की विरोधी है, तन्मयता सुर और लय की सृष्टि है। भाषा में नये - नये विचारों का जन्म होता है, जिन्हें अनुभूति में ढालकर कविता या कि साहित्य की सृष्टि होती है।"[२७] देवसेना उस बिन्दु पर है जहाँ सम्पूर्ण नाटक के संघर्ष का समाहार होता है। उसमें आत्मसम्मान की प्रबलता है, जिसके कारण उसने स्कन्द को अस्वीकार किया। यह आत्मसम्मान आत्मत्याग से उद्भूत हुआ है। अंततः वह संघर्षों और द्वन्द्वों का अतिक्रमण कर जाती है। प्रस्तुत गीत में इन भावों की जटिलता अंकित है—

"आह! वेदना मिली विदाई!
मैंने भ्रम - वश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छलछल थे सन्ध्या के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन - विपिन की तरु - छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई।

लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कब की।
मेरी आशा आह! बावली,
तूने खो दी सकल कमाई।"[२८]

इस गीत के रचना - संघटन में सर्वप्रथम नाद - सौन्दर्य मन पर स्थाई प्रभाव छोड़ता है। पर " नीरवता अनन्त अँगड़ाई " तथा " विहाग की तान " — इन दो बिम्बों से अर्थ — समृद्धि की सम्भावना सौन्दर्यात्मक स्तर पर अधिक हो जाती है। पर सम्पूर्ण गीतों में श्रमकण, नीरवता, अनन्त, अँगड़ाई, गहन - विपिन, विहाग, तान जैसे शब्दों का आकर्षण और अप्रस्तुत विधान पर आधारित दोनों बिम्बों का नवीन प्रयोग अर्थ की दृष्टि से इतना सशक्त है कि इन्हें काव्य - बिम्ब बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है।

ज्ञानशील व्यक्ति प्रेम के वशीभूत होकर, तो अपने जीवन को संचित करता है, और ईश्वर प्रदत्त वस्तु को लुटाता है, जैसा देवसेना के जीवन में घटित हुआ। वाली पंक्तियों को बिम्बों के कुशल प्रयोग द्वारा आधुनिकता प्रदान की गई है। सुबह से यात्रा पर निकली सूर्य की किरणों का सन्ध्या के समय थक कर कुम्हला जाना, और उससे निकले स्वेद-कणों का देवसेना के आँसू के रूप में अहर्निश गिरना, तथा सुबह से शाम तक की इतनी सूक्ष्म यात्रा तय करने में— " नीरवता की अनन्त अँगड़ाई " लेना, कितनी शान्त, गम्भीर और आलस्ययुक्त सौन्दर्य - समृद्ध होगी इसका अनुभव यह बिम्ब भली - भाँति सम्प्रेषित करता है। इसके नीचे वाली चार - पंक्तियों (श्रमित ------ उठाई) में स्कन्द का देवसेना के प्रति आकर्षणभाव निहित है। ऐसे समय में जब पथिक क्लान्त होकर घने जंगल में और पेड़ की छाया में सो रहा था, और स्वप्नों की मधुर माया में लिप्त था, तब " विहाग की तान " का उठ जाना देवसेना के प्रति स्कन्द के आकर्षण को समग्रता के साथ प्रस्तुत करता है। " विहाग की तान " बिम्ब है, जिसके कारण जटिल अनुभव क्रमशः विकसित होता चलता है। " आशा आह ! बावली " में भी छोटा सा बिम्ब है, जो आशा के रूप को उसके भावों सहित सम्प्रेषित करता है। यदि आशा को प्रतीक (आशा - बावली) द्वारा व्यंजित किया जाता तो वह आशा के अनुभव को इतने सूक्ष्म ढंग से न व्यंजित कर पाता। आह ! पीड़ा के भाव को उजागर करता है। "मधुकरियाँ, सतृष्ण, सकल आदि शब्दों का स्थान अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, जिसके द्वारा अनुभव की सम्पूर्णता गति की सम्पृक्तता के साथ बिम्ब - साक्षात्कार की प्रक्रिया मन पर स्थाई प्रभाव छोड़ती है।

राजनीतिक गतिविधियों को सूक्ष्मता से रूपायित करने के लिए बिम्बों की सर्जना

बड़ी स्पृहणीय है। इन बिम्बों का प्रादुर्भाव प्रकृति के बाह्य जगत से हुआ है। ऐसे में बिम्ब अधिक सूक्ष्म नहीं बन पड़े हैं, किन्तु उनके द्वारा रचनात्मक अर्थों की तह में पहुँचा जा सकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। प्रकृति के विभिन्न रूपों पर मानवीय भावों को आरोपित करके भाषा की सार्थकता की सिद्धि की गई है। 'स्कन्दगुप्त' में पर्णदत्त के संवाद द्वारा गुप्त साम्राज्य की स्थिति का चित्रण आँधी आने से पहले स्तम्भित आकाश तथा बिजली गिरने से पहले शून्य पर चढ़ी नील कादम्बिनी जैसे सजीव बिम्बों की रचना हुई है।

प्रसाद ने जहाँ भाषा के सूक्ष्म प्रयोग द्वारा देश की विभिन्न समस्याओं का सजीव चित्रण किया है, वहीं सभ्यता के विकास में उपेक्षित समझकर छोड़ दिये जाने वाले पात्रों आदि के प्रति गहरी संवेदनशीलता को प्रतीकों के माध्यम से जागृत किया है, जिसमें रूपक द्रष्टव्य है।

'अमृत के सरोवर में स्वर्ण - कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल - पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, सन्ध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं - वहीं स्वप्न टूट गया।' २६

अमृत का सरोवर, स्वर्ण - कमल (सोने का कमल) भ्रमर का वंशी बजाना, सौरभ और पराग की चहल - पहल आदि रूपकों का योगदान बिम्ब - निर्माण में महत्वपूर्ण है। मातृगुप्त के स्वगत कथन में उसके प्रेम की उदात्तता के निरूपण के लिए सटीक बिम्ब है, जिसमें आकर्षक शब्दों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। भ्रमर के गूँज की वंशी के रूप में परिकल्पना, ऐसे अमृत सरोवर में जहाँ स्वर्ण - कमल खिल रहा था, और सूर्य की किरणों का सुबह चूमना, सन्ध्या में शीतल चाँदनी का ढँकना सब मिलकर बिम्ब की रचना करते हैं, और अपनी सूक्ष्मता का बोध कराते हैं।

सात्विक भावों-- मुख्य रूप से प्रेम के चित्रण के लिए प्रसाद ने बिम्ब के निरूपण में प्रकाश का सहारा लिया है। कथानक - परिवेश निर्माण के लिए धूमकेतु, मेघ, बिजली, आँधी आदि बिम्ब विशेष प्रिय रहे हैं।

अनुभूति की आँच में पकी मानव मन की विचित्रता, देश में व्याप्त भय, राजकीय वातावरण और प्रकृति की मनोहर छटा को अंकित करने के लिए प्रतीकों की सहायता ली गई है, जिसमें बिम्ब अनायास पुष्पित हो जाते हैं। प्रतीक कब बिम्ब बन जायेगा इसका अनुमान सहज नहीं लगाया जा सकता, बल्कि उसके द्वारा भाषा की अर्थवत्ता अपनी समग्रता में प्रमाता के समक्ष खड़ी हो जाती है। प्रसाद ऐसे पहले कलाकार रहे हैं, जो प्रतीकों से बिम्बों तक की सूक्ष्म यात्रा बड़ी ही कुशलता से तय कर सके हैं। प्रतीक और बिम्ब के दोहरे दायित्व को वहन करने के बावजूद 'स्कन्दगुप्त' नाटक की भाषा बोझिल नहीं होने पायी है।

बिम्बों को जीवन्तता प्रदान करने के लिए कहीं - कहीं प्रसाद ने मिथक को सजीव उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया है। अभीष्ट वस्तु को समझकर विजया उन्हीं अवधि तक उसके पीछे दौड़ती रही, जिसके कारण राष्ट्रीयता की भावना से वंचित रही, ऐसी मनःस्थिति के चित्रण के लिए पौराणिक सन्दर्भ का सर्जनात्मक प्रयोग इस उदाहरण में बिम्बित हुआ है—

'इधर भयानक पिशाचों की लीला - भूमि, उधर गम्भीर समुद्र। दुर्बल रमणी-हृदय थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा।' ३०

'भयानक पिशाचों की लीला - भूमि' में समसामयिक संकट का पूरा दृश्य सम्पूर्ण भावों सहित अंकित हुआ है। लीला - भूमि रूपक और पिशाच पौराणिक मिथक है। 'उधर गम्भीर समुद्र' में विजया की स्कन्द के प्रेम को प्राप्त न करने की असमर्थता ध्वनित होती है।

बिम्बों की रंगीन छवि को अंकित करने के लिए प्रसाद की दृष्टि कुछ विशेष रंगों— काला, लाल, नील, लोहित में अधिक रमी है। कतिपय प्रसंगों में रंगों के अत्याग्रह के कारण पुनरुक्ति अलंकार का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु उसका दर्शन दोष के रूप में न होकर, वास्तविक स्वभाव के रूप में होता है। यह स्वभावांकन यहाँ उद्धृत है—

'महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी सी प्रलय की काली आँधी बनकर

कुचक्रियों के जीवन की काली राख शरीर पर लपेट कर ताण्डव नृत्य करूँगी ।' ३१

'स्कन्दगुप्त' में मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने की अपनी विशेष उपलब्धि रही है, ऐसे सन्दर्भों में पारिभाषिकता का आग्रह सम्पूर्ण क्षमता के साथ मुखर हुआ है—

'पुरुष है कुतूहल और प्रश्न ; और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान । पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है । उसके कुतूहल— उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार ।' ३२

रमणीय परिवेश को निर्धारित करने वाले प्रकृति के विभिन्न उपादानों में मानवीय क्रिया - व्यापारों का आरोप करने में प्रसाद सिद्धहस्त रहे हैं । चूँकि वस्तु की अपेक्षा चेतन के रूप में चिन्तन की प्रमुखता है, इसलिए जड़ को चेतन रूप में देखने का आग्रह भाषा की सर्जनात्मक आवश्यकता का प्रतिफलन है । अनुभूति के तीव्र आवेग में रचनाकार जड़-चेतन, मूर्त - अमूर्त का भेद भूल जाता है, लेकिन उसकी भाषिक क्षमता नाटक में आद्योपान्त सक्षम रही है । नियति - सुन्दरी, मेघ - समारोह जैसे अनेक शब्दों के प्रयोग में मानवीय भावों का आरोप है ।

स्कन्द नितान्त मानवीय चरित्र है, इसलिए वह जीवन के निर्मम और क्रूर यथार्थ में भ्रमण करता है । ऐसे में मानव की अकर्मण्यता, स्खलित राष्ट्रीय भावना, विखण्डित संस्कृति, धर्म एवं मानव मूल्यों के प्रति उसका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है । इस क्षुब्धावस्था में वह अधिक निराश होता है, जो स्कन्द मात्र की न होकर सम्पूर्ण मानव - मन में व्याप्त कमजोरियों की ओर संकेत करती है—

'ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन - रात लड़ना पड़े । आकाश में जब शीतल शुभ्र, शरद-शशि का विलास हो, तब भी दाँत - पर - दाँत रक्खे,मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करें । बसन्त के मनोहर प्रभात में,निभृत कान्तारों में चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय । नहीं, नहीं चक्र । मेरी समझ में मानव जीवन का यह उद्देश्य नहीं है । कोई और भी गूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सका हूँ ।' ३३

शीतल, शुभ्र, शरद - शशि, विलास, विडम्बना जैसे शब्दों के प्रति रचनाकार का विशेष लगाव रहा है। इसके प्रदर्शन के लिए उचित स्थान को ढूँढ़ा गया है, जिसके साथ - साथ सम्प्रेषण की अद्भुत शक्ति जुड़ी हुई है। प्रकृति के रमणीय दृश्य की छटा इन शब्दों में साकार हुई है। दाँत पर दाँत रखना, मुट्ठी बाँधना, लाल - लाल आँखों से घूरना आदि सामान्य जन जीवन में प्रचलित मुहावरे - प्रसाद को क्लिष्ट शब्दों के प्रयोगकर्ता कहने पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। इनका प्रयोग युद्ध में रत मनुष्यों की मानसिकता को चरितार्थ करता है। स्कन्द की यह निराशा महाभारतकालीन अर्जुन की निराशा सदृश है। ऐसा नहीं है कि यह निराशा इसी बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है, बल्कि अर्जुन को कर्तव्य की ओर उन्मुख करने वाले कृष्ण के समान पर्णदत्त, देवसेना, चक्रपालित आदि पात्र विभिन्न रूपों में निराश स्कन्द को कर्तव्य के लिए प्रेरित करते हैं, और स्वयं कर्म करते हैं।

चक्रपालित के इस संवाद द्वारा रचनाकार ने निराश स्कन्द को ही नहीं, बल्कि साथ पर साथ रखे तत्कालीन समय में बैठने वाले प्रत्येक निराश व्यक्ति के अन्दर कर्तव्य भावना का संचार किया है—

`सावधान युवराज। प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने से पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं। वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है।` ३४

इस बात की एक बार फिर पुनरावृत्ति अपेक्षित है कि `स्कन्दगुप्त` की मूलवस्तु पराधीनता की बेड़ी में जकड़े भारतवासियों के अन्दर राष्ट्रीय भावना का संचरण करके, उन्हें कर्तव्य पथ की ओर उन्मुख करना है। यही नाटक का केन्द्रबिन्दु है, जिसको पुष्ट करने के लिए सम्पूर्ण भावनायें उसके चारों ओर चक्कर लगाती रहती हैं। इन भावनाओं के अन्तर्गत कुलवधुओं, बालकों, धर्म की व्यापक मर्यादा एवं अन्य मूल्यों को लिया जा सकता है। इसके विपरीत आचरण करने वाले लोगों पर पर्णदत्त की खीझ सशक्त रूप में व्यक्त हुई है—

`कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए अकड़कर चल रहा है; अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई। जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरे के अधिकार

में आना चाहिए। देश पर वह बिगड़े, फिर भी वह निराली धन।' ३५

यों तो 'स्कन्दगुप्त' के अन्तर्गत हास्य सृष्टि में प्रसाद की वृत्ति अधिक नहीं रमी है, लेकिन सीमित स्थानों पर ही अर्थ की सशक्त सम्भावनाओं के कारण नाटकीय स्थिति हास्य के आयोजन के कारण अधिक सक्षम बन पड़ी है। मुद्गल और धातुसेन का संवाद उक्त कथनों के अन्तर्गत आता है——

'मुद्गल : क्यों भइया, तुम्हीं धातुसेन हो ?
धातुसेन : (हँसकर) पहचानते नहीं ?
मुद्गल : किसी धातु का पहचानना बड़ा असाधारण कार्य है तुम किस धातु के हो ?
धातुसेन : भाई, सोना अत्यन्त घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ सा रहता है। मैं सोना नहीं हूं, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है 'लोहा'।
मुद्गल : तब तुम लोहे के हो ?
धातुसेन : लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी - कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूँ, भाई। मैं तो मिट्टी हूँ— मिट्टी, जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी होते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो— धूल समझो। परन्तु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा ?' ३६

रचनाकार की लेखनी जहाँ नैष्ठिकन्धे, भिक्षु, शिरोमणे, कविशिरोमणे आदि शब्दों के प्रयोग में व्यक्ति की श्रेष्ठता को अभिव्यंजित करती है, वहीं धन के पीछे मानवता का परित्याग कर देने वाले अकर्मण्य व्यक्तियों के सम्बोधन के लिए रक्त - पिपासु, अपदार्थ, क्रूरकर्मा, कृतघ्नता की कीच का कीड़ा, नरक की दुर्गन्ध आदि प्रयोगों से अन्तर्मन में व्याप्त सम्पूर्ण खीझ को उभारने में समर्थ हुई है। इन शब्दों

की चोट डंडों की चोट से कम नहीं है। ऐसे भावों के चित्रण में भी `कौड़ी के मोल बेचना,` जैसा मुहाविरा और रक्त - पिपासु जैसे अनेकों रूपक अपनी स्वाभाविकता के साथ मुखर हुए हैं, इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत पंक्तियां हैं—

` ओह। मैं समझ गयी। तूने बेच दिया। अहा। ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभवश मनुष्य से पशु हो गया है। रक्तपिपासु। क्रूरकर्मा मनुष्य। कृतघ्नता की कीच का कीड़ा। नरक की दुर्गन्ध। तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परिमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण। वह मेरा पति तो क्या स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।` ३७

अन्य पात्रों की तरह शर्वनाग और रामा का संवाद मधुर सामाजिक रिश्तों का प्रतिफलन है, जिससे नारी की सुकोमल पर आवश्यकता होने पर क्रूरतम भावनायें चरितार्थ होती हैं। नारी जितनी अबला है, अन्याय के दमन के लिए, देश एवं संस्कृति की रक्षा के लिए उतनी ही रामा जैसी सबला हो जाती है, इसके लिए क्रूर से क्रूर कर्म करने से भी चूकती नहीं है। ऐसा आचरण सब के प्रति बराबर है, समाज प्रदत्त रिश्ते इसमें बाधक नहीं हैं। उपर्युक्त उद्धरण में इस कथन की पुष्टि बड़ी सजीवता से की गई है। ओह। अहा। आदि का प्रयोग पश्चाताप और निराशा के लिए किया गया है। छोटे - छोटे शब्दों में अर्थ की अद्भुत शक्ति पिरोयी गई है।

` स्कन्दगुप्त` नाटक की भाषा इतनी प्रौढ़ है कि वह पात्रों के व्यक्तित्व को अनुशासित करती है। सामर्थ्यवान भाषा नाटक की आधार भूमि है, जिस पर उसकी अन्य विशेषतायें टिकी हुई हैं। नाट्य भाषा की अपेक्षाओं के साथ - साथ प्राचीन, आधुनिक, पाश्चात्य आदि के ग्राह्य स्रोतों को मिलाकर प्रसाद ने मौलिक नाटक की रचना की। इसी कारण इन्हें हम हिन्दी का प्रथम आधुनिक नाटककार कह सकते हैं।

।। सन्दर्भ ।।

१- जयशंकर प्रसाद : 'विशाख' की भूमिका : पृष्ठ - ४

२- गोविन्द चातक : प्रसाद के नाटक : सर्जनात्मक धरातल और भाषिक - चेतना : पृष्ठ - ८२

३- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - ८८

४- जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त, प्रथम अंक पृष्ठ - २२

५- जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध; पृष्ठ - १०७

६- डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृष्ठ - २६१

७- जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : पृष्ठ - ५७

८- - वही - पृष्ठ - ७४

९- जयशंकर प्रसाद - विशाख, प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य, पृष्ठ - २२

१०- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ - २५७

११- जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त, चतुर्थ अंक, पृष्ठ - ११०

१२- गोविन्द चातक : प्रसाद : नाट्य और रंगशिल्प, पृष्ठ - २३८

१३- जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त तृतीय अंक, पृष्ठ - ७६

१४- - वही - चतुर्थ अंक , पृष्ठ - १११

१५- - वही - तृतीय अंक, पृष्ठ - ८३

१६- - वही - पंचम अंक , पृष्ठ - ११६

१७- - वही - द्वितीय अंक, पृष्ठ - ५६

१८- - वही - प्रथम अंक, पृष्ठ - १

१९- - वही - प्रथम अंक, पृष्ठ - २

२०- - वही - ,, ,, ,,

२१- - वही - ,, पृष्ठ - ७

२२- - वही - ,, पृष्ठ - ३७

२३- - वही - चतुर्थ अंक, पृष्ठ - १००

२४- - वही - प्रथम अंक, पृष्ठ - १

२५- - वही - चतुर्थ अंक, पृष्ठ - १०१ - १०२

२६- जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : चतुर्थ अंक , पृष्ठ - १११
२७- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : सर्जन और भाषिक संरचना, पृष्ठ - २६
२८- स्कन्दगुप्त : पंचम अंक, पृष्ठ - १३२ - १३३
२६- - वही - प्रथम अंक, पृष्ठ - १५
३०- - वही - चतुर्थ अंक, पृष्ठ - ६३
३१- - वही - द्वितीय अंक, पृष्ठ - ५२
३२- - वही - प्रथम अंक, पृष्ठ - १७
३३- - वही - द्वितीय अंक, पृष्ठ - ४०
३४- - वही - ,, ,, पृष्ठ - ४०
३५- - वही - चतुर्थ अंक, पृष्ठ - ११८
३६- -वही - द्वितीय अंक : पृष्ठ - ४८ - ४६
३७- - वही - ,, ,, : पृष्ठ - ५१ - ५२

।। डॉ० रामकुमार वर्मा : औरंगज़ेब की आखिरी रात ।।

किसी भी रचना की सार्थक जिन्दगी खुद उसकी सर्जनात्मक भाषा से बनती है और यदि रचनाकार प्रसिद्ध होता है तो उसी के मार्फत । आधुनिक हिन्दी साहित्य में एकांकी विधा को जीवन्त और उन्नतिशील बनाने में डॉ० रामकुमार वर्मा की प्रमुख भूमिका रही है । उनकी सफलता का श्रेय सामाजिक नाटकों - ` एक्ट्रेस ` ` परीक्षा `, ` १८ जुलाई की शाम, ` ` रेशमी टाई ` — की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों — ` शिवाजी की चारित्रिक दृढ़ता `, ` समुद्रगुप्त की क्षमा `, ` राजरानी सीता `, ` समुद्रगुप्त पराक्रमांक `, ` सम्राट विक्रमादित्य ` और ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` को अधिक है । ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` (सन् १९४९) में एकांकी कला अपने सर्वोच्च शिखर पर है ।

` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` की सफलता का मापदण्ड उसकी सर्जनात्मक भाषा है, जिसमें साज - सज्जा का अत्याग्रह नहीं । संवाद साधारण बोलचाल की शब्दावली से निर्मित हैं, जो क्रमश: सांकेतिक और गहीन अर्थ का बोध कराते हैं । वे स्थानान्तरण की सीढ़ी तैयार करते हैं, वर्तमान से अतीत की ओर, परिचित से अपरिचित की ओर । ऐसे संवादों में स्वाभाविकता है और प्रेक्षकों को बाँधने की शक्ति है, जिसका निर्देश प्रस्तुत उद्धरण में है—

` आलम : जो दवा दे गये हैं, वह उन्हें बताई गई थी ? (खाँसता है)

जीनत : जी, मैंने भी चखी थी । दवा में किसी तरह का शक नहीं है ।

आलम : यह अहमदनगर है बेटी । शिया रियासत बीजापुर और गोलकुंडा के करीब । दुश्मनी दोस्ती में छुप कर आती है । जिन्दगी में यह हमेशा याद रखो । `[१]

बातचीत दवा से शुरू होती है - वर्तमान में, किन्तु ` शिया रियासत बीजापुर और गोलकुंडा के करीब ` से उस स्थान का बोध कराया गया है जहाँ नाटकीय घटनायें घटित हो रही हैं । ` दुश्मनी दोस्ती में छुप कर आती है । जिन्दगी में यह हमेशा याद रखो ` यह राजनीतिक उपदेश है । जीनत के साथ - साथ सबको इससे सीख मिलती है । औरंगज़ेब ने अपने जीवन में इस रूप में अनेक लोगों को धोखा दिया है, इसलिए हमेशा से सतर्क है ।

'औरंगज़ेब की आखिरी रात' की मूल चेतना इतिहास के मुगलकाल का अनुवर्तन करती है, इसलिए यह ऐतिहासिक नाटक है। मुगलकाल से सम्बद्ध होने के कारण उसमें उर्दू शब्दावली का सुसंगत प्रयोग किया गया है। नाटकीय संवादों का सौन्दर्य शब्दों के अलग - अलग अस्तित्व से नहीं, बल्कि समूची भाषा से है। वह भाषा जिसमें कल्पना की लहर है, उस लहर में अर्थ की विभिन्न सम्भावित जीवन की हलचल है और उस गति में पूर्ण सक्रियता है, शक्ति है—

'कुराने पाक की रूह से, शरअ से --- इस्लाम का नाम दुनिया में बुलन्द करने के लिए— जिहाद के लिए, जो काम हमने किये क्या उनका नाम गुनाह है? काफिरों को जहन्नुम रसीद किया --- क्या यह गुनाह है? उपनिषद् पढ़ने वाले दारा से सल्तनत छीनी --- क्या यह गुनाह है? नमूना - ए - दरबार - ए - इलाही में क्या मुझसे गुनाह हुए? आलमगीर— जिन्दा पीर --- !' २

पात्र की मानसिक परिस्थिति के अनुसार जिन पर अतीत और वर्तमान की घटनाओं की क्रिया प्रतिक्रिया है, संवादों की सृष्टि हुई है और उसी के अनुसार भाषा की सर्जना भी। प्रकृति के अनुरूप प्रयुक्त शब्दावली में हृदय की अनुभूति है। पाक, रूह, शरअ, बुलन्द, जिहाद, गुनाह, काफिरों, जहन्नुम, गुनाह, नमूना - ए - दरबार - ए - इलाही ये सब उर्दू शब्दावली हैं, जिनका कलात्मक प्रयोग भाषा में प्रवाह लाता है। 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में पात्रों के अन्दर मनोवैज्ञानिकता का निर्वाह डा० वर्मा ने बड़ी कुशलता से किया है। प्राचीन भारतीय सम्राट के जिन चित्रों को प्रस्तुत किया गया है, उनमें आदर्श का संस्पर्श मात्र है। यह नाटक की मनोरंजकता, मूल भावना या नाटकीयता को तीक्ष्णता प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि पर आधारित इनके पात्र पूर्ण स्वाभाविक बन पड़े हैं। बेचैनी की मनःस्थिति में औरंगज़ेब के जीवन में घटनायें एक - एक करके उजागर होती हैं। उर्दू शब्दावली मिश्रित भाषा वातावरण को निर्मित कर सकने में समर्थ हुई है। रचनाकार ने स्वयं इसे स्वीकार किया है—' मुझे इतिहास के अध्ययन के साथ ही साथ तत्कालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की पूरी तैयारी भी करनी पड़ी है। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पात्रों के चरित्र को मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित करने की दृष्टि रखी गई है। मनोविज्ञान की स्थिति जहाँ एक बार तैयार हो गई, फिर पात्रों का विकास अपने आप होने लगता है।' ३

` औरंगज़ेब की आख़िरी रात ` में नाटकीय जगत की विविधता को रचनाकार ने आँखों से उतारा है - संवादों में निहित भाषा में। यदि उसने आँखों द्वारा समकालीन अनुभव को अनुभूति की कसौटी पर निखारा है, तो उसके लिए उसी तरह की शब्दावली का सहारा लिया है। अतः अनुभव की विभिन्न एकाइयों के मिश्रण से ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक संवेदना साकार हुई है—` औरंगज़ेब की आख़िरी रात में। ` यही संवेदना अन्तर की अनुगूँज के लिए रास्ता तैयार करती है—

` हमें भी कैद समझो, बेटी। हमारे गुनाहों ने हमें चारों तरफ से घेर रक्खा है। जमीर की जंजीरों ने भी हमारे हाथ पैर बाँध लिये हैं। हम अब इस दुनियाँ को आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। जिस सल्तनत को खून से सींच कर हमने इतना बड़ा किया है उसे अगर अब आँसुओं से भी सींचना चाहें तो हमें एक पूरी जिन्दगी चाहिए। ` ४

मानव प्रकृति के बीच रामकुमार वर्मा की सहज एवं सर्जनात्मक भाषा पिरोयी हुई है, जिसमें सिद्धान्त एवं व्यवहार की द्वन्द्वात्मक स्थिति साथ - साथ चलती है। यहाँ अलंकृति कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा सहज सौन्दर्य का विशेष पक्ष लिया गया है और इसी से भाषा का सक्रिय रूप अधिक सराहनीय बन पड़ा है। डा० बच्चनसिंह के शब्दों में स्वीकार किया जा सकता है कि — ` पर जिन एकांकियों में मानसिक द्वन्द्वों को लिया गया है वे शिल्प की दृष्टि से अच्छे बन पड़े हैं। जैसे ` औरंगज़ेब की आखिरी रात `। ` ५ द्वन्द्व मानव समाज के सभी वर्गों में है चाहे वह राजा हो या साधारण आदमी। ` हमें भी कैद समझो बेटी। हमारे गुनाहों ने हमें चारों तरफ से घेर रक्खा है `— यह अतीत में किये गये व्यवहार के प्रति औरंगज़ेब का स्वाभाविक पश्चात्ताप है। यहाँ कर्तव्य एवं व्यवहार का संघर्ष औरंगज़ेब को द्वन्द्व की स्थिति में डाल देता है। ` गुनाह ` उर्दू शब्द है, जो अर्थ की विशदता को बड़े मार्मिक ढंग से सम्प्रेषित करता है। ` जिस सल्तनत को खून से सींच - सींच कर हमने इतना बड़ा किया है उसे अगर अब आँसुओं से भी सींचना चाहें तो हमें एक पूरी जिन्दगी चाहिए `— यहाँ जीवन - मरण का द्वन्द्व है, जिसमें बिम्ब की हल्की भंगिमा है। यह बिम्ब मन पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ता है— अपने उद्देश्य के अनुसार।

` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में अन्तर्द्वन्द्व की प्रकृति सर्वत्र एक जैसी नहीं है।

मनःस्थिति के अनुरूप उसमें विभिन्नता है। जहाँ एक ओर कर्तव्य एवं व्यवहार का द्वन्द्व है, वहाँ दूसरी ओर संस्कार का अनुमोदन भी। रचनाकार की विचारधारा से यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है— "पात्रों के क्रोधविधान में दो बातें प्रमुख होती हैं— संस्कार और प्रभाव। यदि प्रभाव संस्कारों के प्रतिकूल हों, तो भयंकर अन्तर्द्वन्द्व होता है। यदि वे संस्कारों के अनुकूल हों, तो पात्र विलासी होने लगता है। अन्तर्द्वन्द्व की यह मानसिक प्रक्रिया आप मेरे सभी नाटकों में देखेंगे।"[६] पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के विन्यास में नयी भाषा प्रयुक्त की गई है, जिसमें वास्तविकता है, किन्तु आदर्श से अनुप्राणित। इस प्रक्रिया में द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का सौन्दर्य तो चित्रांकित हुआ है, साथ ही नये - नये रूपों में उसी स्थिति की भाषा समृद्ध हुई है। रचनाकार का सौन्दर्य-बोध द्वन्द्व है जो मानव जीवन में सर्वत्र साथ रहता है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत उद्धरण द्रष्टव्य है—

"एक एक तस्वीर आँखों के सामने आ रही है। हम हाथी पर बैठकर दौलताबाद जा रहे हैं। आगे पीछे हिन्दुओं का बेशुमार मजमा है। वे चीख - चीख कर कह रहे हैं कि आलमपनाह, जजिया माफ कर दीजिए। लेकिन हम माफ कैसे कर सकते हैं? दकन की लड़ाइयों का खर्च कहाँ से आता? हम कहते हैं— तुम काफिर हो। जजिया नहीं हटेगा। वे लोग हमारे रास्ते पर लेट जाते हैं। हमारा हाथी आगे नहीं बढ़ रहा है। हम गुस्से में आकर पीलवान को हुक्म देते हैं, इन कमबख्तों पर हाथी चला दो। हाथी आगे बढ़ता है और सैकड़ों चीखें हमारे कान में पड़ती हैं। --- हम हँसकर कहते हैं काफिरों, तुम्हारी यही सजा है। जजिया माफ नहीं हो सकता --- नहीं हो सकता ---।"[७]

शक्ति एवं सामर्थ्य के होते व्यक्ति अपने स्वार्थों में इतना लिप्त रहता है कि उसे दूसरों की पीड़ा नहीं सुनाई पड़ती, किन्तु सामर्थ्यहीन होने पर संस्कार विरुद्ध किये गये कार्य का अहसास होता है। इसके मूल में कहीं उसके अन्दर सहानुभूति प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है। कुकर्म के प्रति किये गये पश्चात्ताप से वह दूसरों की सहानुभूति अर्जित कर सकता है यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। यहीं से अन्तर्द्वन्द्व की बढ़ोत्तरी होती है और इसका अनुभव रचना में सर्जनात्मक भाषा द्वारा होता है-प्रेक्षक को। चूँकि आधुनिक नाटक में संघर्ष को अलग करके नहीं देखा गया, जीवन की तरह,

इसलिए यहाँ द्वन्द्व का रूप सृजनात्मक है। ` हमारा हाथी आगे नहीं बढ़ रहा है । हम गुस्से में आकर पीलवान को हुक्म देते हैं, इन कमबख्तों पर हाथी चला दो। हाथी आगे बढ़ता है और सैकड़ों चीखें हमारे कान में पड़ती हैं— में व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव आलोचना और पश्चात्ताप के द्वन्द्व के साथ - साथ कर्म का द्वन्द्व पूर्णतया जुड़ा हुआ है। ` बेशुमार मजमा, सैलाब, आखिरी उर्दू शब्दावली है, जो भाषा की अर्थवत्ता को समृद्ध बनाती है। अतः यहाँ पश्चात्ताप और पीड़ा के द्वन्द्व की उत्तेजितों में अनुभूति एवं भाषा की ऊष्मा है, ठण्डापन नहीं।

` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में अन्तर्द्वन्द्व द्वारा समस्याओं से जितनी जूझने की समस्या प्रबल है, उतनी भाषा की सर्जनात्मकता की। अंतर्मुखी प्रकृति के चित्रण में पात्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होता है—

` आज वह हाथी हमारे सामने भूम रहा है। मालूम होता है वह हमारे कलेजे को चूर - चूर करता हुआ जा रहा है। गीनत हमारा कलेजा टुकड़े - टुकड़े हुआ जा रहा है। ` ---। ८

इसमें अतीत की स्मृति है, जिसकी कसक बड़ी तीखी है, पर उसका रूप बयानबाजी नहीं, स्मृति यहाँ ऐन्द्रिक अनुभव कराती है। अतीत और वर्तमान के संघर्षण में यहाँ जो अर्थ विकसित होता है उसका रूप संवेदनात्मक है और कुछ क्षण के लिए अतीत का अहसास कराता है। वर्तमान और अतीत के तनाव से औरंगज़ेब का पश्चात्ताप आदर्श को प्रस्तुत करता है, किन्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सर्जनात्मक भाषा की उपलब्धि उस आदर्श को स्वाभाविकता से ओत - प्रोत कर देती है। अतः यह स्थिति आदर्श और यथार्थ के बीच की हो जाती है। यह रचनाकार की अपनी विशेष उपलब्धि है।

` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` विन्यास की शैली पर आधारित है, जिसका मूल रूप द्वन्द्व है। इसमें नाटककार ने शिल्प की अपनी विशेष दृष्टि का उपयोग किया है। इसमें शिल्प विकास का कोई पूर्व निश्चित क्रम नहीं परिकल्पित किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। अतीत में जो घटनायें घटित हैं उनका किसी भी रूप में संस्मरण हो जाने पर नाटककार द्वारा ऐतिहासिक मोड़ दे दिया जाता है और साथ - साथ चरित्र का मनोविश्लेषण हो जाता है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत उद्धरण सटीक है—

` राजा रामसिंह ने तलवार का ऐसा हाथ चलाया कि हम मय हाथी के जमींदोज़ हो जाते, लेकिन मुरादबख्श --- मुरादबख्श ने अपनी ढाल पर तलवार रोक, राजा रामसिंह पर ऐसा वार किया कि वह हाथी के पैरों आ गिरा । उसका बाना खून से लथपथ होकर ज़मीन पर फैल गया, और वह उस उसका बदला मुरादबख्श को क्या मिला । ओह --- पा --- नी ---` ९

समाज में ऐसे लोगों की अधिक भीड़ होती है, जो अपने कष्ट से दबकर सीमित दायरे में रहने के आदी हो जाते हैं— चाहे वह कष्ट आर्थिक हो या शारीरिक । पर रामकुमार वर्मा उस चरित्र का पक्ष लेते हैं, जो असफल होते हुए भी जीवन के उत्साह और वीरता से परिपूर्ण सौन्दर्य के आदर्शों को विस्मृत नहीं करते । ` राजा रामसिंह ने तलवार का ऐसा हाथ चलाया कि हम मय हाथी के जमींदोज़ हो जाते, लेकिन मुरादबख्श --- मुरादबख्श ने अपनी ढाल पर तलवार रोक, राजा रामसिंह पर ऐसा वार किया कि वह हाथी के पैरों पर आ गिरा ` में वीरता का चरम सौन्दर्य है । ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में जहाँ भी उत्साह और वीरता की भावना का चित्रण हुआ है वहाँ इसी रूप का दिग्दर्शन होता है न कि निष्क्रिय और अकर्मण्य सौन्दर्य का विलासी रूप । ` उसका केसरिया बाना खून से लथपथ होकर ज़मीन पर फैल गया ` में भाषा सक्रिय होने के साथ - साथ उन्मुक्ति देती है, जो नाट्य भाषा की आवश्यक शर्त है । रचनाकार ने ऐतिहासिक चरित्र की अस्मिता को कभी भी विकृत नहीं किया है, बल्कि उसकी कलात्मक भाषा मन का विश्लेषण कर उसे अधिक स्वाभाविक बनाती है । इसी सन्दर्भ को डा० शान्ति मलिक ने प्रस्तुत शब्दों में पहचाना है— ` उनके अधिकांश पात्र आरम्भ से ही अपने हृदय में किसी न किसी भाव की ग्रन्थि व फांस लिए उपस्थित होते हैं । उस ग्रन्थि को खोलने के क्रम में ही वर्मा जी का शिल्प - कौशल निखरता है । अन्त में वह बड़ी सफाई से एक हल्का मीठा दर्द करते हुए उस मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि को ही निकाल देते हैं ।` १० अन्तिम वाक्य ` ओह --- पा --- नी ---` में औरंगज़ेब की करुणापूर्ण स्थिति का उद्घाटन है ।

औरंगज़ेब बादशाह होने के पहले एक मनुष्य है, किन्तु बादशाह बनने पर वह मानवता का परित्याग कर देता है । ऐसे में औरंगज़ेब का चरित्र दो रूपों में विकसित होता है— पहला मनुष्य और दूसरा बादशाह । शक्ति क्षीण होने पर उसे अपने

अनैतिक व्यवहार का बोध होता है और दोनों रूपों में पारस्परिक द्वन्द्व चलता है। अनैतिकता के प्रति क्षुब्ध होकर रचनाकार ने मनुष्योचित गुण को उभारा है जो प्रेक्षक के अन्दर नैतिक प्रेरणा का संचार करता है। इसी मनुष्य के चरित्र का एक पक्ष बड़ी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत हुआ है—

" ऐसे बाप को तुम क्या कहोगी जिसने बादशाहत में खलल पड़ने के वहम से अपने कलेजों के टुकड़ों को सजा देकर हमेशा कैदखाने में रक्खा ? अपने नजदीक आने भी नहीं दिया। (सोचते हुए) हमारे कैदी बच्चों, तुम बदकिस्मत हो कि आलमगीर तुम्हारा बाप है। तुमने और कोई गुनाह नहीं किया। तुम लोगों का सिर्फ यही गुनाह है कि तुम औरंगजेब के बेटे हो। आज तुम्हारा बाप मौत के दरवाजे पर पहुँचकर तुम्हारी याद कर रहा है।" ११

मनोविज्ञान की विविधता के बारे में रचनाकार का विवेक जितना जागृत रहा है उतना उनके समकालीनों में किसी अन्य का नहीं। जीवन का भावपरक विधान " औरंगजेब की आखिरी रात में " समग्रता में मिलता है। अधिकांश व्यक्ति अपने मनुष्य जीवन के अधिकार और कर्तव्य को भूलकर आरोपित जीवन (अर्थात् पद) को अधिक महत्त्व देकर गर्व में चूर हो जाते हैं, जैसा कि औरंगजेब— " ऐसे बाप को तुम क्या कहोगी जिसने बादशाहत में खलल पड़ने के वहम से अपने कलेजों के टुकड़ों को सजा देकर हमेशा कैदखाने में रक्खा ? अपने नजदीक आने भी नहीं दिया।" ऐसे गर्वोन्नत लोगों के प्रति इस उद्धरण में मानसिक द्वन्द्व द्वारा उदासीनता व्यक्त की गई है। यहाँ द्वन्द्व है, किन्तु भाषा में धैर्य है। " हमारे कैदी बच्चों, तुम बदकिस्मत हो कि आलमगीर तुम्हारा बाप है। तुमने और कोई गुनाह नहीं किया। तुम लोगों का सिर्फ यही गुनाह है कि तुम औरंगजेब के बेटे हो"— में औरंगजेब की अपने पुत्रों के प्रति न किये गये कर्तव्य की कसक है। इस पीड़ा को कई बार व्यक्त करके जैसे औरंगजेब अपने मन को हलका करने की कोशिश कर रहा है। भावमयी भाषा के लिए रचनाकार शब्दों का प्रयोग संकोच के साथ नहीं कर रहा है। ऐतिहासिक बात के चरित्र को व्यावहारिक रूप दिया गया है। एक कृशकाय और संघर्षशील व्यक्ति के पास नैतिक शक्ति और व्यवहारकुशलता है, जबकि वह बादशाहों के पास बिल्कुल नहीं जाती, भी लौं दूर रहती है। व्यक्ति की महानता इसी शक्ति को अर्जित करने में है न कि सम्पत्ति

और पद के प्राप्त होने में। प्रस्तुत उद्धरण में रचनाकार द्वारा व्यक्त यथार्थ को सहजता से नहीं पकड़ा जा सकता। इसका मुख्य कारण है यहां कोरी विचारधारा नहीं है, बल्कि जीवन की वह समझ है जिससे समाज में मानवता छिप सी गई है। कर्मशीलता की सार्थकता नैतिकता में है न कि भौतिकता में। ` आज तुम्हारा बाप मौत के दरवाजे पर पहुँचकर तुम्हारी याद कर रहा है ` मौत के समय स्मृतियों का दस्तक एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस नाटक की संरचना, बुनावट और भाषा तथा प्रस्तुतीकरण में आज के जीवन की आधिव्याधि सन्निहित है। यह आदर्शवाद और व्यावहारिकता की आनुपातिक घुलनशीलता का परिणाम है। आदर्श और व्यवहार का सामन्जस्य नैतिक दृष्टि से जनता के लिए कल्याणकारी है। अभावग्रस्त जीवन में नैतिकता का स्खलन अधिक दु:ख देता है जबकि नैतिक दृढ़ता और कर्तव्य पालन का आलोक अन्य अभाव को अपने में आत्मसात् कर लेता है। रचनाकार ऐसे मनुष्यों का प्रशंसक है।

भावना के प्रवाह में जब व्यक्ति बहता जाता है तब वह मन के उद्गार को विस्तार से व्यक्त कर देना चाहता है, रुकता नहीं। ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में सब कुछ स्पष्ट है शब्दों में। शायद इसीलिए मौन का मुखर रूप नहीं परिलक्षित होता जैसा इधर के नाटकों (आधे अधूरे, ऊसर, ताँबे के कीड़े, तीन अपाहिज) में मिलता है। यहाँ इन नाटकों की विविधता पर प्रश्न उठ सकता है कि ` आधे - अधूरे ` सम्पूर्ण सामाजिक नाटक है और ` ऊसर, ` ताँबे के कीड़े, ` तीन अपाहिज ` एब्सर्ड नाटक हैं जबकि ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` ऐतिहासिक एकांकी है। यहाँ प्रश्न नाटक में निहित मौन के मुखर रूप अर्थात भाषा पर केन्द्रित है न कि उसके शिल्प पर। ` औरंगज़ेब की आखिरी रात ` में प्रयुक्त हरकत की भी ठीक यही स्थिति है। हरकत का खुला प्रयोग न होकर संकुचित प्रयोग है। ऐसा संवाद विधान जिसमें हरकत का सशक्त प्रयोग है वहीं दृष्टिगोचर होता है जहाँ रचनाकार को ऐतिहासिकता की रक्षा की सर्जनात्मक चिन्ता है या औरंगज़ेब की मन:स्थिति को अधिक प्रकट करता है।

` आलम : (धीमे स्वर में) पा —— नी —— ।

(जीनत शीघ्रता से सुराही में से गुलाबजल निकालकर आगे बढ़ाती है)

जीनत : जहाँपनाह, यह पानी ——

(आलमगीर उठने की कोशिश करता है। हकीम उसे उठने में सहारा

देता है। आलमगीर पानी पीने के लिए झुकते हैं। लेकिन दूसरे ही क्षण रुक जाते हैं।)

आलम : (प्रश्नसूचक स्वर) यह कौन सा पानी है ?

— — — —

जीनत : (पलंग से तसबीह उठाकर) यह है जहाँपनाह।

आलम : (लेते हुए) हमेशा मेरी जिन्दगी के साथ रहने वाली --- ।
(फिर एक घूँट पीकर हकीम साहब को घूरते हुए) तुम कौन --- हो ?
(एक क्षण बाद जैसे स्मरण करते हुए) शायद --- हकीम --- साहब
--- ?" १२

(जीनत शीघ्रता से सुराही में से गुलाबजल निकालकर आगे बढ़ाती है) हरकत में "जहाँपनाह यह पानी" संवाद का सुन्दर समायोजन है, जो अर्थ सम्पदा को अधिक स्पष्टता के साथ उद्घाटित करता है। ऐतिहासिक परिवेश इस हरकत में पिरोया हुआ है। ऐसे प्रसंगों में रचनाकार ने भाषा की अभिधा शक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। चीज़ों (सुराही, गुलाबजल) को उनके सही नाम से सम्बोधित करना ही अभिधा की सबसे बड़ी पहचान है और ऐतिहासिक चित्रण के लिए यह अति आवश्यक हो जाती है। हरकत दृश्य या स्थान को यथावत् रूप में प्रेक्षक के समक्ष प्रस्तुत करती है। प्रत्येक शब्द अभीष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। साधारण पुरुष सभी व्यक्तियों के प्रति समान व्यवहार नहीं करता जबकि सामन्ती पुरुष के लिए सबसे निकटतम पारिवारिक रिश्ते भी लगभग मिट जाया करते हैं। जीनत औरंगज़ेब की पुत्री है, किन्तु उसके सम्बोधन का शब्द है— "जहाँपनाह"। यह [illegible] संस्कार है, जिसका "औरंगज़ेब की आखिरी रात" में अतिक्रमण नहीं किया गया है। कटु सत्य जिससे समाज में अव्यवस्था को प्रश्रय मिल रहा है, उससे निरीह जनता से अधिक सामन्त वर्ग ग्रस्त है, जबकि सामन्त अव्यवस्था फैलाने का उत्तरदायी रहा है। यह बात दूसरी है कि औरंगज़ेब अपने कुकर्मों का प्रायश्चित कर लेना चाहता है— अन्तिम समय के पश्चाताप द्वारा। व्यक्ति दूसरों को धोखा देकर जितना गलत से गलत कार्य करता है उतना दूसरों को शंका की दृष्टि से देखता है। तभी औरंगज़ेब अपने शुभचिन्तक हकीम को सशंकित दृष्टि से देखने में नहीं चूकता। यहाँ तक कि उसकी बेटी जीनत भी औ[illegible] की इस दृष्टि से बच नहीं पाती और ऐसे "यह कौन सा पानी है?" तमाम प्रश्नों

का सामना करती है। अतः `औरंगज़ेब की आखिरी रात` में तरकत का प्रयोग वहीं तक है जहाँ तक वह उसकी ऐतिहासिकता और ऐतिहासिक चरित्र की मनःस्थिति को दर्शाने में बाधक नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक रचनाकार को अन्य रचनाकार की तरह पूरी छूट नहीं होती।

`औरंगज़ेब की आखिरी रात` में संवादों की चिप्रता सर्वत्र द्रष्टव्य है, किन्तु औरंगज़ेब की मनःस्थिति जहाँ द्वन्द्व से अधिक मुकाबिला करती है वहाँ यह तकनीक संवादों में उभरकर देखी जा सकती है—

`(काँपते स्वरों में) कौन --- ? अब्बाजान। (आँखें फाड़कर) तुम ? --- तुम जीनत हो ? अब्बाजान कहाँ गये ? अभी तो यहाँ आये थे। (ठण्डी साँस लेकर) इतने बड़े शाहंशाह की आँखों में आँसू ? उन्होंने हमारे सामने घुटने टेक दिये और कहा— शहंशाहे आलमगीर। हमें हमारा बेटा औरंगज़ेब वापस कर दो ---। बादशाही लिबास में हमारा बेटा औरंगज़ेब खो गया है ---। उसे हमें वापस कर दो ---।` १३

इसके संवाद कहीं से भी किसी तरह अलग से आरोपित नहीं लगते, जबकि ऐतिहासिक पात्र और (औरंगज़ेब द्वारा अपने पिता को कैद करने की) घटना को लेकर पूरे संवाद को रचनाकार ने अपनी ओर से परिकल्पित किया है। औरंगज़ेब के साथ - साथ किसी चरित्र की भाषा नाटक में निहित चरित्र के अतिरिक्त चरित्र से साक्षात्कार कराने वाली नहीं है, बिल्कुल स्वाभाविक है। अतीत में किये गये अन्याय की प्रतिच्छाया औरंगज़ेब को पल भर के लिए नहीं छोड़ती, जिससे वह हमेशा संघर्ष से जूझता रहता है— `कौन --- ? अब्बाजान। ( आँखें फाड़कर ) तुम ? --- तुम जीनत हो ? अब्बाजान कहाँ गये ? अभी तो यहाँ आये थे। ( ठण्डी साँस लेकर ) इतने बड़े शाहंशाह की आँखों में आँसू।` यह संघर्ष अपने दूसरे स्तर पर रचनाकार की सर्जनात्मक लेखन से जूझने की प्रवृत्ति को द्योतित करता है। `शाहंशाह की आँखों में आँसू` में विरोधाभास है। `उन्होंने हमारे सामने घुटने टेक दिये और कहा— शहंशाहे आलमगीर। हमें हमारा बेटा औरंगज़ेब वापस कर दो`— एक (औरंगज़ेब) चरित्र में दो धाराएँ विद्यमान हैं— पहली ऐतिहासिक और दूसरी यथार्थ। बादशाही लिबास की गर्मी में औरंगज़ेब ने मानवता को बहुत पीछे छोड़ दिया, जबकि आज स्थिति

ऐसी नहीं । एक व्यक्ति के रूप में औरंगज़ेब यथार्थ के धरातल का स्पर्श कर रहा है, किन्तु बादशाह के रूप में वह हवा में उड़ रहा था । जीवन के अन्तिम समय में जब वह यथार्थ की ज़मीन पर उतरता है तब उसे अपनी गलती का समग्रता से अहसास होता है । यहाँ " बादशाही ---- ---- गया है " और " उसे हमें वापस कर दो " में रचनाकार मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने का आकांक्षी है न कि पद के लिबास की चकाचौंध में। रचनाकार का शब्द " लिबास " समग्र अर्थ का बोध कराता है । अतः पूरे संवाद में क्षिप्रता और कसाव है, जिसमें अर्थ की तह खुलती जाती है । इतिहास के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद के मुख्य तर्क से - " इतिहास की घटनाओं का यदि विश्लेषण किया जाये, तो उनके भीतर हमें मनुष्य की इच्छाओं और आकांक्षाओं का घात प्रतिघात मिलेगा "[१४] रामकुमार वर्मा प्रभावित हैं ।

पात्रों की विविधता और असमानता भाषा की विभिन्नता के लिए बाध्य नहीं करती । सभी पात्र उर्दू शब्दावली मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु मर्यादानुकूल। कहीं भी शिष्टता भंग नहीं होने पायी है । ऐतिहासिक नाटक के लिए यह आवश्यक शर्त है । " औरंगज़ेब की आखिरी रात " में कहीं - कहीं संवादों के बीच में सशक्त अर्थ उत्पन्न होता है, जो रचनाकार की प्रखर प्रतिभा का परिचायक है । प्रस्तुत उद्धरण में इसका संकेत है ।

" आलम : (ठंडी साँस लेकर) जीनत, जब हम पैदा हुए थे तब हमारे चारों तरफ हज़ारों लोग थे, लेकिन ---- लेकिन इस वक्त हम अकेले जा रहे हैं । हम इस दुनियाँ में आए ही क्यों, हमसे किसी की भलाई नहीं हो सकी । हम वतन और रैयत दोनों के गुनाह अपने सिर पर लिए जा रहे हैं ।

जीनत : आलमपनाह ! आपने तो वतन और रैयत की भलाई की है, और---- "[१५]

यदि रचनाकार के इस नाटक में भावों को उद्वेलित करने की सशक्त क्षमता है तो इसका मुख्य कारण कहा जा सकता है कि वह एक प्रखर मनोविश्लेषक है, जो मानव को मानव बनाकर देखना चाहता है-- " हम -------- हो सकी । " " हम इस दुनियाँ में आये ही क्यों, हमसे किसी की भलाई नहीं हो सकी "-- में औरंगज़ेब का घोर पश्चात्ताप है-- अतीत में किये गये कुकर्मों के प्रति । रचनाकार की इतिहास दृष्टि कहीं विकृत नहीं हुई

है प्रसाद की तरह उनकी कल्पना और इतिहास में सामन्जस्य है।

ऐतिहासिक नाटक में इतिहास की घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं वरन् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सर्जनात्मक कल्पना होती है, किन्तु उस कल्पना के लिए रचनाकार स्वतन्त्र नहीं होता। यद्यपि कल्पना और परतन्त्रता विरोधाभास है, पर यह विडम्बना है। कल्पना शक्ति ऐतिहासिक नाटक में दोहरा दायित्व वहन करती है— संरक्षण एवं रूपान्तरण का। संरक्षण इतिहास सम्मत भाषा, वेशभूषा है 'औरंगजेब की आखिरी रात' में और रूपान्तरण औरंगजेब का द्वन्द्व। संरक्षणात्मक भूमिका प्रथम सोपान है रूपान्तरकारी भूमिका की ओर जाने का। 'औरंगजेब की आखिरी रात' में कुछ चरित्र काल्पनिक हैं, जिनके तात्कालिक होने की भावना प्रबल है जैसे हकीम, कातिब। रचनाकार की विशेष शैली के कारण काल्पनिक पात्र भी प्रामाणिक लगते हैं। उसकी कल्पना इतिहास के अनुकूल है और यह कार्य वह सर्जनात्मक भाषा द्वारा करता है। भाषा इतिहास काल का बोध कराने के साथ - साथ अतीत और वर्तमान के अन्तर को पाटती है। पात्रों की वेशभूषा, बोलचाल के ढंग की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं होती। अतः ऐतिहासिक रचनाकार के लिए भाषा के सन्दर्भ में विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पड़ता है— अपनी विशेष दृष्टि के कारण। रचनाकार के शब्दों में—" मैंने ऐतिहासिक नाटक अधिक लिखे हैं, इसका कारण एक तो राष्ट्र की संस्कृति में मेरा विश्वास है जिसका विकास करने में हमारे ऐतिहासिक महापुरुषों का विशेष हाथ रहा है। दूसरे ऐतिहासिक जीवन के एक निरूपण से हमारे वर्तमान जीवन को एक नैतिक धरातल प्राप्त होता है।"[१६] 'औरंगजेब की आखिरी रात' में ऐतिहासिक रचनाकार के नियमों का निर्वाह आद्योपान्त हुआ है। प्रस्तुत उद्धरण की भाषा मुगलकाल का बोध कराने में रंचमात्र विलम्ब नहीं करती—

आलम : (भारी साँस लेकर) जिसने सारी जिन्दगी खून का जाम पिया है उसे दवा का जाम क्या फायदा करेगा? इसे फेंक दो जीनत, उस खिड़की की राह फेंक दो।

जीनत : आलमपनाह, यह दवा --- (छिपकती है)

आलम : (तीव्र स्वर में) जीनत, हम अब भी हिन्दुस्तान के बादशाह हैं। हमारे हुक्म की शमशीर अब भी तेज है। फेंको यह दवा।" [१७]

यदि नाटककार के अन्दर कवि हृदय है, तो अवसर पाते ही नाटक में जागृत हो जाता है और नाटक उससे बच नहीं पाता। अवश्य कवि व्यक्तित्व वातावरण को कलात्मक ढंग से क्रियाशील करने में तत्पर हो जायेगा। 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में यही स्थिति है। इसकी पकड़ है शान्तिमलिक के शब्दों में— 'ऐतिहासिक रचनाओं के संवादों में भाषा सौष्ठव के तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इनमें यत्र - तत्र काव्यमयी साहित्यिक भाषा में बड़े कलात्मक चित्र प्राप्त होते हैं। ऐसे स्थलों पर उनका सौन्दर्यशील कवि हृदय का रूप अभिव्यक्त हो उठा है।'[१८] 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में कवि व्यक्तित्व नाटककार व्यक्तित्व पर हावी नहीं है, बल्कि दोनों में सुन्दर सामन्जस्य है। दूसरे शब्दों में कवि हृदय ने नाटककार को प्रभावित किया है न कि नाटककार ने कवि हृदय को। रचनाकार पात्रों की चाहे जिस मनः - स्थिति का चित्रण कर रहा होता है, लय एवं बिम्ब से निरूपित काव्यात्मक पंक्तियाँ उसे अधिक प्रवाह देती हैं। 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में जहाँ भी औरंगज़ेब का संलाप एवं पश्चाताप है काव्यात्मक पंक्तियाँ उसके अर्थ एवं सौन्दर्यता को द्विगुणित करती हैं। प्रस्तुत उद्धरण साक्ष्य है—

'देखती हो यह अँधेरा? कितना डरावना। कितना खौफ़नाक। दुनियाँ को अपने स्याह परदे में लपेटे हुए है। गोया यह हमारी जिन्दगी हो। इसमें कभी सुबह नहीं होगी जीनत? अगर होगी भी तो वह इसके काले समुन्दर में डूब जायेगी। इस अँधेरे में सूरज भी निकले तो वह स्याह होगा।'[१६]

प्रत्येक रचनाकार इस अँधेरे से जूझता है- अपने सृजनकाल में। समाज में आच्छादित अँधेरे से जूझकर रचना करना और अपने प्रेरक तत्वों का अभिज्ञान-- कराना रचनाकार का धर्म है। ऐसा अँधेरा जो - 'दुनियाँ को अपने स्याह परदे में लपेटे हुए हैं' मानव जीवन की विवशता है, पर रचनाकार के जीवन में वह विवशता मात्र बनकर नहीं रह जाती। अँधेरे से निरन्तर जूझना उजाले की ओर जाने की प्रवृत्ति है— अपनी - अपनी रचनात्मक शक्ति के अनुसार। प्रकृति का अनिवार्य धर्म अँधेरा का संक्रमण मानव जीवन में होते होते कितना भयंकर रूप हो जाता है इसका अनुभव किया जा सकता है - पूरे उद्धरण में। अँधेरे की शक्ति प्रबल है क्योंकि वह 'दुनियाँ को अपने स्याह परदे में लपेटे हुए है।' इसकी शक्तियों का अहसास इस पंक्ति 'दुनियाँ ---- हैं' में निहित

बिम्ब द्वारा अधिक होता है। ' इसमें कभी सुबह नहीं होगी जीनत ?' में विवशता है। ' और होगी भी तो वह इसके काले समुन्दर में डूब जायेगी। इस अँधेरे में सूरज भी निकले तो वह स्याह हो जायेगा ' में सुन्दर बिम्ब योजना है, जो दृश्यों का सम्पूर्णता में साक्षात्कार कराती है। पूरी की पूरी कलात्मक पंक्तियाँ सहानुभूति उत्पन्न करती हैं— पात्र की विवश स्थिति पर और समाज के समस्त मानव जीवन की स्थिति पर। रचनाकार का धर्म व्यष्टि से समष्टि की ओर है न कि समष्टि से व्यष्टि की ओर।

' औरंगज़ेब की आख़िरी रात ' में बिम्ब का प्रस्फुटन पात्रों की शैली से हुआ है। ऐसी बिम्ब - योजना में उपादानों की अधिकता को किसी प्रकार प्रश्रय नहीं दिया गया है। बिम्बों की सहजता ही विशेषता बन जाती है—

' जिस तरह सुबह होने से पहले रात और भी सुनसान और ख़ामोश हो जाती है, उसी तरह मौत से पहले हमारी सारी शिकायतों का शोर ख़ामोश हो गया है।'[२०]

मानव जीवन को सुख अत्यधिक आनन्दित करता है, तो दुःख अत्यन्त दुःखदायी। पर दुःख को झेलने की मनोवृत्ति साथ रहे तो वह उतना कष्टकर नहीं लगता। सबसे अधिक दुःख तो दुःख को नकारने में है। जो जीवन का अनिवार्य सत्य है उससे अस्वीकृति क्यों ? जीवन - मरण प्रकृति का नियम है। जीवन जब व्यक्ति को प्रीतिकर लगता है, तो दुःख को भी सहजता से नियम मानकर लिया जाय तब उसका भयंकर रूप कुछ सहज हो जाता है और व्यक्ति उसे ख़ुशी से झेल लेता है। अपनी इस मनोवृत्ति के कारण रचनाकार को सुबह से पहले की रात का सुनसान और ख़ामोश होना और मौत के पहले की सारी शिकायतों के शोर की ख़ामोशी एक जैसी लगती है। दोनों की समानता इस बिम्ब में कितनी सजीव हो उठती है इसका अनुभव किया जा सकता है। उर्दू का ' ख़ामोश ' शब्द स्थिति की विराटता को ध्वनित करता है। सहानुभूति उपजाने में काल का प्रमुख हाथ है। अतीत में औरंगज़ेब की क्रूरता (धर्म विरुद्ध आचरण की) जहाँ क्रोध उत्पन्न करती है वहीं वर्तमान की विवशता एवं पश्चात्ताप सहानुभूति।

सौन्दर्य यदि दुःख के अँधेरे में है, तो जीवन की विभीषिका मृत्यु में भी। कुछ

को बचाने की इच्छा नहीं, दूसरों के मार्ग-निर्देशन की इच्छा दृढ़ है। बिम्ब के बिना संवाद प्रभावशाली नहीं होता, विपन्न अवश्य होता। यह उतना सत्य है, जितना जीवन—

"इस जिन्दगी के चिराग में अब तेल बाकी नहीं रहा—। इस खाक के पुतले को कफन और ताबूत की जेबाइश की जरूरत नहीं।

— — — —

"हमें खुशी होगी अगर हमारी कब्र पर कुदरती सब्ज मलमल की चादर बिछी होगी—" २१

व्यक्ति क्षीण है, किन्तु उसकी भाषा नहीं। "इस जिन्दगी के चिराग में अब तेल बाकी नहीं रहा—" में अर्थ का आलोक है। यह करुण भावना को जागृत करता है। एक व्यक्ति (औरंगजेब) जो अपने जीवन से सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि उसने क्रूर कर्म के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं किया उसके अन्दर पीड़ा है—" जिन्दगी के चिराग में तेल बाकी न रहने की।" जीवन के अवशेष दिनों में शायद वह अच्छे कार्यों को करके पापों का प्रायश्चित्त करता। ऐसे जीवन में यदि अधिक पीड़ा है तो क्रूर कर्मों को करते हुए मृत्यु - शैय्या पर सो जाने की। पर जीवन नहीं तो क्या, अन्तिम संस्कार से वंचित रहकर औरंगजेब अपनी क्रूरता का प्रायश्चित्त करके कुछ सन्तुष्टि हासिल कर लेना चाहता है। यदि क्रूरता से इतनी अधिक पीड़ा फेलनी पड़ती है, तो जीवन की उदार दृष्टि श्लाघ्य नहीं? ऐसा प्रतीत होता है यह कहने के बावजूद "हमें खुशी होगी अगर हमारी कब्र पर कुदरती सब्ज मलमल की चादर बिछी होगी—" वह भीतर-भीतर इतना विह्वल और उद्विग्न है कि उसके अन्दर मृत्यु की स्वीकृति में प्रेम मिश्रित पीड़ा है। क्रूरकर्मी व्यक्ति के अन्दर क्षोभ है, जो उदार भावना के प्रसुप्त रह जाने का।

रामकुमार वर्मा अपने में एक मौलिक रचनाकार हैं— अपनी मौलिक दृष्टि के कारण। पूर्ववर्ती नाटककार (प्रसाद) से प्रभावित होकर भी उन विचारों को नवीनता के साथ पुनर्स्थापित करते हैं। बच्चन सिंह की अवधारणा इस सन्दर्भ को दृढ़ता प्रदान करती है— "डा० वर्मा हिन्दी - एकांकी के जन्मदाताओं में से एक

हैं। वे आदर्शवादी कलाकार हैं, किन्तु उनकी आदर्शवादिता का मूलाधार है वास्तविकता। जीवन की वास्तविकता को कल्पना के सहारे वे आदर्शवादी मोड़ दे देते हैं। यथार्थ के नाम पर गन्दे, कुत्सित और वासनात्मक चित्र आँकना उन्हें वांछनीय नहीं है।" २२

॥ स न्द र्भ ॥

१- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजतरश्मि : पृष्ठ - ११८

२- - वही - पृष्ठ - १२०

३- - वही - (छन नाटकों की शैली) पृष्ठ-१४

४- - वही - पृष्ठ - १३४

५- डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृष्ठ - २१२

६- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजतरश्मि : पृष्ठ- १४ - १५

७- - वही - पृष्ठ- १३६

८- - वही - पृष्ठ- १३७

९- - वही - पृष्ठ-१३६

१०- डॉ० शान्तिमलिक : हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास : पृष्ठ-४७६

११- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजतरश्मि : पृष्ठ - १३३

१२- - वही - पृष्ठ - १२८ - १२९

१३- - वही - पृष्ठ - १२४

१४- आलोचना-६७ दिनेश्वर प्रसाद : प्रसाद की इतिहास दृष्टि : पृष्ठ - ४०

१५- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजतरश्मि : पृष्ठ - १३५

१६- सं० रामचरण महेन्द्र : डा० रामकुमार वर्मा (उमाशंकर सतीश द्वारा साक्षात्कार) हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचन : पृष्ठ - १९९ - २००

१७- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजतरश्मि : पृष्ठ - १३७

१८- डॉ० शान्तिमलिक : हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास : पृष्ठ-४७७

१९- डॉ० रामकुमार वर्मा : रजतरश्मि : पृष्ठ - १२३

२०- - वही - पृष्ठ - १३३

२१- - वही - पृष्ठ - १४०

२२- डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृष्ठ - २१०

।। भुवनेश्वर : `ऊसर`; `ताँबे के कीड़े` ।।

`ऊसर` (सन् १६३८) `ताँबे के कीड़े` (सन् १६४६) आधुनिक जीवन की गहन संश्लिष्ट तथा जटिल, किन्तु आकुल छटपटाहट की नाट्य अभिव्यक्ति है, न कि पुरानी लकीर की पुनरावृत्ति । एकांकी होने के बावजूद ये अपने अर्थ सम्प्रेषण में सम्पूर्ण नाटक हैं, जिनमें किसी एक समस्या को सुलझाने की प्रवृत्ति न होकर एक व्यापक किन्तु अमूर्त वस्तु जगत की असंगतियों, अमानवीयताओं और निरर्थकताओं से जूझने की नाकाम कोशिश है । इन्हीं अर्थों में ये नाटक आधुनिक समाज के अन्तर्विरोधों के नाटक हैं ।

यद्यपि अपने प्रारम्भिक नाटकों `श्यामा— एक वैवाहिक विडम्बना`, `प्रतिमा का विवाह` में भुवनेश्वर नाटक की प्रचलित परम्परा का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं— `प्राय: समस्त नाटककार जो पेटीकोट की शरण लेते हैं, दो पुरुषों को एक स्त्री के लिए आमने - सामने खड़ा कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं । मैंने भी यही किया है`[१]— किन्तु धीरे - धीरे उन्हें प्रचलित परम्परा के थोथेपन का कटु आभास होने लगा । `ऊसर` में प्राचीन परम्परा से छुटकारा पाने की सक्रिय ललक है । रमेश तिवारी ने ठीक कहा— `ऊसर` भुवनेश्वर की नाट्य प्रतिभा का लगभग मध्यवर्ती भाग है, जिसमें प्रचलित पद्धतियों का काफी कुछ त्याग और नवीनता का कुछ अधिक ठोस तथा मूर्त रूप में ग्रहण है, यद्यपि अभी प्रचलित सामाजिक नुस्खे को पूरी तरह छोड़ा नहीं गया है ।` आधुनिक, ईमानदार नाटककार प्राचीन नाटककारों की नाट्यदृष्टि को दुहराता नहीं है, बल्कि उससे प्रेरणा ग्रहण करता है । इस दृष्टि की झलक भुवनेश्वर के व्यक्तित्व में मिलती है । `ताँबे के कीड़े` की भाषा में सर्जनात्मकता की चरम स्थिति है और यह भुवनेश्वर की नाट्य प्रतिभा को पहचानने का सफल उपाय है । `ताँबे के कीड़े` में उनका क्रान्तिकारी स्वभाव— परम्परा और रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न कर देने की, सामाजिक विसंगतियों और बदलते मानवीय रिश्तों से इनकार करने की स्थिति नहीं है, बल्कि इसमें आद्योपान्त स्वार्थ पर टिके मानव प्रकृति को विशेष ढंग से अभिव्यंजित किया गया है, पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों के साथ । एक नाटककार की हैसियत से डा० विपिनकुमार अग्रवाल ने भुवनेश्वर को सही रूप में पहचाना—`यह भुवनेश्वर की शक्ति है कि वे `ऊसर` से `ताँबे के कीड़े` तक की छलांग लगा

सके और नये नाटक को जन्म दे सके। प्रचलित शैली और प्रथा से मुक्त होकर जीवन के ढाँचे को बिना मरोड़े देखने की ताकत 'ताँबे के कीड़े' में मिलती है।'[3]

पूर्व नाट्य परम्परा से परे और बोलचाल की भाषा का नया रूप सर्वप्रथम 'ऊसर' और 'ताँबे के कीड़े' में मिलता है। ऐसे समय में जबकि साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा में लम्बा अन्तराल था भुवनेश्वर की भाषा अपने में बहुत बड़ी चुनौती है। बोलचाल की भाषा जीवन का जितना यथार्थ रूप सम्प्रेषित कर सकती है, उतना चमत्कृत भाषा नहीं। इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण चिन्ता में भुवनेश्वर ने पहल की, नाटक के माध्यम से। भुवनेश्वर द्वारा निराला की भाषा चमत्कार की आलोचना, उनकी सहज भाषिक दृष्टि का परिचायक है— 'उसका आर्द्र कोमलपन, उसका मस्तानापन, उसकी दोस्ती, उसकी कविता में कहीं नहीं जाहिर होती, जाहिर होता है एक कलाकार जो कलम हाथ में लेकर सोचता है और चमत्कार के लिए भाषा का सहारा खोजता है। जाहिर होती है उसकी कटुता जो उसके कवित्व से अलग होते ही विफलता प्रतीत होती है।' बोलचाल की भाषा की सहजता 'ऊसर' में देखी जा सकती है—

'गृहस्वामिनी : रिकार्ड सुनियेगा ? पर कोई नया रिकार्ड तो हमारे पास है नहीं।
युवक : (ओंठ दबाकर) कोई गाना ही गाएँ।

(— — —)

गृहस्वामी : ओ बेटियों, गाओ न ——
मोटी रमणी : आप गाइए, इन बेचारियों को क्या आता है ?
गृहस्वामी : ओहो, तो आप ही गाइए।'[4]

यहाँ रचनाकार भाषा की सहज वृत्ति के लिए चिन्तित है, किन्तु अर्थ की व्यंजना के लिए उससे कहीं अधिक परेशान है— परोक्ष में। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष में भाषा जितनी सहज है अर्थ व्यंजना की दृष्टि से उतनी ही गम्भीर। सन्दर्भ के अनुरूप अर्थ का सन्निवेश है। बोलचाल की शब्दावली सामान्य व्यवहार में जहाँ एक अर्थ देती है, वहीं सर्जन के क्षेत्र में आकर बहुआयामी हो जाती है। 'रिकार्ड' का तात्पर्य यहाँ सामाजिक परिप्रेक्ष्य से है, जिसको रचना में लिया जा चुका है। प्रत्येक सजग रचनाकार समकालीन संवेदना से संपिद्ध रहता है चाहे वह मध्यकालीन रचनाकार हो, चाहे

छायावादी या तत्कालीन । पहले संवाद में गृहस्वामिनी द्वारा रिकार्ड सुनाने का आग्रह है, किन्तु अगले क्षण उसका विचार परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि इस रिकार्ड में पूर्व नाटककारों ने सामाजिक जीवन का संगीत अपने - अपने ढंग से पेश किया है और काल के प्रवाह के साथ इसकी लय धीमी और पुरानी पड़ गई है । विचित्र स्थिति यह है कि पुराना रिकार्ड व्यक्ति सुनना - सुनाना नहीं चाहता और नया रिकार्ड है ही नहीं जो आज की सामाजिक विसंगतियों को अपने स्वर में गतिशील कर सके । नये रिकार्ड की अनुपस्थिति एक गाना मात्र गाने के लिए विवश करती है । उसके बाद तो गाना भी किसी के मुख से मुखरित नहीं होता । बस एक दूसरे पर टाला भर जाता है, क्योंकि यथार्थ को अभिव्यंजित करने का साहस आज किसी में नहीं है और ऐसे में सभी अपने बचाव के लिए कोई न कोई रास्ता ढूँढ़ते हैं ।

'ऊसर' और 'ताँबे के कीड़े' दोनों नाटकों में बोलचाल की शब्दावली की कोई सीमा निर्धारित नहीं । गम्भीर और बेतुकी स्थितियों के व्यंग्यात्मक चित्रण के लिए बोलचाल की शब्दावली का प्रयोग करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं । जीवन के यथार्थ को अंकित करने के लिए उसी तरह की भाषा का प्रयोग 'ताँबे के कीड़े' में मिलता है । ''ताँबे के कीड़े' तत्कालीन प्रचलित नाट्य शैली शिल्प से एकदम भिन्न, नितान्त प्रयोगशील और संश्लिष्ट संवेदनाओं का नाटक है— अपने संक्षिप्त रूप में एक लम्बा पूरा नाटक । यह नाटक को उसके रचना - बन्ध से सर्वथा मुक्त करता है और त्रस्त - व्यस्त समाज की पीड़ा को, अन्तर्व्यथा को, चारों ओर व्याप्त असमानता को, विघटन को, बड़े तीखेपन और बड़ी गहरी करुणा के साथ निर्बन्ध होकर व्यक्त करता है ।' [६]

(लड़के हँसते हैं)

थका अ० : अच्छा बच्चों, अब एक पहेली बूझो (ताली बजा कर पटु लहजे में) —— कालेज के बच्चों, बूझो— क्या तुम ऐसी चिड़िया का नाम बता सकते हो, जो उमड़ती निडर घटाओं के बीच नाचती है, जिसके पर में आठ रंग होते हैं— पर —— जो कुत्ते की तरह भौंकती है ।

एक लड़का ? (रुआँसा) नहीं ।

थका अ० : (खुशी से तालियाँ पीटकर नाचने लगता है) तुम नहीं बता सकते, तुम

अभी बच्चे हो । मैं जानता था, तुम नहीं बता सकोगे । --- अरे, मोर --- मोर, --- मोर तुम नहीं जानते ? --- मोर --- ।

एक लड़का : (कुढ़कर) लेकिन मोर भौंकते कहाँ हैं ? [७]

बोलचाल की भाषा सहज होकर उथली अर्थ की प्रतीति कराने वाली नहीं है यह भुवनेश्वर की भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है । यों तो प्रसाद और पूर्ववर्ती नाटककारों ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु भुवनेश्वर की भाषा में जो शरारत है, हरकत है वह सक्रियता उनमें नहीं है । थके अफसर का ताली बजाना, पहेली न बूझ पाने की विवशता में लड़कों का रुआँसा होना और शंका समाधान होने पर कुढ़कर बोलना ये सबके सब हरकत हैं और हरकत मात्र नहीं बल्कि ये सब भाषा में अर्थ का सन्निवेश कर रचनाकार की भाषिक दृष्टि की विशिष्ट पहचान कराते हैं । बच्चे अभी अनुभव से अपरिपक्व हैं, इसलिए मोर उनकी दृष्टि में सही मोर है । मोर का भौंकना उन्हें वैसे ही चौंका देता है, जैसे अब तक के बनावटी नाटकीय यथार्थ में लिप्त मनुष्य का एकांत नाटक देखकर चौंकना । अनुभव से थके अफसर की दृष्टि में मोर भौंकता है ठीक उसी तरह जैसे स्त्री भौंककर कहती है— ' मुझे नहीं मालूम कि मैंने तुमसे शादी क्यों की ।' [८] इन पंक्तियों में एक साथ दो अर्थ की धारायें होती हैं । एक तरफ नाटकीय स्थितियों की नाटकीयता में सर्जनात्मक अनुभव का समावेश और दूसरी तरफ वैवाहिक सम्बन्धों की विडम्बना की शुरुआत जो आगे चलकर राकेश के ' आधे अधूरे ' में प्रतिफलित हुई ।

भारतेन्दु और प्रसाद के बाद भुवनेश्वर ने घिसी - पिटी प्राचीन नाट्य-भाषा से अलग अपने अनुभव संसार के अनुकूल भाषा संसार का संस्कार किया । यदि भारतेन्दु की भाषा पात्रानुकूल और प्रसाद की रागात्मक ऐश्वर्य और संयम की भाषा है तो भुवनेश्वर की भाषा भीषण अन्तर्मन्थन, द्वन्द्व एवं हरकत की । वर्षों से दबी घुटन फूट पड़ने के लिए आकुल है । भारतेन्दु और प्रसाद ने परतन्त्र परिवेश में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त की थी जबकि भुवनेश्वर स्वतन्त्र परिवेश में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए जागरूक थे, क्योंकि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता सतत गतिशील रहती है— देश की समस्याओं को लेकर । ' अन्धेर नगरी ' और ' स्कन्दगुप्त ' की परिणति ' ऊसर '

और 'ताँबे के कीड़े' है—क्योंकि जिस सामाजिक स्वतन्त्रता की छटपटाहट पहले थी, वह अब प्राप्त हो गई थी। अतः 'ऊसर' और 'ताँबे के कीड़े' की भाषा में उन्मुक्तता है, प्रवाह है और उसके अन्दर कहीं गहरी वेदना है—

'यह कैसी पार्टी है। (टहलता हुआ) आप लोग चाहें ----- (फिर बैठ जाता है) मैं कहता हूँ कि आने वाली जेनरेशन, चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की, हमसे अच्छी होगी ----- हमसे।' ६

गृहस्वामी के संवाद में आधुनिक जीवन की विसंगतियों के प्रति आक्रोश, समूचे जीवन की समूची निष्क्रियता और ऐसे में जीवन जीते जाने की विवशता का यथार्थ अंकन है। संवाद में निहित आक्रोश के मूल में जीवन की निष्क्रियता और ऊब है। गृहस्वामी का टहलते हुए बैठ जाना—जीवन की निष्क्रियता की तरफ संकेत है। 'मैं कहता हूँ कि आगे आने वाली जेनरेशन, चाहे बिल्लियों की हो या सर्पों की हमसे अच्छी होगी ----- हमसे, में जीवन की जड़ता और अकर्मण्यता पर गहरा व्यंग्य है, जिसको बिल्लियों और सर्पों से भी गया बीता बताया गया है। यह पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा गया है। अन्त में 'हमसे' की पुनरावृत्ति विश्वास को दृढ़ करने के लिए की गई है। अभिव्यक्ति की उष्णता अपने मूल रूप में सम्प्रेषित होती है। भुवनेश्वर के मिजाज की उष्णता का चिन्तन डा० सत्यव्रत सिन्हा ने किया है— 'स्पष्ट है कि उनमें ठंढापन नहीं होता और यह ठंढापन न होना ही उनकी दुर्बलता थी। यदि वे ठंढे दिमाग के रचनाकार रहे होते तो एक तो वे जीवित रहते और हिन्दी के नाट्यलेखन को अपने सामने ही नयी दिशा दे गये रहते। लेकिन यह कल्पितार्थ कहा जायगा, कारण कहा जा सकता है कि यदि वे ठंढे रहे होते तो ऐसी रचना ही नहीं कर पाते, किन्तु यह सर्वमान्य है कि न्यूरॉटिक रचनाकार को भी कम से कम नाटक लिखने के लिए बहुत हिसाबी होना पड़ता है और यह गुण भुवनेश्वर में नहीं था। तो भी कारवाँ के संग्रह द्वारा और कुछ छिट फुट भी भुवनेश्वर की जो रचनायें प्राप्त हैं, वे यह सिद्ध कर देने के लिए पर्याप्त हैं कि भुवनेश्वर के पेटे में केवल हिन्दी के ही नहीं बल्कि अन्य भाषाओं के आधुनिक नाटककार भी बँधे हुए हैं।' १०

भुवनेश्वर ने नाटक में शब्दों के सौन्दर्य, ध्वनि को उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया, जितना प्रवाह को और यही नाटक को शक्तिशाली बनाता है—सर्जनात्मकता

की दृष्टि से । नाटक की भाषा में प्रवाह उसी भाँति है जैसे समस्याओं का अन्त रूप । समस्याओं के प्रति रचनाकार की चिन्ता अधिक है, तो भाषा का प्रवाह भी अवरुद्ध नहीं है, बल्कि वेगवान है । "ताँबे के कीड़े" में माशूक पति के संवाद में रचनाकार की अपनी चिन्ता है— "नहीं मुझे नाश करना ही पड़ेगा । लड़ना पड़ेगा इस बेमतलब, बेमानी, और अन्त शुरुआत के खिलाफ़ । एक - एक पत्ती, एक - एक शब्द और एक - एक पत्थर के खिलाफ़ ।" [११]

रचनाकार की दृष्टि में देश की समस्याओं के प्रति जितनी अधिक चिन्ता है,उतनी भाषा की सर्जनात्मकता के लिए भी।ख्याति प्राप्त करने का यही मुख्य कारण कहा जा सकता है । "लड़ना पड़ेगा इस बेमतलब, बेमानी और अन्त शुरुआत के खिलाफ" में उर्दू शब्द अर्थ की भावधारा को परिभाषित करते हैं । "एक - एक पत्ती, एक - एक शब्द और एक - एक पत्थर के खिलाफ" रचनाकार के चुनौतीपूर्ण व्यक्तित्व को ध्वनित करता है, जिसके मूल में समस्याओं का अम्बार रहा है । आप जिन समस्याओं को उनके चरमोत्कर्ष रूप में समझा जा रहा है उसे स्वतन्त्रता के शुरुआत में ही समझ लेना और मात्र समझना ही नहीं, बल्कि उसे गम्भीर रूप में लेना रचनाकार के परिपक्व व्यक्तित्व का द्योतक है ।

सामाजिक विसंगतियाँ रचनाकार को बेचैन कर देती हैं, तो उसकी रचना भी उससे बच नहीं सकती । संघर्ष आधुनिक नाटक की परिणति है और यदि उसकी भाषा भी सर्जनात्मक हो तो रचना और अधिक ख्याति प्राप्त कर लेती है । जगदीश शर्मा की धारणा भुवनेश्वर की भाषा दृष्टि के सन्दर्भ में सार्थक कही जा सकती है— "कोई कलाकार महान होता है तो इस कारण कि वह कुछ ऐसी रचनाएँ दे जाता है, जो अपनी सर्जनात्मक उत्कर्ष में बेजोड़ होती हैं, अपने से पहले और बाद के रचनाकारों के मध्य उसका सर्जनात्मक व्यक्तित्व सबसे अलग दिखलाई देता है : वह किसी का अनुकरण नहीं करता और स्वयं उसका अनुकरण दूसरों के लिए दुस्साध्य होता है ।" [१२] "ऊसर" में व्यक्ति के व्यक्तित्व की उर्वरक क्षमता एकदम नष्ट हो गई है और "ताँबे के कीड़े" में स्थिति अधिक उत्कर्ष पर पहुँच जाती है । "ऊसर" में उच्च मध्यवर्गीय जीवन की रिक्तता और उसके मरने के थोथे रूप का क्रमिक विकास है, जिसमें सामाजिक यथार्थ का मूलरूप रूपायित हुआ है—

' मैं उस भीड़ - भड़क्के से बहुत भड़कता हूँ और औरतों को तुम नहीं जानते, जब बाहर के आदमी होंगे, तो वे बिल्कुल दूसरी ही हो जायँगी और अपने पति से भी वही उम्मीद करेंगी । मैंने आपकी टेबुल पर फ़िंगर बोल, मैंने सुनी भी न थी, पर मेरी मेम-साहब शायद यह दिखलाना चाहती थीं कि जैसे हम लोग हफ़्ते में दस दिन फ़िंगर बोल बरतते हैं ---- हुँह ' ---- ' । १३

यथार्थ स्थितियाँ— चाहे जिस रूप में हों उतनी नहीं मानव मन को खटकतीं, जितना उनका बनावटी रूप । आज जैसे स्वाभाविकता रह ही नहीं गई है सब कुछ बनावटी हो गया है । मनुष्य दूसरे से स्वयं को ऊँचा प्रदर्शित करने की होड़ में लगा हुआ है और उसी में बेचैन है । यदि यह बात उसी तक सीमित रहती तब भी कोई बात थी जब वह अपना असली रूप खोकर दूसरों से भी यही अपेक्षा करता है तब उसका रूप अधिक क्रूर हो जाता है । ' औरतों को तुम नहीं जानते, जब बाहर के आदमी होंगे, तो वे बिल्कुल दूसरी हो जायँगी और अपने पति से भी वही उम्मीद करेंगी ' में आज के आदमी की विवशता व्यंजित है । ' हुँह ' शब्द में मध्य वर्ग का तिरस्कार भाव स्वयं अपने प्रति निहित है ।

' ऊसर ' का ट्यूटर कहीं अधिक संघर्षमय जीवन व्यतीत कर रहा है । उसका मूल कारण है मध्यवर्ग द्वारा उसकी स्थिति को न समझना । भारतेन्दु और प्रसाद के समय की जनता अंग्रेज शासक द्वारा परतन्त्र थी, किन्तु आज की स्थिति कम विषम नहीं है,— जिसमें एक ही देश और वर्ग के लोग एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने के प्रयास में हैं—

' ट्यूटर : मैं सोचता हूँ कि यह इन्टेलैक्चुअल एक्सपेरिमेन्टर का जीवन जो मैं ——

(कुत्ता चीख़ पड़ता है, शायद उसका पैर जूते से कुचल गया है । ट्यूटर एक छोटी घोड़ी के समान रुक जाता है । गृहस्वामी उछल पड़ता है) ' १४

ट्यूटर का घोड़ी के समान रुकना उसकी परतन्त्रता और जीवन की अंधरता का प्रतीक है । कुत्ते का चीखना जैसे किसी अप्रत्याशित दुर्घटना का द्योतक है । गृहस्वामी का उछलना उसके विरुद्ध की गई बात का बोधक है । अतः पहली पंक्ति में ट्यूटर का अन्तर्द्वन्द्व है, जिसके द्वारा एक से एक विरोधात्मक स्थितियों की व्युत्पत्ति होती है ।

' ताँबे के कीड़े ' में संघर्ष के उस रूप का साक्षात्कार होता है, जो बाह्य रूप

का दिग्दर्शन उतना नहीं कराता, जितना आन्तरिक रूप का । इस संघर्ष की परिणति न तो सशक्त घटना- विन्यास के कारण है और न ही पात्रों के संघर्ष के कारण । यहाँ दोनों स्थितियों का संश्लिष्ट रूप है और यही नाटक को शक्तिशाली बनाता है । जगदीश शर्मा ने रचनाकार की नयी दृष्टि को पहचाना— ' कलाकार के आत्म संघर्ष का एक और रूप— जड़ीभूत हो जाने के खतरे के विरुद्ध सृजन के नये आयामों की खोज के लिए अबाध प्रयत्नशीलता— के दर्शन भी उनके एकांकियों में होते हैं ।' [१५] ' ताँबे के कीड़े ' का प्रस्तुत संवाद इसका सटीक उदाहरण है—

' रिक्शेवाला : बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया । मैं दूसरों का बोझ ढोता हूँ । मेरे रिक्शे में आइने लगे हैं । मैं आइने में अपना मुँह देखता हूँ । सूरज नहीं रहा । अब धरती पर आइनों का शासन होगा । आइने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग - अलग कर देंगे ।

थका अफ़सर : मैं थका हुआ अफ़सर हूँ, (ऊँघा हुआ सा) मैं बहुत थक गया हूँ । अन्धे कुएँ ---- में ---- जैसे एक - एक करके चीजें जमा हो जाती हैं । कुएँ की ओर ---- मरी हुई सूखी बिल्ली ---- बेबी का जाँघिया ---- टूटा कनस्टर ---- वैसे ही ---- वैसे ही थकान मेरे अन्दर जमा हो गई है । एक अवसाद और थकान ।

रिक्शेवाला : (तेजी से) वाह, अफ़सर ! आगे देखकर चलो । (टकरा जाता है) वाह ! तुमने मेरा एक आईना तोड़ दिया ।

(आउन्सर हँसती है— झुनझुना बजाती है) ' [१६]

एक के बाद एक विरोधी स्थितियाँ सामाजिक यथार्थ को गतिशील करती हैं, जिससे मस्तिष्क में संवेदना का संचार होता है । रिक्शेवाले के संवाद में कोई तारतम्य नहीं है, कोई सम्बद्धता नहीं है, सब जैसे अस्त - व्यस्त है, ठीक आज की अव्यवस्था की तरह, किन्तु उसमें मानव मन की सम्पूर्ण अन्तर्व्यथा समाविष्ट है । इस संवाद में अर्थों के कई तह जमे हुए हैं, जिनके विभिन्न रूप को उसकी सूक्ष्मता से ग्रहण करना प्रेक्षक का कार्य है । ' बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया ' में अर्थ बिम्ब है, जिसका सम्प्रेषण भी कई रूपों में होता है— एक साधारण अर्थ में बादलों द्वारा सूर्य का ढँक लिया जाना और दूसरा विशिष्ट अर्थ सामाजिक अव्यवस्था में व्यक्ति

की वेदना । ऐसे समाज में व्यक्ति के लिए जीवन की आशा निरर्थक नहीं, बल्कि भ्रम पैदा करने वाले आज्ञों के सदृश हो गई है ।

एक वाक्य का दूसरे वाक्य से ही नहीं बल्कि एक संवाद का दूसरे संवाद से भी तारतम्य नहीं है । मध्यवर्ग और निम्न वर्ग की विवशता, पीड़ा को बड़े ही कारुणिक ढंग से व्यंजित किया गया है, जो उबाऊ नहीं है, उसके लिए जिज्ञासा है, उसमें आकर्षण है और संवेदना को कचोटने की क्षमता है । ` अन्धे कुएँ --------- जमा हो गई है ` बिम्ब अफ़सर के जीवन की थकान को बड़े मार्मिक ढंग से सम्प्रेषित करता है । मध्यवर्ग का जीवन अन्धे कुएँ के समान होना और उस पर भी थकान उसके जीवन को उद्देश्यहीन बना देती है । यह थकान, थकान मात्र नहीं है, इसमें उद्देश्य की पूर्ति न होने का अवसाद है । व्यक्तियों के अन्दर भिन्न - भिन्न प्रकार का संघर्ष है, जिसकी उत्पत्ति एक दूसरे के कारण हुई है । संघर्षशील अफ़सर का रिक्शेवाले से टकरा जाने के परिणामस्वरूप संघर्ष का दूसरा रूप गतिशील हो जाता है, शब्दों की टकराहट से एक नये सृजनशील अर्थ का साक्षात्कार होता है ठीक वैसे ही जैसे अफ़सर से टकराकर रिक्शे वाले अर्थात् निम्नवर्ग का अवसाद अभिव्यक्त होता है । सच्चे साहित्यकार को भविष्य देखकर चलना चाहिए, ऐसे में उसका अनुभव परिपक्व हो सकेगा और वह अपनी पीढ़ी के भ्रम का निवारण तो करेगा ही, साथ - साथ आगे आने वाली पीढ़ी भी उससे सबक सीखेगी —यह रचनाकार का उद्देश्य है, जिसको उसने सशक्त भाषा में अभिव्यक्त किया है । पिछले दो संवादों (एक अवसाद और थकान ------ आह अफ़सर) के बीच का अन्तराल अर्थ की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं ठहरता है, बल्कि यह कथित संवाद से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है— समाज के प्रत्येक वर्ग का संघर्ष एक दूसरे के कारण उद्भूत हुआ है । उच्च वर्ग व्यवस्था की बेमानी, बेमतलब और अनन्त शुरुआत से परेशान है, मध्यवर्ग के हाथों परतन्त्र है और निम्नवर्ग का आन्तरिक संघर्ष मध्यवर्ग के कारण है । एक का संघर्ष अनजाने दूसरे में क्रियाशील हो जाता है। अनाउन्सर का हँसना एक व्यंग्य है, आलोचना है ` आधे अधूरे ` के पुरुष एक की तरह, ` पहला राजा ` के सूत्रधार की तरह । यह रचनाकार की नवीन दृष्टि का परिचायक है ।

` ऊसर ` और ` ताँबे के कीड़े ` विसंगत नाटक हैं । इसलिए इसकी भाषा

में एक प्रकार की उन्मुक्तता है, निश्छलता है, अस्वाभाविकता नहीं। भाषा की सर्जनात्मक जापस्कता के लिए एक तरफ़ इनके पात्र उछल कूद सकते हैं, नाटकीय प्रदर्शन कर सकते हैं, गा सकते हैं, तो दूसरी तरफ़ एक संवाद के प्रत्युत्तर में मौन भी रह सकते हैं। कहानी, उपन्यास की अपेक्षा नाटक में शब्दों के बीच विराम का, शब्द की अनुपस्थिति का और शुद्ध मौन का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। `ऊसर` में जीवन की त्रासदी का कारुणिक अंकन है—

` गृहस्वामी : (युवक से) तुम वहाँ गये थे ? मैं कहता हूँ, जब रात को तुम्हें पढ़ना हुआ करे, तो शाम को साइकिलबाज़ी न किया कीजिए। (थूकता है) माईजान, इसमें आप ही का फ़ायदा है—

युवक : (चुप है— जैसे चुक रहकर वह उसे हरा देगा)` १७

विराम के साथ - साथ मौन की सम्भावनाओं का प्रयोजन सिद्ध करने में प्रेक्षक जब उस (कलाकार की अनुभूति)तक पहुँच जाता है, तब वहाँ अन्य समस्याओं का भी साक्षात्कार हो जाता है और वह उसकी गहराई तक डूबता जाता है। ऐसे में भाषा के कई स्तर हो जाते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन की रफ़्तार को एकदम समाप्त कर देना चाहता है, इस बात को गृहस्वामी बड़े आत्मविश्वास के साथ कहता है ` मैं कहता हूँ, जब तुम्हें पढ़ना हुआ करे तो शाम को साइकिलबाज़ी न किया कीजिए।` प्रशिक्षित युवावर्ग का जीवन बिल्कुल गतिविहीन हो गया है— मध्यवर्ग के कारण। ट्यूशन और साइकिलबाज़ी विरोधात्मक स्थिति है। युवक के जीवन की रफ़्तार गृहस्वामी के हाथ में है। इससे कहीं दर्दनाक स्थिति तब आती है जब गृहस्वामी कहता है— ` माईजान, इसमें आप ही का फ़ायदा है।` युवक का मौन जैसे गृहस्वामी के संवाद की आलोचना कर जाता है। गृहस्वामी की परोपकारी मनोवृत्ति का शिकार युवक न रहा होता तो शायद उसकी जिन्दगी कहीं अधिक बेहतर होती। एहसान पूर्ण शब्दों की बाढ़ में सब एक दूसरे को धराशायी कर रहे हैं।

मनुष्य चाहते हुए भी विद्रोह नहीं कर पाता, क्योंकि उसमें वह सामर्थ्य नहीं जबकि नाटक की भाषा में दोहरा सामर्थ्य है। डॉ० गिरीश रस्तोगी ने ठीक कहा— ` ` ताँबे के कीड़े ` की भाषा इस सत्य का सशक्त उदाहरण है कि नाटक भाषा से बनता भी है और भाषा को बनाता भी है, कि नाटक की भाषा पूरे

साहित्य की भाषा को बदल सकती है, नया रूप दे सकती है।" [१८] मकड़फ पति का संवाद मानव की विवशता को उकेरने में सक्षम है—

" (रुककर) नहीं, मैं यह सब नहीं करूँगा। तुम ऐसे गैररिवाज़ शब्द क्यों बोलती हो? मधना। मैं नहीं जानता कैसे, लेकिन यह जानता हूँ कि यह बात खूबसूरती से कही जा सकती है। नहीं, मैं एकबारगी शरीर को दिमाग के बन्धनों से अलग कर दूँगा। मैं लड़ूँगा, मैं शहीद हो जाऊँगा, मैं अजनबियों की भाषा बोलूँगा (जैसे वह डूब रहा हो) मैं सूरज का गला घोंट दूँगा। --- मैं --- मैं --- " १६

व्यक्ति यथार्थ से जितना कटने की कोशिश करता है उतना फँसता जाता है, क्योंकि यथार्थ को कब तक झुठलाया जा सकता है? यथार्थ से साक्षात्कार करने का साहस नहीं है, इसलिए वह भयग्रस्त है और बनावटीपन का इतना आदी हो गया है कि यथार्थ से चौंक उठता है। साहित्यिक भाषा से अलग एब्सर्ड नाटकों की भाषा प्रेक्षक को चौंका देती है तभी वह (मकड़फ पति) कहता है— " तुम ऐसे गैर-रिवाज़ शब्द क्यों बोलती हो? " " गैर रिवाज़ " उर्दू शब्द है जो अपनी भाव भंगिमा सहित अर्थ सम्प्रेषित करता है। आत्मा और शरीर को मथकर सत् तत्वों को हासिल करना देवताओं की समुद्र मन्थन क्रिया से प्रभावित है बाद में जिसका प्रयोग माथुर ने भी " पहला राजा " में किया है। " नहीं, मैं एकबारगी शरीर को दिमाग के बन्धनों से अलग कर दूँगा "— में कायरता व्यंजित की गई है। " मैं अजनबियों की भाषा बोलूँगा " में नाटककार की ऐब्सर्ड नाटकों की भाषिक सक्षमता के प्रति गहरी निष्ठा है और पूरे विश्वास के साथ वह नाटक में इसका प्रयोग कर रहा है। ऐब्सर्ड नाटक की विसंगत भाषा अपनी विसंगति के भीतर गहरे और बहुस्तरात्मक अर्थ को सम्प्रेषित करती है, भले ही उसे पहचानने के लिए कुछ कोशिश करनी पड़ती हो। भुवनेश्वर के नाटक " ताँबे के कीड़े " के घटनाक्रम में आकर्षण है, स्थायित्व है। ऐसे में जगदीश शर्मा का मन्तव्य--- " ताँबे के कीड़े का लेखक दृश्य की संकुलता में विसंगति का बोध उत्पन्न करने में तो सफल हुआ है, लेकिन वह न तो इस विसंगति को रोचक बना सका है, न उसके भीतर अभिप्राय की कांति की झलक ही दे सका है " [२०] नाट्य वैशिष्ट्य को पहचानने की कोशिश से बचना है।

" ऊसर " और " ताँबे की कीड़े " दोनों नाटकों में हरकत का सशक्त प्रयोग

हुआ है— सर्जनात्मक अर्थ की दृष्टि से। हरकत की भाषा जीवन की आवश्यकता है। कम बोलकर अधिक से अधिक अर्थ का सम्प्रेषण आधुनिक साहित्य (नाटक, कविता) की सफलता का मानदण्ड माना जाने लगा है, जिसके प्रति भुवनेश्वर प्रारम्भ से सजग थे। ` आज लगता है, बहुत से शब्द अर्थ खो बैठे हैं या सम्प्रेषण के लिए क़ालिमय हो गये हैं। इनके सहारे हम कहना कुछ चाहते हैं, कह कुछ और जाते हैं। इसलिए हरकत की भाषा का सहारा लेना अनिवार्य हो गया है। भुवनेश्वर ने ` ताँबे के कीड़े ` में इस भाषा का सशक्त प्रयोग किया है `—[२१] विपिन कुमार अग्रवाल ने गहराई से हरकत की भाषा को समझा है। प्रस्तुत उद्धरण द्रष्टव्य है—

` मस० प० : मैंने देखा और अपनी जीवन - संगिनी से बताया, मैंने उसे कायल कर दिया कि बिना नाश किये बताया जा ही नहीं सकता।

(अनाउन्सर हँसती है और झुनझुना बजाती है)

थका० अ० : तुमने जरूर समझा दिया होगा और इस रिक्शेवाले का तुम नाश करना चाहते थे। तुमने क्या शब्द कहा था ?

— — — —

रिक्शा० : (गर्व से) नहीं, हमको पीछे से ठोकर लगाई गई, मैंने रिक्शे के आइने में साफ देखा। शायद वह ठोकर अब तक दिखाई दे रही हो।

थका अ० : मैं सीटी बजाऊँगा। मैं अपनी ताकत सीटी बजाने में खत्म कर दूँगा।

— — — —

मस० प० : मैं हर वक्त सोते जागते देखता हूँ और रचता हूँ— और कायम करता हूँ— ` २२

भुवनेश्वर परम्परा की नींव पर अपने चिन्तन को टिकाने वाले रचनाकार नहीं थे। जैसा कि डा० सत्यव्रत सिन्हा ने इस सन्दर्भ में स्वीकार किया— ` भुवनेश्वर, परम्परा के पर्दे पर चीर लगाने वाले तेज़ चाकू थे। `[२३] यही कारण है कि भुवनेश्वर ने कहा— ` बिना नाश किये बताया ही नहीं जा सकता। ` नयी संस्कृति की नींव डालने के लिए पुरानी संस्कृति का बहिष्कार और उसके प्रति उत्पन्न भ्रम को समाप्त करना रचनाकार का परम कर्तव्य है। कर्तव्य का समापन यहीं से नहीं हो जाता, बल्कि उसमें भाषा की सर्जनात्मक क्षमता के प्रति भी सार्थक चिन्ता व्यक्त की गई

है—तुमने क्या शब्द कहा था ?` `नहीं ------ रही हो`— मानव के भ्रम की तरफ संकेत है। परम्परा के प्रति मानव मन में जो भ्रम बैठ गया है उस पर वह स्वयं तो विश्वास करता है, और दूसरे को भी उस भ्रम का शिकार बनाना चाहता है। अनाउन्सर का हँसना और झुनझुना बजाना किसी विशेष परिस्थितियों में होता है— आलोचना या व्यंग्य के लिए, प्रश्नों को उछालने के लिए, विद्रोह करने के लिए, या अशान्तमय वातावरण शान्त करने के लिए। थके अफ़सर का सीटी बजाने के लिए तैयार होना— सामाजिक विसंगतियों में प्रदीप्त समस्याओं को ढूँढ़ने की कोशिश है। अफ़सर इसके लिए तैयार तब होता है, जब थक चुका होता है और उस अवस्था को पार कर चुका होता है। यही आज की कायरता है— एक मनुष्य की नहीं पूरे समाज की। मफ़लूक पति का जीवन थके अफ़सर से कहीं ज्यादा बेहतर है, क्यों कि वह खुद स्वीकार करता है— `मैं हर वक्त सोते जागते देखता हूँ और रचता हूँ - - - और कायम करता हूँ` - - - इसमें रचनाकार की अपनी अवधारणा है— हर वक्त सामाजिक विसंगतियों को सक्रिय प्रेक्षक के रूप में देखना, देखकर अनुभव की कसौटी पर कसना और सृजनात्मक आयाम देना, रचनात्मक ईमानदारी है। अतः अनाउन्सर का हँसना, झुनझुना बजाना, थके अफ़सर का सीटी बजाने को तैयार होना कोरी हरकत नहीं है, बल्कि वह हमें रचनाकार की अनुभूति तक पहुँचाकर संवेदना की अभिवृद्धि करती है।

एब्सर्ड नाटकों में आकर्षण का मूल कारण है, उसके संवादों में कसावट एवं क्षिप्रता की उपस्थिति। इसके अभाव में संवादों की बेतरतीब स्थिति दर्शकों को बाँध नहीं सकती और न ही उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है। `हर घटना एक चौखट का कार्य करती है, जिसमें कसी गई वस्तु का एक रूप आकार ग्रहण करता है।`[२४] `ऊसर` और `ताँबे के कीड़े` दोनों नाटकों के संवादों में पर्याप्त कसावट और क्षिप्रता है, जिसमें अर्थ समृद्धि की अनन्त सम्भावनायें हैं— गृहस्वामी का संवाद इसका सटीक उदाहरण है— `(गम्भीर होकर) ख़ैर, यह तो मज़ाक है, पर यह मैं जानता हूँ। मेरा यकीन है कि दुनिया के सब गोले - बारूद एक आदमी की मर्जी से, चाहे वह हजारों मील दूर बैठा हो, फट सकते हैं।`[२५]

संवादों में कसाव नाटक की प्रकृति है, साथ - साथ भावात्मक दुरूहता उस प्रकृति

का आवश्यक अंग है। इस भाषिक परिप्रेक्ष्य में कथ्य इतिवृत्तात्मक न होकर बहुआयामी हो जाता है— चिर परिचित शब्द और लय, किन्तु उसके नवीन प्रयोग से। नाटकीय धरातल पर एब्सर्ड नाटक का भाषिक विधान किसी गहरी संरचना का अनिश्चित संकेत भर होता है। वैज्ञानिक विकास के साथ - साथ इसमें समकालीन व्यवस्था की तरफ गहरा व्यंग्य है।

` ऊसर ` में यथार्थ की शुरुआत है, इसलिए यथार्थ के अंकन में संयम है और सामाजिक विसंगतियों के प्रति किसी प्रकार का रोषपूर्ण बर्ताव नहीं है, बल्कि उसे एक तरह से नियति मान लिया गया है। ` तांबे के कीड़े की स्थिति ` दूसरी है, सामाजिक अव्यवस्था का चरम रूप। सदियों से सहन करती आ रही जनता अव्यवस्था की पीड़ा को फोड़ देना चाहती है— क्रान्ति के रूप में। ऐसे में नियति झूठी लगने लगती है। मारूफ पति के संवाद में समकालीन व्यवस्था के प्रति रचनाकार की विद्रोही प्रकृति साकार हो उठती है— ` (जोशीली स्पीच) मैं इसके खिलाफ लडूँगा। मैं आन्दोलन करूँगा और उन्हें तोड़ूँगा। मैं आलमगीर लड़ाइयाँ करूँगा। देखो मैं क्या-क्या करता हूँ। मैं बड़ी - बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा। मैं शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोंछ दूँगा। यह आदमी है, जानवर नहीं है। यह केवल अन्धा कुँआ है - - - मेरी बीबी बादलों में रहती है, पागल आग हम सबको बचायेगी।` २६

` मैं इसके खिलाफ लडूँगा ` में समकालीन अव्यवस्था के प्रति रचनाकार की गहरी वेदना है, जिसके लिए संघर्ष एकमात्र रास्ता बचता है। पुरानी अव्यवस्था की नींव को तोड़कर वह नयी व्यवस्था कायम करने के पक्ष में है। ` मैं बड़ी - बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा ` प्राचीन साहित्य जो आज के परिवेश के अनुकूल न होकर प्रतिकूल हो गये हैं, उनके होने और न होने में कोई फर्क नहीं है। ` शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोंछना ` पुरानी संस्कृति और सभ्यता को जड़ से समाप्त करना है, जिसमें आदमी जानवर हो गया है। मानव को मानव साबित करने के लिए सर्वप्रथम मानवता का संचार करना होगा और यह कार्य नयी संस्कृति एवं व्यवस्था द्वारा सम्भव है। समसामयिक व्यवस्था रचनाकार के शब्दों में ` अन्धा - कुआँ है, ` अन्धेर नगरी ` की तरह। शब्दावली पृथक - पृथक क्लिष्ट नहीं है और

न ही शब्द सौन्दर्य के लिए किसी प्रकार की चिन्ता है, किन्तु संवादों का कसाव और क्षिप्रता मनोभाव को अभिव्यक्त करने में विशेष सहायक है। इस सन्दर्भ में कैसिरर का मत स्पृहणीय है— "वाणी की सर्जनात्मक शक्ति को न समझना मनुष्य की आत्मा और संसार के आध्यात्मिक सत्य से आँखें मूँदना है।" २७

आधुनिक नाटक की सर्जना प्रतीकों, मुहाविरों, बिम्बों की भरती के लिए नहीं हुई, बल्कि यहीं से भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग की शुरुआत को अंगीकार करना सुसंगत है। प्रसाद बिम्बों के सर्जनात्मक प्रयोग में सर्जनात्मक अर्थ का अन्वेषण करते हैं, तो भुवनेश्वर में बहुत बार अर्थ पात्रों के बोलचाल के संवादों के बीच से सक्रिय होता है। सामान्य रूप में देखने पर जिसकी स्थिति पात्रों के समान वर्णनीय लगती है, उसमें भी अर्थ का संचरण अपने में कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं। इस प्रक्रिया का संकेत "ताँबे के कीड़े" का एक उद्धरण है—

"परे० रमणी : मेरी तरफ देखो। तुमने कभी मेरे बारे में यह नहीं सोचा कि मैं बादलों से निकलकर आई हूँ या बादलों में रह सकती हूँ। तुम निर्मला ही के बारे में यह बातें सोच सकते हो। मेरे लिए तुम - - -
मस०प० : मैं सोचता कहाँ हूँ। सुनता हूँ - - - और कुछ देखता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सिर्फ देखता हूँ। - - - बहुत सी बातें देख लेता हूँ। और बाद में मेरी कोशिश यह रहती है कि जो मैंने देखा है, कोई भी, खासकर - - - तुम न देखो। और इसलिए जो मैं देख लेता हूँ, उसे फौरन फोड़ना चाहता हूँ। - - - मैं - - - मैं तुमसे प्रेम जो करता हूँ।" २८

दो संवादों के बीच जिस तरह अर्थ विकसित होता है, उससे रचना सर्जनात्मक भाषा की कसौटी पर खरी उतरती है। मूल रचना की समस्या समाज में विकसित अमानवीय व्यवहारों और विसंगतियों की खोज है। पर क्या केवल दूसरों के बारे में सोचकर इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी? क्या इनके बीच एक ऐसा द्वैत है जो व्यष्टि से समष्टि की अपेक्षा करे? आधुनिक नाटककार का चिन्तन दूसरे स्तर का है। समाज की अव्यवस्थित स्थिति को विकसित करने में अपना कितना योगदान है, यह चिन्ता व्यक्ति का प्रमुख कर्तव्य है। मूल बात है— बाहरी स्थितियों को आन्तरिक स्थितियों से जोड़ना। संस्कृति का नवीन रूप भारतीय जीवन दर्शन और अपनी नयी

आवश्यकताओं के अनुकूल विकसित हो सकता है । आधुनिक समस्याओं की विराट स्थिति को पति (मक्कार पति) और पत्नी (परेशान रमणी) के संवाद में आत्मसात् कर लिया गया है, यह भाषिक सजगता का प्रत्यक्ष प्रमाण है । रचनाकार की मूल दृष्टि है परम्परा की लीक पर चलते मानव को बचाना— क्योंकि आज का व्यक्ति सोचता नहीं है, सिर्फ देखता है और दूसरों को भी देखने भी नहीं देना चाहता, सत्य को छिपाने की भरपूर कोशिश करता है— और उसके कर्तव्य के अनुकूल सार्थक मार्ग की तलाश है । ' और इसलिए जो मैं देख लेता हूँ, उसे फौरन फोड़ना चाहता हूँ । --- मैं --- मैं तुमसे प्रेम जो करता हूँ '— में प्रेम की आदर्श स्थिति है— त्याग, जिसको आधुनिक समस्याओं के विश्लेषण की प्रक्रिया से जोड़ दिया गया है । इसमें सांकेतिक बिम्ब है । ' मैं सिर्फ देखता हूँ '— समकालीन व्यक्ति की निष्क्रिय स्थिति को पूरे विश्वास के साथ अभिव्यक्त किया गया है । आधुनिक नाटककार की विशेष चिन्ता रिक्ति में से सशक्त अर्थ ढूँढ निकालने की रही है । ऐब्सर्ड नाटककार हैरॉल्ड पिंटर की अवधारणा भी इसी के अनुकूल है— ' मैं सोचता हूँ कि हम मौन रहकर ही भलीभाँति अपने को अभिव्यक्त कर सकते हैं, अपनी बात कह सकते हैं । २६

जिस समय भुवनेश्वर का नाट्य साहित्य में आगमन हुआ, उस समय नाटक कृत्रिम यथार्थ की सुनिश्चित सीमा में आबद्ध थे । क्रमबद्ध कथानक, महान और धीरोदात्त नायक, सोद्देश्यता और साहित्यिक भाषा उन नाटककारों की एक आवश्यकता होती थी, जबकि भुवनेश्वर के लिए किसी प्रकार की सीमा नहीं । मानव मन में अन्तर्निहित नैराश्य भाव, टूटते रिश्ते, ह्रासोन्मुख मानवीय मूल्य जैसी विसंगत परिस्थितियों को भुवनेश्वर ने रचना का विषय बनाया और उसी के अनुरूप भाषा की सर्जना करके रचनात्मक दायित्व का निर्वाह किया । यद्यपि ऐब्सर्ड नाटक का सैद्धान्तिक रूप सार्त्र और कामू से प्रत्यक्ष रूप में सामने आया, किन्तु इसे व्यवहार रूप में परिणत करने का श्रेय भुवनेश्वर को रहा है और इन्होंने शिल्प के पुराने मानदण्ड को नये रूप में परिष्कृत किया । यथार्थ का पुराना ढाँचा जो व्यक्ति के मन में व्याप्त है, उसकी ऐब्सर्ड नाटक के प्रति धारणा क्या होगी ? इससे रचनाकार परिचित है, किन्तु वह उसके उत्साह को भंग करने की अपेक्षा बढ़ाता है—

' जिन्दगी और नाटक का प्राबलम --- एक ही है, यानी लम्हे को मुकम्मिल

कर देना । विरोध और विद्रोह को एक स्वर करना और उनमें एक केन्द्रीय महत्त्व यानी सेंट्रल सिग्नीफिकेंस हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए (हँसी)` ३०

आधुनिक नाटककार किसी भी भाषा की शब्दावली को रचना से परे करके नहीं देखता— चाहे वह अंग्रेजी भाषा का हो, चाहे उर्दू या हिन्दी का तद्भव शब्द । किसी भाषा की शब्दावली ग्रहण करना एक बात है, पर उसका सुसंगत प्रयोग और उसमें सटीक अर्थ पिरोने की कलात्मकता दूसरी । यहाँ अंग्रेजी का ` प्राब्लम ` शब्द जितना अर्थ संचार कर रहा है, उतना हिन्दी शब्द ` समस्या ` नहीं । नाटक जीवन को सम्पूर्णता में लेता है, और सम्पूर्णता को सम्प्रेषित करना उसका धर्म है, इसलिए अन्य विधा की अपेक्षा उसे सम्पूर्ण कहा जाता है । ` यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना ` इसमें दो उर्दू शब्द हैं, जिसका प्रयोग अर्थ की सम्पूर्णता को स्पष्ट करने के लिए किया गया है । ` लम्हे को मुकम्मिल कर देना `— का अर्थ क्षण को सम्पूर्णता प्रदान करना अपनी प्रकृति में जैसा है वैसा सम्पूर्ण अर्थ सम्प्रेषित करता है । नाटक का यही केन्द्र-बिन्दु है और यही उद्देश्य है, जो उद्धरण में व्यंजित है।

परम्परा के प्रति दर्शक को इतना दृढ़ विश्वास है कि उससे मुक्त होने की हिम्मत उसमें नहीं है, और अन्त में उसे तुच्छता और भ्रम का आभास होता है । ऐसी स्थिति में नये के प्रति उदासीनता प्रस्तुत संवाद में अंकित है—

` जो हमें रुचता नहीं, जो हमारे विचारों के साँचे में अँटता नहीं, उसे हम न्यूरासिस न कहें तो क्या कहें - - - इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खामखाह भरम में डाल रहा है ।` ३१

इसके बाद झुनझुनेवाली का झुनझुना निकालकर बजाना और शर्मायी हँसी हँसना हमें सत्य के प्रति भ्रम होने का अहसास कराता है, कि जो कुछ कहा जा रहा है वह आशंका मात्र है । ` भरम ` तद्भव शब्द है । सरल से सरल शब्द में अर्थ के सर्जनात्मक विकास के लिए विशेष चिन्ता रचनाकार की प्रवृत्ति है ।

यों तो एब्सर्ड नाटक किसी विशेष प्रकार के कथानक की माँग नहीं करता, किन्तु

उस कथानक में भी भुवनेश्वर बातचीत की साधारण कतरन को आकार देते हैं। इस प्रकार के भाषा विधान द्वारा यथार्थ चमक जाता है और उसमें किसी दूसरी समस्या का उद्घाटन हो जाता है । इसके उदाहरण रूप में ` ऊसर ` के प्रस्तुत संवाद को लिया जा सकता है—

` ट्यूटर : (नीची नज़र हाथ से हाथ दबाये) मैं आपसे कुछ कहना चाहता था ---- मुझे आपके यहाँ पूरे दो महीने हो गये - - - -

गृहस्वामी : (बाहर की आवाजों को सुनते हुए) मैं सब समझ सकता हूँ, यह आपकी मेहरबानी है। मैं मजबूर हूँ। आमदनी का यह हाल है— उजला खर्च— मैं कतई मजबूर हूँ। ` ३२

यह संवाद जहाँ यथार्थ को चमकाता है, वहीं आधुनिक प्रशिक्षित युवा वर्ग की ओर मध्यवर्ग के गृहस्थ जीवन की आर्थिक समस्या पर प्रकाश डालता है। कोई संवाद समस्या के भार से मुक्त और भाषा शिथिल नहीं है। हर व्यक्ति समस्याओं के भार से लदा और स्वनिर्मित दायरे में दम तोड़ता परिलक्षित होता है। कोई आमदनी न मिलने से परेशान है, तो कोई (गृहस्थ जैसे अनेकों लोग) आमदनी मिलने के बाद भी परेशान हैं, क्योंकि उनके पास ` उजला खर्च ` है, जिसकी सफेदी उसकी प्रकृति नहीं, बल्कि दिखावा मात्र है।

भुवनेश्वर ने अपने नाटक में नाट्य परम्परा के काव्य पक्ष पर अधिक बल नहीं दिया, क्योंकि किसी भी तरह से भाषा साहित्यिक होकर बोझिल हो जाय यह उन्हें बर्दाश्त नहीं। भाषा की सर्जनात्मकता के लिए और नाटक की नाटकीयता के लिए ` ताँबे के कीड़े ` में सशक्त बिम्बों की सर्जना की गई है। बिम्बों की सर्जना में सौन्दर्य के लिए किसी विशेष प्रकार की चिन्ता नहीं। बिम्बों में उन्हीं वस्तुओं और शब्दों को लिया गया है, जिनसे जन जीवन घनिष्ठ रूप से जुड़ा है, क्योंकि विसंगत जीवन के चित्रण के लिए भाषा विसंगत है, तो बिम्ब उससे इतर नहीं। ` ताँबे के कीड़े ` में बिम्बों द्वारा तीन स्थितियों का निरूपण हुआ है— देश की अव्यवस्था का अंकन— (बादलों ----- शासन होगा) मन:स्थिति का चित्रण— (अन्धे कुएँ- - - - - - - - - - - जमा हो गई है) समकालीन विसंगतियों के प्रति आक्रोश के क्षण में — (मैं शहरों - - - - - — पोंछ दूँगा)।

समकालीन व्यक्तियों की स्थिति का बिम्बांकन भी हुआ है, जिसमें व्यंग्य का मिश्रण है, किन्तु अनुपात में। ` ताँबे के कीड़े ` नाटक से एक संवाद लिया जा सकता है —

` हमारी सबसे ताज़ी ईजाद, काँच के खूटर। इनको सिर्फ ताँबे के कीड़े खा सकते हैं—— ( कुछ रुककर ) —— हमारी इससे भी ताज़ी ईजाद—— ताँबे की कीड़े। —— यह बुलाने से बोलते और हँसाने से हँसते हैं —— ताँबे के कीड़े। ` ३३

` ऊसर ` में मोटी रमणी, गृहस्वामी और युवक के वार्तालाप द्वारा, ताँबे के कीड़े ` में थके अफ़सर की पहेली और काउन्सर के फुनफुने द्वारा हास्य की सृष्टि हुई है। ` ऐब्सर्ड नाट्य परम्परा का हास्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध है। यूरोप में सोलहवीं और सत्रहवीं शती में थियेटरों के मसख़रे, शेक्सपीयर के मसौलिये पात्र इस थियेटर के पात्रों के आदिम रूप हैं। ` ३४अतः ` ऊसर ` और ` ताँबे के कीड़े ` जैसे छोटे नाटक में हास्य की जितनी योजना हो सकती थी उससे अधिक रचनाकार ने नहीं की। यह बात अलग है कि हास्य - योजना हँसी मात्र उत्पन्न करने के लिए नहीं की गई है, उसका भी एक उद्देश्य है—— समस्या का व्यंग्य मिश्रित उपादान।

चूँकि जीवन में समस्याओं का अन्त नहीं है, इसलिए ऐब्सर्ड नाटककार नाटक के अन्त में उद्देश्य के निश्चित धरातल पर नहीं पहुँचता। ` ऊसर ` का अन्त है——

` ) युवक कुछ देर टहलता रहता है और फिर चला जाता है। स्टेज पर सिर्फ ट्यूटर रह जाता है और वह एक कुर्सी पर बैठकर एक अधजला सिगरेट निकालकर जलाता है। ) ` ३५

` अधजले सिगरेट ` का प्रयोग रचनाकार ने समस्याओं के सन्दर्भ में किया है—— जिसकी शुरुआत हो चुकी है, किन्तु भविष्य में उसका वेग अधिक तीव्र होगा। सिगरेट निकालकर जलाना—— भविष्य का द्योतक है।

` ऊसर ` के अन्तिम दृश्य की व्याख्या ` ताँबे के कीड़े ` में रचनाकार द्वारा अपने आप ही गई है—— ` अभी खत्म कहाँ हुआ ? अभी तो दो मिनट का एक नाच गाना और है। ` ३६

इस प्रकार के अन्त की प्राप्ति मोहन राकेश ने ` आधे अधूरे ` में की। इसी तरह

का प्रयोग सेमुअल बैकेट ने भी किया है— " उच्चारण - - - हाँ, ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ हुआ है, कुछ हुआ प्रतीत होता है और कुछ नहीं हुआ, कुछ भी नहीं।" ३७

यथार्थवादी दृष्टिकोण पर सांकेतिक नये नाटक की नींव डालने में भुवनेश्वर का नाम स्मरणीय है, जिसमें उसी तरह की सर्जनात्मक भाषा की तलाश है। अतः यथार्थ की भाव-भूमि पर लिखे गये नाटक " ऊसर " और " ताँबे के कीड़े " में आधुनिक जीवन की विसंगतियों को बहुत निकट से परखा और देखा गया है।

।। स न्द र्भ ।।

१- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : प्रवेश पृष्ठ - २१
२- रमेश तिवारी : नटरंग : १९८२ : अंक ४० : पृष्ठ - २५
३- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - १०३
४- भुवनेश्वर : दिनमान १ जून १९७५ : पृष्ठ - ४१
५- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १२७
६- डॉ० गिरीश रस्तोगी : आलोचना त्रैमासिक अक्टूबर - दिसम्बर १९७३;पृष्ठ-५५
७- भुवनेश्वर : कारवाँ : पृष्ठ - १६६
८- - वही - पृष्ठ - १६६
९- - वही - पृष्ठ - १२३
१०- डॉ० सत्यव्रत सिन्हा : नवरंग की भूमिका : पृष्ठ - १३
११- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १६९
१२- जगदीश शर्मा : नया प्रतीक अंक ११ नवम्बर १९७५ : पृष्ठ - ४०
१३- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १२१
१४- - वही - पृष्ठ - १२१
१५- जगदीश शर्मा : नया प्रतीक अंक ११ नवम्बर १९७५ : पृष्ठ - ४५
१६- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १६० - १६१
१७- - वही - पृष्ठ - ११९ - १२०
१८- डॉ० गिरीश रस्तोगी : आलोचना त्रैमासिक अक्टूबर - दिसम्बर १९७३ :पृष्ठ-५७
१९- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १६३
२०- जगदीश शर्मा : नया प्रतीक अंक-११ नवम्बर १९७५ : पृष्ठ - ४६
२१- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - १०० - १०१
२२- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १६९ - १७०
२३- डॉ० सत्यव्रत सिन्हा : नवरंग की भूमिका : पृष्ठ - १३
२४- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - १०४
२५- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १२५
२६- - वही - पृष्ठ - १७२

२७- सोमराज गुप्त : नया प्रतीक फरवरी १६७६ : केसिरर का काव्य -
सिद्धान्त : पृष्ठ - ७५

२८- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १६७

२९- केदारनाथ तिवारी : नया प्रतीक : जून १६७६ (ऐब्सर्ड नाटक) : पृष्ठ-३६

३०- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १७४

३१- - वही - पृष्ठ - १७४ - १७५

३२- - वही - पृष्ठ - १२२

३३- - वही - पृष्ठ - १७३

३४- केदार नाथ तिवारी आलोचना जून १६७६ ऐब्सर्ड नाटक : पृष्ठ - ४२

३५- भुवनेश्वर : कारवाँ तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १३४

३६- - वही - पृष्ठ - १७४

३७- सैमुअल बैकेट : हैपी डेज़ : पृष्ठ - ३०
पाज़ - - - समथिंग सीम्स टु हैव अक्कर्ड, समथिंग हैज़ सीम्ड टु अक्कर्ड, ऐंड नथिंग हैज़ अक्कर्ड, नथिंग ऐट आल ।

॥ जगदीश चन्द्र माथुर — ` पहला राजा ` ॥

` पहला राजा ` (सन् १९६९) जितना अपने शीर्षक में उदात्त है, उतना भाषा की सर्जनात्मक सम्भावना में भी । इस नाटक में इतिहास और पुराण पृष्ठभूमि रूप में लिया गया है, पर मूल दृष्टि उस पृष्ठभूमि पर वर्तमान की वेदना और विसंगतियों को उकेरने की रही है । इतिहास और पुराण को जीवन सन्दर्भों से जोड़कर देखने की प्रक्रिया में भाषा का नया आयाम प्रस्तुत हुआ है । ` पहला - राजा ` जहाँ सामाजिक व्यवस्था के अभ्युदय और विकास की झाँकी प्रस्तुत करता है, वहीं पौराणिक कथा को नया सन्दर्भ देता है । यह कृति अपने में जगदीशचन्द्र माथुर के रचनात्मक व्यक्तित्व को समझने की एक सक्रिय कोशिश है ।

आधुनिक नाटककार जीवन के किसी एक पहलू पर विचार नहीं करता, बल्कि वह मानवजीवन की समग्रता को चित्रित करने की कोशिश करता है । ऐसी स्थिति में रचनात्मक दृष्टि यथार्थोन्मुख हो जाती है । यही कारण है कि नये नाटकों में बोलचाल की भाषा को सर्जनात्मक स्तर पर उठाने की आवश्यकता बराबर महसूस की गई है, चाहे वे राजनीतिक अनुभव से संश्लिष्ट हों, चाहे प्रेम की गहन अनुभूति से,या कि सामान्य वार्तालाप से, अथवा बहुत बड़े षड्यन्त्र की चर्चा हो । ` पहला राजा ` के संवादों में बोलचाल का रूप यथार्थ की कितनी अधिक सीमा का संस्पर्श कर सका है,यह प्रस्तुत उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है ।

` शुक्राचार्य : मैंने एक उपाय सोचा है ।

गर्ग : उपाय ? - - - सुनें ।

शुक्राचार्य : हम नये शासक को बाँधेंगे ।

अत्रि : इसी कुशा की रस्सी से जिसमें वेन की गर्दन फँसी थी ?

शुक्राचार्य : कुशा की रस्सी भी काम आएगी । लेकिन इसलिए नहीं ।
- - - बन्धन होगा विधान का ।

गर्ग : विधान कौन देगा ?

शुक्राचार्य : हम देंगे विधान । हम ब्रह्मावर्त के मुनि और ब्राह्मण । हम जो जनता के नेता हैं, हम जो अपनी तपस्या और साधना के कारण शासक का पथप्रदर्शन

कर सकते हैं। शासक को हमारे साथ [illegible] करनी होंगी।

गर्ग : शर्तें ?- - - तब तो यह एक सौदा है।

शुक्राचार्य : हाँ सौदा। - - - मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि राजा की सत्ता की बुनियाद एक सौदा होनी चाहिए, परमेश्वर की देन नहीं।"[1] - - -

समसामयिक राजनीतिक प्रभाव की तीक्ष्ण चुभन और राजसत्ता के अधिकारों को लेकर ब्राह्मण वर्ग के बीच का तनाव उनकी सम्पूर्ण स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति को सम्प्रेषित करता है। एक विशिष्ट वर्ग - ब्राह्मण वर्ग - जो सत्ता और प्रजा के बीच मध्यस्थ का कार्य कर रहा है— के अन्दर सत्ता के ऊपर शासन करने का अभाव है। स्वार्थी मनोवृत्ति के लोगों की नींव बड़ी मजबूत है और वह कम होने के बजाय हमेशा से फूलती फलती चली आ रही है। यह स्थिति पृथु के समय में जितनी थी, उससे कहीं अधिक आज है। और जब तक सत्ता रहेगी तब तक इन स्थितियों का विराट रूप दृष्टिगोचर होगा। इस सन्दर्भ में डा० नरनारायण राय का मन्तव्य हमें गहराई से सोचने के लिए विवश करता है—" सत्ता और जनता के बीच का सम्बन्ध सनातन काल के मध्यस्थों की नीति का आश्रित रहा है। पृथुकाल में मध्यस्थ ब्राह्मण थे— आज राजनीतिज्ञों के रूप में ब्राह्मणों का दूसरा वर्ग निर्मित हो रहा है।"[2] आज सत्ता और प्रजा के बीच मध्यस्थ का कार्य मात्र ब्राह्मण वर्ग नहीं कर रहा है, उसके साथ - साथ अन्य लोगों का योगदान है। इस वर्ग को विस्तृत रूप में नेता वर्ग की संज्ञा दी जा सकती है। सत्ता का कार्य जनता की रक्षा के लिए होता है, लेकिन यहाँ स्थिति विपरीत है। सत्ता के लिए जनता गौण हो जाती है। स्वार्थी नेता वर्ग अपनी सुविधानुसार नियम और कानून बनाते हैं, जिसमें निरीह जनता पिसी जाती है। ब्राह्मण वर्ग पृथु को राजा बनाने के पहले प्रजा के बीच उससे (पृथु से) कहीं अधिक साख जमाने के लिए चिन्तित है। " इस नये शासक को बाँधेंगे " में सत्ता के अस्तित्व को बड़े क्रूर ढंग से नकारा गया है। यह वाक्य अभिधात्मक अर्थ के लिए नहीं प्रयुक्त किया गया है। इसके भावन से प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि वेन की तरह नये शासक के अस्तित्व को सदा के लिए मिटा दिया जायेगा। इस शंका का समाधान इस वाक्य से हो जाता है—" इसी कुशा की रस्सी से जिसमें वेन की गर्दन फँसी थी ? " किन्तु अत्रि की शंका-भावक की शंका है। अतिशय संयम से कहा गया— " कुशा की रस्सी भी काम आयेगी।

लेकिन इसलिए नहीं ।` —— यह सारा सम्प्रेषण ब्राह्मण वर्ग की कूटनीति और स्वार्थी मनोवृत्ति की वास्तविकता को उजागर करता है । ` शर्तें ? - - - तब तो यह एक सौदा है ।` समसामयिक नेता वर्ग की क्रूरता के लिए तीक्ष्ण व्यंग्य किया गया है । शुक्राचार्य के अन्तिम वाक्य —` मैं इसी ------- देन नहीं ।` —— से ऐसा प्रतीत होता है कि रचनाकार को ऐसी व्यवस्था के प्रति तीक्ष्ण वितृष्णा है । यही कारण है कि इसमें ऐसी क्रूर अव्यवस्था के प्रति कठोर व्यंग्य किया गया है । रचनाकार की दृष्टि में बोलचाल का शब्द ` सौदा ` व्यापक अर्थ सम्प्रेषित करता है । नये नाटक की यह मूल आकांक्षा है, जो माथुर की भाषा में खुलकर सामने आती है ।

जीवन की विविधता की समग्र अनुभूति बोलचाल की भाषा में अधिक मुखर हुई है और उसी सीमा तक सम्प्रेषित भी । इस तरह की भाषा का विधान किन्हीं विशेष परिस्थितियों में नहीं किया गया, बल्कि माथुर की वृत्ति इस भाषिक प्रक्रिया में अधिक रमी है । अर्चना और उर्वी के प्रस्तुत संवाद में भाषा का विधान सराहनीय है——

` अर्चना : इसीलिए । - - - क्या सिर्फ इसीलिए ?
उर्वी : तुम नहीं समझोगी इन बातों को ।
अर्चना : क्यों ?
उर्वी : कभी प्रेम किया है ?
अर्चना : सुना है विवाह के बाद प्रेम आप ही फूट पड़ता है ।
उर्वी : इसीलिए विवाह की प्रतीक्षा में हो ? - - - नादान ।`[3]

` अन्धेर नगरी ` में भारतेन्दु बोलचाल की सामान्य शब्दावली से अनुप्राणित हैं, तो तुकान्त प्रिय व्यक्तित्व के कारण उसके विस्तार को भी प्रश्रय देते हैं । माथुर मितव्ययी स्वभाव के हैं, इसलिए बोलचाल की शब्दावली का प्रयोग नाप तौलकर करते हैं । अर्चना और उर्वी के संवाद में विस्तार भी हो सकता था, किन्तु इन्होंने विस्तार उचित नहीं समझा । जीवन के राजनीतिक चरित्र की दुर्व्यवस्था से पीड़ित होकर रचनाकार की लेखनी सुकुमारतम क्षणों का भी संस्पर्श करने से चूकती नहीं है । प्रसाद के ` स्कन्दगुप्त ` में स्कन्द, देवसेना और स्कन्द, विजया का एक दूसरे के प्रति आकर्षण आद्योपान्त मस्तिष्क में कौंधता रहता है, किन्तु माथुर ने उर्वी के माध्यम से समकालीन

जीवन की अव्यवस्था में थोड़े से सुकुमार क्षणों को अंकित किया है। इस विषय को लेकर विषया की भांति उर्वी के मन में किसी प्रकार का राग द्वेष नहीं है। ` इसीलिए ` के बाद सशक्त ठहराव विषय की तुच्छता की तरफ हमें सोचने के लिए विवश करता है। जैसे ` इसीलिए ` मात्र कहने से रचनाकार सन्तुष्ट नहीं हो पाता है। ` - - - क्या सिर्फ इसीलिए ` कहकर उसने पूर्व पंक्तियों की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। ` नादान ` में स्त्री की प्यार भरी वर्जना है। बिम्ब,अलंकार के अभाव में भी ये पंक्तियाँ अपने अभिधात्मक अर्थ को पूर्णतया सम्प्रेषित करती हैं। भाषा और अनुभव का संयोजन यहाँ स्पृहणीय है। माथुर की आशंसा में गोविन्द चातक की पंक्तियाँ अविस्मरणीय हैं— " इस भाषा में स्पष्टतः एक ओर आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा, भाव - प्रवणता, वाग्मिता, अलंकरण आदि की प्रवृत्ति है, दूसरी ओर भाषा के यथार्थवादी स्तर को निभाने का प्रयत्न। इसीलिए उनका आग्रह अर्जित संवेदना और साहित्यिक स्वरूप के साथ - साथ बोलचाल की ओर दिखाई देता है।"[४]

साधारण लगने वाली जन प्रचलित शब्दावली का प्रयोग पूरे नाटक में व्याप्त है, जो सम्प्रेषण को तीखा बनाता है। समकालीन ब्राह्मण गर्ग जो - मन्त्री की उपाधि से विभूषित है और इस का दाहिना हाथ है— की भ्रष्टाचारी प्रवृत्ति समाज को पतन के गर्त में गिराती है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

" शुक्राचार्य : हम दोनों ही के किसान - मजदूर और कारीगर बाँध के काम में ढील डाल दें।

गर्ग : लेकिन - - - लेकिन बाँध नहीं बन पाया तो दृषद्वती सरस्वती से हटकर सदा के लिए यमुना की ओर मुड़ जाएगी।

शुक्राचार्य : हो सकता है।

गर्ग : इसके माने तो होंगे कि इतनी मेहनत से सरस्वती की धारा में जल चालू करने के लिए जिस नहर को बनाया गया है—वह सूखी रह जाएगी।

शुक्राचार्य : रहे सूखी। आचार्य गर्ग। - - - बात साफ है, आप, दो में एक बात चुन लीजिए — अपने परिवार, कुटुम्ब, कन्या अर्चना और आश्रम का भविष्य या सरस्वती की धारा में पानी, जिसका फायदा होगा बस छोटे - मोटे

किसानों, निषादों और बचे - खुचे दस्युओं को । "५

बात जितनी साधारण रूप से कही गई है, उतनी ही सशक्त बन जाती है। यह मानव जीवन का कठोर और क्रूरतम यथार्थ है, जिसमें पृथु जैसे कर्मठ और शक्तिशाली राजा का जीना दूभर हो गया है। स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण मानवमूल्य विलुप्त होते जा रहे हैं। मानवमूल्यों के स्खलित हो जाने से ही भयानक षड्यन्त्र और हिंसा का जन्म हो रहा है। आधुनिक युग की यह भीषणतम उपज है और दूसरे स्तर पर यह दिखाता है कि सत्ता अपने में मानवमूल्यों का हनन है। उसे जीतने के लिए ऐसे स्वार्थियों का सत्ता से बहिष्कार ही एक मात्र विकल्प है। " पार्टीबाज़ी नितान्त आधुनिक समस्या नहीं है ; मुनियों के बीच इस तरह की दुर्भावना अपनी शक्ति और प्रभाव को जनता में कायम रखने के लिए यदा - कदा उठती रही हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।" ऐसे लोभी और स्वार्थी नेता वर्ग में गर्ग— जिसके हृदय के कोने में समाज के लिए कुछ जगह शेष है— भी उसी ढंग में ढल जाता है। " लेकिन - - - - लेकिन बाँध नहीं बन पाया तो दृषद्वती सरस्वती से हटकर सदा के लिए यमुना की ओर मुड़ जायेगी " में " लेकिन " के बाद जो ठहराव है, वह अर्थ की दृष्टि से सशक्त है। प्रथम दो संवादों में कार्य - कारण का सम्बन्ध है। गर्ग का संवाद हमारी संवेदना को जागृत करता है। " इसके माने तो यही कि इतनी मेहनत से सरस्वती की धार में जल चालू करने के लिए जिस नहर को बनाया गया है— वह सूखी रह जायगी " में अन्तिम वाक्य पहले की अपेक्षा कोमल और धीमी लय में अभिव्यक्त किया गया है। सम्भवत: गर्ग के इस संवाद द्वारा नाटककार ने शुक्राचार्य के क्रूर हृदय को पिघलाने की कोशिश की है, किन्तु इस कोशिश को समसामयिक नेता वर्ग की क्रूरता " रहे सूखी। आचार्य गर्ग।" कहकर अप्रत्याशित ढंग से झटक देती है। शुक्राचार्य और अत्रि में जैसा कूटनीति का पक्ष परिलक्षित होता है, गर्ग में उसी तरह स्वार्थ के बीच कोमलता का सामन्जस्य है। भावक के अन्दर सम्पूर्ण आक्रोश शुक्राचार्य और अत्रि के लिए उपजता है, गर्ग के प्रति कुछ क्षण के लिए सहानुभूति हो जाती है। दूसरे स्वर पर नेता वर्ग के बीच मत वैभिन्न्य का पनपना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनका मुख्य उद्देश्य अपने स्वार्थ भाव की परितुष्टि करना है, सामाजिक समस्या का निवारण गौण। नाटकीय संघर्ष और संवेदना को एक साथ वहन करने के कारण " पहला राजा " के चरित्र सामाजिक जीवन की क्रूरतम यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

डॉ० दशरथ ओझा का मन्तव्य इस सन्दर्भ में दर्शनीय है— " स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू को कदाचित् दृष्टि में रखकर उनके राजत्व काल में होने वाले परिवर्तनों एवं वर्तमान राष्ट्रीय समस्याओं को सामाजिकों के सामने रखने का इसमें सफल प्रयास पाया जाता है। इसमें आधुनिक युग के कुटिल राजनीतिक दांव-पेंच खेलने वाले मन्त्रियों, समाजद्रोही, पूँजीपतियों, बेईमान ठेकेदारों का यथार्थ चित्र खींचा गया है। "[7] " पहला राजा " एक ओर जहाँ सामाजिक व्यवस्था में सत्ता के अभ्युदय और विकास की गाथा प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर पौराणिक सन्दर्भ को नये ढंग से व्याख्यायित भी करता है। इतिहास और पुराण की आधारशिला पर समसामयिक वेदना और विसंगति को अभिव्यंजित करना रचनाकार का इष्ट रहा है। अर्थ की सशक्त व्यंजना के लिए संवाद में तत्सम शब्दावली का प्रयोग हो या तद्भव का यह एक बात है; पर उन संवादों में प्रवाह की कितनी अधिक शक्ति सन्निहित है, यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि " पहला राजा " में जहाँ भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ एक तीव्र प्रवाह है। भावुक क्षणों में अभिव्यक्ति के लिए माथुर ने प्रायः संस्कृत शब्दावली का सहारा लिया है— "तुम्हारा यह राशि वैभव, अर्चि। - - - एक ही स्पर्श में युगों का आमन्त्रण। - - - - ओह यह स्पर्श।"[8]

प्रथम प्रणय - स्पर्श का सूक्ष्म और सुकुमार अनुभव संस्कृत शब्दावली (" राशि-राशि, वैभव ") में उसी सूक्ष्मता से साकार हुआ है। संस्कृत शब्दावली संवाद की स्वाभाविक धारा में बाधक नहीं बल्कि उसे और अधिक तीव्रता प्रदान करती है। " - - - एक ही स्पर्श में युगों का आमन्त्रण "— वाक्य के पहले का सशक्त ठहराव हमारी संवेदना को विस्तार देता है, और साथ ही अर्थों की विस्तृत परिकल्पना करने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। अन्तिम वाक्य में पूर्व वाक्य की अपेक्षा धीमी लय है, जो वास्तविकता को पहचान लेने के बाद की आश्चर्यजनक स्थिति है। यों तो प्रसाद ने भी " स्कन्दगुप्त " में स्कन्द और देवसेना की प्रणय - स्थिति को व्यंजित किया है, किन्तु " पहला राजा " में पृथु और अर्चना का प्रस्तुत प्रसंग अलग है। "स्कन्दगुप्त" की देवसेना स्कन्द के प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करती है, किन्तु विवाह नहीं करती, यह स्वार्थ से ऊपर उदात्तीकरण है, जबकि पृथु और अर्चना समाजस्वीकृत विवाह सूत्र के

बन्धन में बँध जाते हैं। यह यथार्थ की परिधि है।

पृथु के प्रणयानुभव और 'कामायनी' के काम सर्ग में मनु के प्रणयानुभव में काफी भाव साम्य है—

> "है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
> संज्ञा को और सुलाता है।"[९]

प्रणय की सूक्ष्मता को व्यक्त करने का ढंग दोनों रचनाकारों का अलग - अलग है। मनु जहाँ सृष्टि के आदि पुरुष हैं, वहीं पृथु सृष्टि के आदि शासक हैं। मानवीय सृष्टि के प्रत्येक क्रिया - कलापों की शुरुआत मनु से होती है, इसलिए कोई भी कार्यानुभव मनु द्वारा होता है। पृथु सत्ता ग्रहण करने के बाद यथार्थ के धरातल पर पहुँचते हैं। पृथु के प्रणयानुभव द्वारा रचनाकार ने जीवन के यथार्थ अनुभव की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

आधुनिक नाटक में जीवन की विविधता को बड़ी ही कलात्मकता से निरूपित किया गया है, चाहे वह अच्छा पक्ष हो या बुरा। संघर्ष मानव जीवन का एक स्वाभाविक पक्ष है। नाटक यदि जीवन की रचनात्मक अनुकृति है, तो संघर्ष जीवन की प्रकृति। यह बात अलग है कि जीवन के संघर्ष और नाटक के संघर्ष में भिन्नता है, जिसका श्रेय नाटक की सर्जनात्मक भाषा को है। आधुनिक नाटककार डा० रामकुमार वर्मा ने संघर्ष को नाटक का प्राण घोषित किया है—"अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाए कि नाटक का प्राण उसके संघर्ष में पोषित होता है। यह संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन - शक्ति में होगा उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक होगा।"[१०] इस आन्तरिक और बाह्य संघर्ष से नाटककार को स्वयं गुजरना पड़ता है। तभी तो सम्पूर्ण विरोधाभास नाटकीय व्यक्तित्व के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। 'पहला राजा' में निहित समस्यायें भी रचनाकार का भोगा हुआ यथार्थ है। भूमिका में माथुर जी ने अपनी मन्तव्य को व्यक्त कर दिया है—"ये समस्यायें अथवा आधुनिक हैं, ये उनमें मेरा 'भोगा हुआ यथार्थ' हैं।"[११] नाटक की पृष्ठभूमि में अनेक समसामयिक समस्याओं का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उन तमाम प्रश्नों की संघर्षमय स्थिति नाटक में आद्योपान्त चित्रित है। वास्तव

में ये प्रश्न समाज के ज्वलन्त प्रश्न हैं— मनुष्य में कर्म की उपलब्धि से अधिक उपचार खोजने वाली परिस्थिति, आदमी और प्रकृति के आपसी रिश्तों की संघर्षमय स्थिति, समाज के विकास में वर्णसंकरता की देन, समुदाय और राजसत्ता के बीच सम्बन्धों की बुनियाद, महत्त्वाकांक्षी पुरुष में कर्म की स्फूर्ति और काम की बलवती लालसा का सहज अस्तित्व— नाटकीय परिकल्पना में ये सभी प्रश्न एक के बाद एक मस्तिष्क में घुमड़ते रहते हैं।

पृथु मनुष्य हैं इसलिए उनमें मानव की समस्त दुर्बलता व्याप्त है। प्रस्तुत उद्धरण में व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन की टकराहट व्याप्त है—

"- - - एक तराजू है मेरा यह तन - मन। - - - एक पलड़े पर तुम्हारे आलिंगन का सौना और दूसरे पर चुनौतियों का भार। - - - आर केवल - - - केवल प्यार के सम्मोहन में खो जाऊँ तो - - - तो तराजू के पलड़े चंचल हो जाते हैं। - - - अर्चि - - -।" १२

यहाँ रचनाकार की प्रवेगमान अनुभूति प्रमाता तक अपने इसी रूप में सम्प्रेषित होती है। मन और तन को तराजू के रूप में बिम्बित किया गया है, जो हमारी संवेदनशीलता को विस्तार देता है। यह परिवेशगत संघर्ष की यथार्थ स्थिति है। राजा होकर भी पृथु राजनीतिक कर्तव्य से पलायन नहीं करता और चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार करता है। "- - - आर केवल" में लय की धीमी गति है, जो पूर्ण प्रसंग की ओर इंगित करती है। "- - - केवल प्यार के सम्मोहन में खो जाऊँ तो - - -" तो के बाद जो ठहराव की स्थिति है वह हमारी उत्सुकता को बढ़ाती है और बाकी पंक्ति से उत्सुकता समाप्त हो जाती है। पलड़े की अपेक्षा यहाँ लय की तीव्रता है। इस लम्बे संवाद में तराजू बिम्ब है और यह पृथु के मनःस्थिति की दोहरी जिम्मेदारियों को व्यंजित करता है। महत्त्वाकांक्षी होने के कारण उसमें कर्म की स्फूर्ति काम की बलवती लालसा का सहज अस्तित्व व्याप्त है। बिम्ब और लय के सौजन्य से निर्मित काव्यात्मक भाषा अति नाटकीय स्थिति का दिग्दर्शन कराती है। "दो [illegible], इच्छाओं या आवेगों के बीच विरोध के कारण तनाव उत्पन्न करने वाली इच्छायें और आवेग कहीं अधिक नाटकीय स्थिति को जन्म देते हैं।" १३

नये नाटक में संवाद के माध्यम से जितना भाव व्यक्त होता है, उतना ही मौन रह जाता है। संवादों के बीच रिक्त स्थानों से प्रतीयमान अर्थ को उभारने की सक्रिय कोशिश नये नाटकों की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस सन्दर्भ में गोविन्द चातक का मन्तव्य स्मरणीय है— " सचाई यह है कि नाटक का पाठ तभी मूल्यवान होता है जब अपनी संरचना के कारण वह निहितार्थ की सम्भावनाओं को उजागर करता है। संवादों की उदासी का ढंग, दृश्य और क्रिया व्यापार, मौन तथा लयात्मकता सब मिलकर नाटक के अनकहे अर्थ को व्यंजित करते हैं।"[१४] " पहला राजा " के मौन में निहितार्थ की पर्याप्त सम्भावना परिलक्षित होती है—

" गर्ग : मुनियों के खिलाफ यहाँ भी नारे लग रहे हैं क्या ?

अर्चना: पिताजी! ---

गर्ग : देखता हूँ राजमाता सुनीथा तो परलोक चली गई, लेकिन मुनियों के विरुद्ध षड्यन्त्रों के बीज बोने के लिए अपनी दासी को छोड़ गई है।

दासी: क्षमा करें मुनिवर। - - - मैं तो - - -

गर्ग : एक दिन अभिशप्त कुशा को धरती में तुम्हीं रोप रही थीं। क्या सच ही शुक्राचार्य तुम्हें रोकना चाहते थे ? "[१५]

" पहला राजा " के चरित्रों का मौन और उसकी भाषा की लय नाट्य भाषा की ऊपरी सतह और उससे प्रकट होने वाले अभिधार्थ का तो अवलोकन कराती ही है, उसके साथ - साथ निहितार्थ के सूक्ष्म धरातल में पैठने के लिए मार्ग भी प्रशस्त करती है। " मुनियों के खिलाफ यहाँ भी नारे लग रहे हैं क्या ? "— यह पूरा वाक्य समकालीन परिवेश के अशान्तमय रूप का आभास देता है। मन्त्रीगण (शुक्राचार्य,गर्ग, अत्रि मुनि) ईर्ष्यालु प्रकृति और षड्यन्त्र के कारण पृथु को अपनी स्वार्थलिप्सा का शिकार बनाकर कार्य में सफलता तो हासिल कर लेते हैं, किन्तु इसके कारण समाज में उनकी स्थिति अधिक विवादास्पद हो जाती है तथा हृदय की शान्ति, अशान्ति में परिणत हो जाती है। इस अशान्त हृदय के कारण गर्ग दत्तक कन्या अर्चना को भी सशंकित दृष्टि से देखता है और उसकी यह दृष्टि पहली पंक्ति (मुनियों - - - क्या ?) में मुखर हो उठती है। प्रश्न-वाचक वाक्य की अपनी विशेष मुद्रा है, जो आधुनिक नाटककार की भाषिक चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थ व्यंजना की दृष्टि से

सामर्थ्यवान भाषा यही है, जिसमें शब्दों के साथ - साथ लय से भी अर्थ टपकता है ।
" - - - सबसे अधिक नाटकीयता सम्भवतः प्रश्नवाचक वाक्यों में होती है जो सम्बोधक की विशेष भावमुद्रा, मनःस्थिति, अभिरुचि, जिज्ञासा, आत्मसाक्षात्कार का भाव, भय, विस्मय आदि को व्यक्त करते हैं । इसके साथ वे ही स्थिति से जुड़कर नकार, विकंपित, चुनौती और समस्या का भी आभास देते हैं ।"[१६] अर्चना का तीव्र भावावेश में " पिताजी ! - - - " कहना अप्रिय प्रसंग का सूचक है । " पिताजी " के बाद जो सशक्त ठहराव है वह व्यक्त शब्द (पिताजी) की अपेक्षा कहीं अधिक सक्रिय है,क्योंकि मौन को दूसरे शब्दों में अव्यक्त भाषा कहा जा सकता है, जिसमें प्रायः व्यक्त से भी अधिक भावाभिव्यक्ति की क्षमता होती है । अर्चना चाहकर भी अपनी सफाई नहीं पेश कर पाती कि मैं तो सत्ता के बारे में जनता की प्रतिक्रिया और उसकी पीड़ा की ज्वाला का भेद ले रही थी । उसकी सम्पूर्ण मनःस्थिति उसके मौन में साकार हो उठती है । (" देखता हूँ - - - - - - गई है ") गर्ग का संवाद पूर्व प्रसंग की ओर ध्यान आकृष्ट करता है । इसमें मन्त्रीगण की भावनाओं का दासी के ऊपर प्रत्यारोपण है । गलत व्यक्तियों द्वारा गलत कार्य करने से जहाँ आनन्द की अनुभूति होती है, वहीं उसकी दृष्टि अभीष्ट जनों के प्रति भी सशंकित हो जाती है । इसमें बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक बिम्ब है । यही कारण है कि गर्ग दत्तक कन्या अर्चना और अपने समकक्ष शुक्राचार्य दोनों को शंका की दृष्टि से देखता है, जबकि अर्चना को उससे कोई शिकायत नहीं । नीचे की पंक्तियाँ मन्त्रियों की सम्बन्ध - कटुता की सजीव झाँकी प्रस्तुत करती हैं ।

" पहला राजा " में चरित्र की मनःस्थिति के अनुसार भाषा के कई रूप देखे जा सकते हैं । अनुभूति की तीव्रता की व्यंजना के लिए माथुर ने कहीं भाषा-स्फीति का आश्रय ग्रहण किया है और कहीं भाषा संकुचन का । कोणार्क में भाषा स्फीति है, तो शारदीया और " पहला राजा " में शब्दों की मितव्ययता । स्वप्न में पृथ्वी का पीछा करते हुए पृथु के संवाद में क्षिप्रता और कसाव द्रष्टव्य है—

" हाँ गौ । और मैं व्याघ्र की तरह उस पर टूटने ही वाला हूँ । वह भाग रही है । सारे भूमंडल, स्वर्गलोक, पाताल-लोक— तीनों लोकों में कहीं उसे आश्रय नहीं

मिलता, क्योंकि मेरा शर उसका पीछा कर रहा है। भयातुर, क्रन्दन करती हुई गौ, और उसके पीछे मैं— आग्नेय नेत्र और खिंची कमान। शिखरों पर, घाटियों में, सागर पर वायुमंडल में, पर्त पर पर्त— ऊँचे और ऊँचे।"[१७]

संवादों की क्षिप्रता और कसावट में लय की संवरणशीलता का महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसमें अर्थ की अनन्त सम्भावनायें गतिशील हो उठती हैं। आधार सामग्री जिसका संकेत पृष्ठभूमि में किया गया है— "धरती गाय का रूप लेकर पृथु से त्राण लेने के लिए भागी और अन्ततः कातर होकर उसके सामने प्रस्तुत हुई और तब उसने उसे बताया कि क्यों वह अपना धन, सम्पदा और बीज बाहर नहीं ला रही।"[१८] उर्वी धरती है। पृथु को उद्‌बोधित करने के पहले स्वप्न में धरती का रूप उसके (धरती के) प्रति विश्वास जगाने के लिए किया गया है। यह चरित्र यथार्थ और प्रतीक, कर्म और कल्पना के बीच की स्थिति में विकसित होता है। उर्वी का यह रूप पुरुषार्थ के प्रति चुनौती है। "आग्नेय नेत्र और खिंची कमान" में पृथु की तनावपूर्ण स्थिति का सम्प्रेषण है।

"पहला राजा" में चरित्रों की एक ऐसी श्रेणी है, जो हमारे समक्ष आलोचक के रूप में प्रस्तुत होती है, जिनकी भाषा में अनुभूति और चिन्तनशीलता का पारस्परिक संग्रन्थन है। ऐसे संवादों को सूक्ति की संज्ञा दी जा सकती है। नटी और सूत्रधार के संवाद सूक्ति के अन्तर्गत आते हैं। भाषा के इस ठोस अंश में विचार भी ठोस हैं, जो अपनी महत्ता को अलग से उजागर करके नाटक में अति नाटकीयता का संचार करते हैं। "- - - नटी, समझदारी की कुंजी आदमी के हाथ तब लगती है जब ताले आपही टूट चुके होते हैं।"[१९] इस सूक्ति में पृथु के लिए व्यंग्य तो है ही, साथ - साथ मानव समाज पर बहुत बड़ा व्यंग्य है। समसामयिक संघर्षमय स्थिति को पृथु अभी तक नहीं समझ पाया है, और न समझ पाने की स्थिति में है, जब समाज में मानवीय मूल्यों के पतन की चरम सीमा होगी तब शायद पृथु का पलायन समाप्त हो, ऐसी सम्भावना व्यक्त की गई है। ऐसे पात्रों में जीवन और जगत के प्रति एक निष्पक्ष दृष्टि है, जो तर्क और विवाद में केवल उलझकर ही नहीं रह जाती, बल्कि उसको एक निष्कर्षात्मक स्थिति प्रदान करती है। यही कारण है कि सामान्य कथनों की पुष्टि में एक

विशिष्ट उक्ति नाटक की भाषा में मोती की भाँति अपने अस्तित्व को चमकाती है।

अतीत और समकालीन जीवन की संश्लिष्ट संरचना माथुर की नाट्यभाषा की प्रकृति है। " समसामयिकता का बोध समकालीन साहित्य में सदा उजागर हुआ है। इसे रचयिता के आत्मबोध से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जो एक स्तर पर समसामयिक युगबोध है दूसरे स्तर पर वही साहित्यकार का आत्मबोध भी। इसलिए समसामयिकता के रूप में साहित्य के नये और पुराने दोनों की अभिव्यक्ति होती है। "[२०] संश्लिष्टता के चित्रण के पहले रचनाकार के अन्दर किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है, बल्कि ऐसा प्रयोग अचानक है, जिन्हें वह सूक्ष्म संवादों के बीच उद्घाटित करता है। सूक्ष्म संवाद की विशेषताओं को उद्धृत पंक्तियों में देखा जा सकता है—

नटी

" फिर भी सवाल की धारा जारी है।

सूत्रधार

और जवाब भटक रहा है, - - - जैसे आज से लगभग चार हजार बरस पहले हुआ था।"[२१]

पाठ - प्रक्रिया में ये पंक्तियाँ जितनी स्थूल प्रतीत होती हैं, सूक्ष्म रूप में उनके अन्दर अर्थ की दूसरी धारा प्रवाहित हो रही है। " चार हजार बरस पहले " के प्रभाव में नाटककार यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि समकालीन समाज की जो स्थिति है, वह आज की नहीं सदियों पुरानी है। " अत्यन्त प्राचीन काल में राजा नहीं थे। यह उन दिनों की बात है जब आर्यों को भारत में आये बहुत दिन नहीं हुए थे और हड़प्पा सभ्यता के पुरातन निवासियों से उनका संघर्ष चल रहा था।"[२२] वर्तमान स्थिति और तथ्य का अभिव्यक्ति के साथ यह सम्भाषण पात्रों के पूर्ण विकसित व्यक्तित्व की सूक्ष्मता को व्यंजित करता है। जो भी कहा जा रहा है, वह अतीत और वर्तमान की संश्लिष्ट स्थिति है और जिससे वर्तमान स्थिति को तर्कसंगत रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सूत्रधार और नटी को नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान देने की परम्परा बहुत प्राचीन है, किन्तु माथुर जी की सर्जनात्मक प्रतिभा ने लोक नाटकों की शैली पर उसको नवीन ढंग से प्रयुक्त किया है। माथुर के नवोन्मुखी व्यक्तित्व को

डॉ० भूपेन्द्र कलसी ने अच्छी तरह पहचाना है— " नाटक में माथुर जी ने शिल्प का अवश्य ही एक नया रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें लोक नाटकों की शैली पर नट - नटी का समावेश किया गया है, जो हर क्षण नाटक के नाटक होने का एहसास देते हैं। उस वक्त जबकि विश्व में नाट्याशिल्प के नये आयामों की खोज का संघर्ष तीव्र हो रहा है, माथुर जी का यह प्रयोग नयी दिशा का संकेत कर महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।" [23] मंगलाचरण, कथागायन तथा सूत्रधार और नटी के वार्तालाप से नाटकीय परिवेश की गहनता का आभास कराया जाता है। भाषा की सर्जनात्मकता के लिए आधुनिक रचनाकारों ने यह आवश्यक समझा है।

आधुनिक नाटक में अर्थ की सक्रिय व्यंजना के लिए शब्दों की भरमार मात्र को प्रमुखता नहीं दी गई बल्कि बहुत बार संवादों के बीच के अन्तराल में अर्थ की निष्पत्ति हुई है। भाषा प्रयोग की यह नई दृष्टि है। अपने संवादों में माथुर जी की सृजनात्मक दृष्टि परिचालित होती है—

" अर्चना : तो फिर पिताजी की बात ठीक है। - - - आपका क्षात्रधर्म चक्रवर्ती बनने में है।

पृथु : चक्रवर्ती के युद्ध ? - - - मैंने किसलिए इतने युद्ध किए, हजारों शत्रुओं को मौत के घाट उतारा ? - - - मुनियों के आश्रमों और ब्रह्मावर्त की रक्षा के लिए। - - - लेकिन चक्रवर्ती की आकांक्षा के युद्ध तो कोरी नर - हत्याएँ होंगी - - -। अर्चि, कोई एड़ नहीं जो मेरी आकांक्षा के घोड़ों को गतिशील कर दे।" [24]

एक विषय को जिस तरह दो संवादों में विभक्त किया गया है, उससे दोनों के बीच अन्तराल में अलग से अर्थ का आविर्भाव हुआ है। मानव जीवन में आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं है, वह अनन्त है। समकालीन समय में इसकी पूर्ति के लिए एकमात्र युद्ध ही उपाय है। यही कारण है कि मानव का संत्रस्त रूप काल के आयाम में पल्लवित होता जा रहा है। पृथु राजा है, वह भी सृष्टि का पहला, यह अपने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं, किन्तु अर्चना इतने से संतुष्ट नहीं। वह पृथु को चक्रवर्ती बनने के लिए उकसा रही है, धर्म की आड़ लेकर। यह विरोधात्मक स्थिति है। 'चक्रवर्ती के लिए युद्ध ?' वाक्य में प्रश्नवाचक चिन्ह लय और अर्थ की स्थिति को दूसरी तरफ

मोड़ देता है। यह स्वार्थ से ऊपर का उदात्त भाव है। स्वार्थ के वशीभूत होकर उसने किसी कार्य को नहीं किया। मानवता की रक्षा के लिए तो युद्ध एकमात्र रास्ता है, किन्तु आकांक्षा की पूर्ति के लिए युद्ध मानवता का संहार है। अर्चना के संवाद द्वारा पृथु के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है, साथ - साथ इसमें मानव का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रक्षिप्त है। पृथु का यह संवाद आधुनिक संवेदना के रूप का आभास कराता है और इसके द्वारा ` पहला राजा ` में (पृथु की) पारम्परिक - नैतिकता का निर्वाह हुआ है। अन्तिम वाक्य में अमूर्त को मूर्तता प्रदान करने की सजग दृष्टि है। ` आकांक्षा का घोड़ा ` कितना शक्तिशाली होगा इसका अनुमान इन पंक्तियों द्वारा लगाया जा सकता है। अतः विशिष्ट अनुभव, संवाद और वाक्य के बीच का अन्तराल, शब्द- सौन्दर्य और बिम्ब मिलकर विभिन्न अर्थों को गतिशील करते हैं।

` पहला राजा ` प्रतीकात्मक नाटक है और प्रयोग के स्तर पर ` माडर्न - एलीगोरी ` यह निर्विवाद है, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर रचनाकार ने भूमिका में देकर पाठकों को विवाद की स्थिति से बचाया है। इतिहास और पुराण से उपलब्ध सामग्री का उपयोग समकालीन समस्याओं के प्रतीकात्मक चित्रण के लिए किया गया है, इसलिए लेखक ने इस नाटक को ऐतिहासिक, पौराणिक, यथार्थवादी का ठप्पा लगाने से वंचित किया है। इस अस्वीकार के बावजूद नाटक में इतिहास, पुराण और यथार्थ तीनों व्याप्त हैं। कोई भी साहित्यकार जब अतीत से अनुप्राणित होता है, तो उसका दायित्व वहीं समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि तत्कालीन भाषा, परिवेश आदि को लेकर उसकी प्रयोगधर्मिता अधिक जटिल हो जाती है। वह अतीत और वर्तमान के लम्बे अन्तराल को सर्जनात्मक भाषा के माध्यम से समतल बनाता है। " यद्यपि पौराणिक नाटकों में ऐतिहासिक नाटकों का बन्धन नहीं रहता फिर भी युग के परिवेश की पूरी अवहेलना नहीं की जा सकती। "[२५] यही मुख्य कारण है कि ` स्कन्दगुप्त ` में नाटकीय परिवेश के लिए जितने अधिक प्रसाद चिन्तित हैं उतने माथुर नहीं। अतः इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए गोविन्द चातक का इस तरह का आरोप लगाना न्यायसंगत नहीं लगता— " पहला राजा में पुरातन कथ्य के अनुरूप संस्कृत शब्दावली का प्रयोग तो है, किन्तु उसके प्रति प्रसाद जैसा मोह नहीं है, बल्कि

उस मोह को भंग करने का प्रयत्न हुआ है। "[२६] नाट्य लेखन के किसी एक रूप के प्रति माथुर जी का विशेष लगाव नहीं है, और प्रयोगशीलता की स्थिति यहीं से चरितार्थ होती है।

" पहला राजा " के चरित्रों को माथुर ने महाभारत, पुराण के बीच की स्थिति से गुजारकर प्रतीक के माध्यम से समसामयिक समस्याओं को उकेरा है, इसलिए वे महाभारत, पुराण और यथार्थ से एक साथ संश्लिष्ट हैं। ऐसे चरित्र एक स्तर पर कथानक की धारा को प्रवाहित करते हैं, तो दूसरे स्तर पर प्रतीक की तहों को उकेरते चलते हैं। शव - मंथन - प्रक्रिया में प्रतीकात्मकता है। ऋषियों के मन्त्र बल से ब्रह्मावर्त के शासक वेन को मारना— कुशा की बटी हुई रस्सी से गला घोंटकर मार डाला जाना है जो उद्दंड और दुर्विनीत राजाओं की शासन परम्परा का अन्त है। इसकी समकक्षता " अन्धेर नगरी " के शासक चौपट्ट राजा से की जा सकती है। वेन को मारा जाता है, जबकि चौपट्ट अपनी मूर्खता के कारण स्वयं फाँसी पर लटक जाता है। देह - मंथन - प्रक्रिया में भाषा का मन्त्र जैसा संस्कार किया गया है, जिससे नाटकीय स्थिति की विश्वसनीयता के प्रति अवधारणा दृढ़ होती है। शुक्राचार्य का संवाद इसको समझने के लिए सहायक है——

" ब्रह्मावर्त के निवासियों, हमारी बात सुनें। देवी सुनीथा, आप भी ध्यान दें। - - - वेन के जिस शव को देवी सुनीथा ने अपने चमत्कारपूर्ण लेपन से इतने दिन सुरक्षित रखा, आज हमने अपनी साधना और तपस्या के बल पर उसका मंथन किया। - - - पहले हमने वेन की दाहिनी जंघा को मथा। "[२७]

विभिन्न परिप्रेक्ष्य के समय और सन्दर्भानुसार अर्थ के बहुआयामी स्तर को ये पंक्तियाँ ध्वनित करती हैं। वेन के सुरक्षित शव में भृगु की सुरक्षित ममियों की कला है और सुनीथा के भृगु से आने की सम्भावना। शव मंथन से तात्पर्य सत्य का तेज और सर्वग्राही अंश प्राप्त करने की प्रक्रिया। शव - मंथन द्वारा पृथु की उत्पत्ति से ब्राह्मण वर्ग के उद्गम को प्रकट किया गया है। इस मंथन से सर्वप्रथम काले वर्ण का (" इसका रंग जले हुए खंभे के समान है। ") व्यक्ति उत्पन्न होता है, जो वेन के समस्त पापों का प्रतीक है। पाप का रंग काला माना जाता है, यह रूढ़ि है।

समय के सन्दर्भ में अंधेरा शब्द भी अति प्रचलित है— अन्धेर नगरी, अंधा युग, अंधेरे में इत्यादि । गौर वर्ण, बलिष्ट भुजाओं वाले जिस दूसरे शरीर की निष्पत्ति हुई उसे भुजापुत्र - पृथु की संज्ञा दी गई । यह वेन की सात्त्विकता का प्रतीक है ।

पृथु एक पौराणिक चरित्र है । दृढ़ संकल्प, सत्य प्रतीक, महानविजेता, ब्राह्मण भक्त, शरणागत वत्सल, दण्डपाणि, अवतारी, उत्पादन वर्द्धक, भूमि की आर्द्रता का संवर्द्धक आदि प्रामाणिक विशेषताओं के साथ उसके चरित्र को सर्जनात्मक कल्पना से अनुगुम्फित किया गया है । उसमें समकालीन जीवन की जटिलता का यथार्थ निदर्शन है । कलशी जी के विचारों का इस संदर्भ में समर्थन करना नाटककार और उसके नाटकीय चरित्र दोनों के प्रति अन्याय साबित होगा— " उर्वी के सान्निध्य में वह पृथ्वी को समतल करने, नदी पर बाँध बनाने आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है । किन्तु ये सब कार्य वास्तविक और नाटकीय संघर्ष को प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं, क्योंकि पृथु एक कठपुतली के रूप में सामने आता है, जिसे जब चाहो तब नई दिशा की ओर प्रवृत्त कर दो ।" २८

पृथु पौराणिक चरित्र के साथ - साथ मानवीय चरित्र है, इसलिए वह तमाम दुविधाओं और तनावों के केन्द्रबिन्दु के रूप में परिलक्षित होता है । रचनाकार का मुख्य उद्देश्य समकालीन समस्या को प्रकाश में लाना रहा है, न कि उसके आदर्श चरित्र मात्र का दिग्दर्शन । चूँकि पृथु मुनिपालक है, इसलिए उसमें शिष्यत्व भाव निहित है । पृथु का चरित्र आदर्श और यथार्थ के दोहरे भार को वहन करता चलता है । यही कारण है कि, वह मुनियों के षड्यन्त्र - जाल में फंसता जाता है । यह नाटक कथ्य की दृष्टि से नवीन युग का सूचक है । कर्मठ पुरुष कर्म से नहीं ऊबता, जितना सफलता न प्राप्त होने से । मन्त्रियों के षड्यन्त्र से निरन्तर सक्रिय होने के बाद भी जब पृथु सफलता हासिल नहीं कर पाता तो स्वयं को असुरक्षित और असहाय महसूस करता है, और परम शक्ति की शक्तिमत्ता के प्रति उसे विश्वास होने लगता है । उद्धृत पंक्तियों में उसकी मनःस्थिति के साकार रूप को समझा जा सकता है—

" ओ दुविधाओं के देवता, तू जिसे यज्ञ पुरुष कहा जाता है— तू जिसे जगत का विधाता कहते हैं — तू परम ब्रह्म । मैं जानता हूँ कि शक्ति तेरी नहीं मेरी है । फिर भी तेरे आगे हाथ फैलाता हूँ । हजारों टहनियाँ और शाखायें किसी आकाश वृक्ष पर फैली हैं । मेरी निगाह अंतरिक्ष के उस अनन्त फल फूल वाले वृक्ष से

हटा दे । पृथिवी पर जो जीर्ण - शीर्ण पत्ते बिखरे हैं उन्हीं में खोजने दे, उसे जो मेरी सहचरी थी, मेरी प्राण थी - - - और, और - - - थी मेरी माँ । - - - उर्वी, माँ - - - माँ ।" २९

समाजवादी समाज के निर्माण में निरन्तर संघर्ष को चुनौती देने वाले कर्मवीर पुरुष को यदि असफलता का सामना करना पड़ता है, तो इसे ईश्वरीय विधान के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? इसका कोई निश्चित, शाश्वत उत्तर नहीं है । " शक्ति तेरी नहीं मेरी है ।" कर्मवीर पुरुष का अपने कर्म के प्रति अडिग विश्वास है । ऐसा पुरुष अपने कर्मों से बाह्य शान्ति तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु आन्तरिक शान्ति के लिए वह प्रकृति की स्वाभाविक गति पर आश्रित रहता है । पृथु राजा के कारण धरती को पृथ्वी की संज्ञा दी गई । धरती का दूसरा नाम उर्वी है और वह पृथु के पुरुषार्थ को चुनौती देती है । पृथु उस चुनौती को स्वीकार कर भूमि को समतल और उर्वरक बनाता है । उर्वी पृथु की सहचरी है और धरती होने के कारण माँ भी है । अन्तिम पंक्तियों में रचनाकार ने कल्पनात्मक दुनियाँ की अपेक्षा यथार्थ को श्रेष्ठ घोषित किया है । अतः इसमें व्यक्ति का यथार्थ तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष अबाध्य रूप से सम्प्रेषित होता है । " हर घटना या वस्तु का एक समय में एक ही पक्ष उभरकर आता है । जब एक गुण उभरकर आता है, तब उसके दूसरे गुण छुप जाते हैं । यह हर अंकन की सीमा है, बेबसी है । नया नाटककार इस सीमा को, इस बेबसी को, शक्ति में बदल देता है ।" ३०

भावों के सहजोच्छ्‌वास के लिए माथुर जी ने " पहला राजा " में काव्यात्मक भाषा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । आधुनिक नाटककारों ने नाट्यभाषा और काव्यभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं स्वीकार किया, इसलिए उनके नाटकों में काव्यभाषा का बहिष्कार नहीं है । नाटक में इसका केन्द्रीय महत्त्व है, क्योंकि नाटक एक बिम्बात्मक विधा है । काव्यमय समस्त उपादान (बिम्ब, लय, अलंकार) लय की सीमा में आबद्ध होकर नाटकीय परिवेश को जीवन्त करते हैं । " नाटक की सार्थकता भी इसी में है कि, उसका दृश्यत्व काव्यत्व में और काव्यत्व दृश्यत्व में इस प्रकार विलीन हो जाय कि उनके सम्मिश्रण से एक नये रूप का अभ्युदय हो, " दृश्य-काव्य " के रूप में ।" ३१ " पहला राजा " में काव्यात्मक भाषा अनुभूति की आँच

में पकी होने के कारण उसकी सामान्य भाषिक प्रगति को अवरुद्ध न कर, गतिशील करती है। सौन्दर्यबोध, स्मृति चित्रण, पलायन की स्थिति, ऊब, अन्तःसंघर्ष और वर्तमान स्थिति का बोध कराने के लिए प्राय: काव्यात्मक भाषा का सुसंगत प्रयोग किया गया है। नाटक के प्रारम्भ में जब मुनिगण पृथु को राजा के रूप में वरण करने की इच्छा प्रकट करते हैं, तो वायदे और चुनौती के उठते द्वन्द्व में हिमालय का सौन्दर्य उसकी कविता को उत्सरित करता है— ' आचार्य प्रतिष्ठा कुल की नहीं उस मनोरम प्रदेश की है जहाँ पिपासा की धारा में बर्फीली चोटियों का संगीत उमड़ता है।' ३२

दो पंक्तियों के माध्यम से रचनाकार ने नाटक की गम्भीर स्थिति से कुछ क्षण के लिए परे रखकर जैसे भावकों को हिमालय के सौन्दर्य का साक्षात् बोध करा दिया है। पिपासा की धारा, बर्फीली चोटियों का संगीत आदि बिम्ब सौन्दर्य की सूक्ष्मता का चक्षुरेन्द्रिय बोध कराते हैं।

काव्यात्मक भाषा में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं है। वाक्य न अधिक छोटे हैं न बड़े, किन्तु भाषा निरन्तर सक्रिय है, उसकी कोई सीमा नहीं है। माथुर जी की लेखनी इतनी सधी हुई है कि काव्यात्मक भाषा में बिम्ब अनायास प्रतिफलित हो जाते हैं, और अर्थ की धारा वेगवती हो जाती है। पृथु के स्मृति चित्रण में बिम्बों की छटा द्रष्टव्य है—

' भूल गए कि तुमने और मैंने उनकी बेरहमी के जाल में तड़पती मछलियों की भाँति आश्रमवासियों को बचाया। हम लोग तड़ित की भाँति उन काले बादलों को चीरकर टूट पड़े। देखते ही देखते बीसियों को तुमने धराशायी किया। - - - कवष, धनुष की यह प्रत्यंचा मचल रही है, और तूणीर में से वाण निकलने को आकुल है।' ३३

युद्ध के इस सक्रिय चित्रण में तत्सम, लोकजीवन और उर्दू शब्द घुल - मिल गये हैं। प्रत्यंचा और तड़ित, तूणीर तत्सम शब्दों द्वारा जैसे रचनाकार ने कवष के मन में तड़ित वेग से वीरता का संचार किया है। अतीत की इस स्मृति द्वारा कवष मात्र

में वीरता का संचार नहीं किया गया है, बल्कि यह समसामयिक और भविष्य के लिए भी उतना ही उपयोगी है। आर्यों और अनार्यों के युद्ध को प्रतीक द्वारा समसामयिक जन जीवन का युद्ध बनाकर कर्त्तव्य की ओर उन्मुख किया गया है। बेरहमी उर्दू शब्द है, पर अलग से आया हुआ नहीं प्रतीत होता। इस नाटक में अन्यत्र भी उर्दू शब्दों का प्रयोग निःसंकोच किया गया है। तत्सम शब्दों के बीच बोलचाल की प्रचलित शब्दावली (चीरकर, बीसियों) और क्रिया रूप सामान्य रूप से आप्लावित है। इस प्रक्रिया में युगीन संस्कार और समकालीन जीवन सन्दर्भ का अन्तराल पूर्णतया मिट जाता है। तद्भव शब्दों का लगभग ऐसा ही प्रयोग भारती ने 'अन्धायुग' में किया है—

"चरम त्रास के उस वेधक क्षण में,
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया।"[३४]

'बेरहमी ———— आश्रमवासियों'— में बिम्ब है, जो समस्त मानवता की गहरी पीड़ा को उद्घाटित करता है। मध्यकालीन कविताओं के बिम्बों में मछली शब्द बहुप्रयुक्त है, किन्तु उनमें जीवन के किसी एक पक्ष का उद्घाटन होता है। यहाँ बहुप्रयुक्त शब्द का नवीनीकरण हुआ है और विराट् सन्दर्भ का प्रतीक है। प्रत्यंचा का मचलना और तूणीर में से बाण का निकलने के लिए आकुल होना पृथु की वीरता को बिम्बित करता है।

'पहला राजा' में पृथु की मनःस्थिति का काव्य अधिक से अधिक देखने को मिलता है, चाहे वह आक्रोश की स्थिति हो, चाहे अन्तर्द्वन्द्व हो या ऊब हो। उर्वी की उपेक्षा सहन न कर सकने के कारण जब कवष पृथु को छोड़कर प्रस्थान कर जाता है, तब उसका (पृथु का) आक्रोश जाग उठता है— "जाओ, जाओ लेकिन सावधान। मेरे पौरुष का जंगल सुलग चुका है और इसकी धधकती हुई आग तुम्हें भी ग्रस लेगी।"[३५]

जब आक्रोश की आग को प्रज्वलित करने अर्चना का आगमन होता है, तो उत्तरदायित्व के दोहरे मोड़ पर खड़े पृथु के मुख से अनुभूति में परिपक्व काव्यात्मक भाषा प्रस्फुटित होती है—

"अमृत और कुम्भ। - - - (मन्द आविष्ट स्वर) यह कैसा जादू है कि भुजाएँ फड़कती हैं शत्रु के संहार के लिए भी और कुसुमों की इस वल्लरी को कसकर

[illegible]ने को भी ।" ३६

कोमल भावनाओं के चित्रण के लिए कोमल बिम्बों की सर्जना की गई है, जिसमें मधुर शब्दों का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है। अमृत और कुम्भ, पृथु और अर्चना का प्रतीक है। अर्थ के दूसरे स्तर पर यह देवताओं द्वारा समुद्र मन्थन की याद दिलाता है। समुद्र मन्थन से ही अनुप्राणित होकर रचनाकार ने वेण के देह - मन्थन का प्रावधान नाटक में किया। जब अमृत है, तो कुम्भ है। कुम्भ की विशेषता भी अमृत से भरे होने में है। कुम्भ में अमृत का अस्तित्व अनुशासित है, इसलिए दोनों का होना अनिवार्य है। पहला राजा पृथु के लिए रानी अर्चना की परिकल्पना ठीक वैसे ही है, जैसे आदिपुरुष मनु के लिए श्रद्धा की कल्पना। स्त्री के लिए ' वल्लरी ' आधुनिक रचनाकारों का सर्वप्रिय शब्द रहा है। मन्द लय में प्रस्तुत पंक्तियाँ अर्थों के विभिन्न किनारों का संस्पर्श कराती हैं।

' पहला राजा ' में बिम्ब के तीन रूप परिलक्षित होते हैं। पद्यात्मक भाषा में निहित बिम्ब, गद्य में निहित बिम्ब और संगीत में बिम्ब। पद्यात्मक भाषा के बिम्ब (जो पूर्व चर्चित है) में प्रकृति के उपादानों को नयी सार्थकता मिली है, किन्तु गद्य के बिम्ब में दैनिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं द्वारा अनुभव का प्रसार हुआ है। बिम्बों में साधारण अनुभव भी सघन हो जाता है। इसका रूप प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है— " प्याज की गाँठ छीलते में जैसे एक के बाद एक पर्त निकलता जाता है, वैसे ही पृथु के सामने समस्याएँ उभरती जाती हैं।" ३७ आधुनिक नाटककारों की यह विशेषता है कि जो उपादान अनुपयुक्त समझकर रचनात्मक परिधि से अब तक बहिष्कृत थे, वह अब सर्जनात्मक आवश्यकता से प्रेरित होकर उत्साह के साथ लिये जाने लगे। समस्याओं के अम्बार से गुजरता पृथु राजा, नायक और एक अन्य स्तर पर समकालीन मानव का सघन रूप है। अतः जहाँ भी बिम्बों की सर्जना की गई है वहाँ अनुभव की जटिलता सम्प्रेषित होती है। ' प्याज की गाँठ का प्रयोग इसी संदर्भ में है।

विविध भावों की अभिव्यंजना के लिए प्रसाद ने नाटक में गीतों का प्रयोग किया, किन्तु उनके बाद नाटककारों ने गीतों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया।

इसका छिट - पुट प्रयोग उनकी कुशल दृष्टि का परिचायक अवश्य है। माथुर जी यदि चाहते तो अनुभव की संश्लिष्टता को गीतों के अधिक प्रयोग द्वारा सम्प्रेषित कर सकते थे, किन्तु " पहला राजा " में कुल दो गीतों का प्रयोग किया है, जैसे अश्क ने " जय पराजय " में एक गीत का । साधारण अनुभव भी गीतों में निहित बिम्ब द्वारा कितनी कुशलता से प्रेषित हुआ है यह द्रष्टव्य है—

" सोने की थाली और ये दमकती कटोरियाँ
भरा है जिनमें लबालब रस का सागर ---
पर कोई आता नहीं, आता नहीं
रस का लालची, कूता नहीं । --- " ३८

नायिका के सौन्दर्य को सोने की थाली और कटोरियों द्वारा बिम्बित किया गया है, जिसमें अनुभव - रूप का साक्षात्कार होता है।

नाट्यस्थिति को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए माथुर ने रूपक का सर्जनात्मक प्रयोग किया है। आधुनिक नाटक में अर्थ की सम्पन्नता के लिए रूपक और प्रतीक को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चूँकि " पहला राजा " एक प्रतीकात्मक नाटक है, इसलिए प्रतीक के उपेक्षित होने का कोई प्रश्न नहीं उठता, किन्तु रूपक के कुशल प्रयोग से इनकार नहीं किया जा सकता। डॉ० सियाराम तिवारी ने रूपक को भाषा में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है— " सत्य तो यह है कि काव्य भाषा के उपकारकों में रूपक का स्थान प्रतीक से बड़ा है। काव्य यदि भाषिक संरचना है, तो भाषा की प्रकृति में ही रूपकात्मकता है।" ३६ समानान्तरता और प्रतिसाम्य की दृष्टि से " पहला राजा " के रूपक प्रशंसनीय हैं—

" कवष, भूमिरूपा गौ को दुहने के लिए अनेक मजबूत हाथ उठेंगे, भिन्न-भिन्न प्रकार का दूध निकालेंगे। अनाज रूपी दूध को मैं दुहूँगा, हलधर किसान बछड़ा होंगे, हाथों की अंजलि दोहन पात्र होगा ।" ४० रचनात्मक क्षमता का उत्स कहीं बिम्ब प्रक्रिया में है, तो कहीं मुहाविरे में। यहाँ मुहाविरे का प्रयोग अत्यधिक सावधानी से किया गया है—

" धन्य है शुक्राचार्य, तुम्हारी शुक्रनीति। - - - प्रजा अब हम लोगों की मुट्ठी में होगी। भृगुवंशी, मानता हूँ तुम्हारा लोहा।" ४१ मुहावरे सामान्य बोलचाल का लहजा लेते हैं जबकि बिम्ब गहरी अर्थ क्षमता को सक्रिय रखते हैं।

पूरे नाटकीय विधान का केन्द्रबिन्दु यही है। राजनीतिक सन्दर्भ में— राजा और मन्त्री, शासक और नेता का संघर्ष। जहाँ शासक के प्रत्येक कार्यों में हस्तक्षेप बड़ी कुशलता से होता है, वह शासक मर है। राजनीतिक नियम नेता वर्ग बनाते हैं। जैसे " अन्धेर नगरी " के मन्त्री किसी भी कार्य को अपने ढंग से मोड़ देते हैं। मध्यस्थ वर्ग में भी दो वर्ग हैं— एक प्रमुख और निपुण है, दूसरे का स्थान उससे कम है। सफलता पूरा वर्ग हासिल करता है। दूसरे सन्दर्भ में रचनाकार का संकेत सामाजिक वर्गीकरण की तरफ है— चाहे वह जवा हो, जाति हो, या परिवार हो।
" शुक्रनीति " अपने व्यंजनात्मक अर्थ को उभारता है। इसका अभिधात्मक शब्द " षड्यन्त्र " है, किन्तु " शुक्राचार्य की शुक्रनीति " में अधिक अर्थ का प्रादुर्भाव हुआ है। " मानता हूं तुम्हारा लोहा " की अर्थ - प्रतिच्छाया पहले सन्दर्भ में राजनीतिक परिवेश को ध्वनित करती है, जबकि दूसरे सन्दर्भ में उसका अर्थ सर्वव्याप्त हो जाता है। आज दो वर्गों के बीच में संघर्ष अधिकारों के जबर्दस्त हड़पने का है और ऐसे में बीच का निरीह व्यक्ति मारा जाता है। तरह - तरह की (नाटककार - कर्म की) समस्याओं के बीच रचनाकार की मार्मिक - क्षमता के सन्दर्भ में यह अन्तिम मुहावरा सटीक उतरता है।

नाटक का प्रारम्भ सूत्रधार और नटी द्वारा परम शक्ति की स्तुति से होता है और अन्त भी। अन्त में पृथ्वी की स्तुति की गई है, जिसमें पृथु का पारम्परिक संस्कार है। कुल मिलाकर यह रचनाकार की आस्तिकता का प्रतीक है—

" पृथिवी के केन्द्र से जो बल, जो शक्ति निकलती है उस चेतना के प्राणवायु से मैं भी स्फुरित हो जाऊँ। पृथिवी के आकाश में विचारों के मेघ मँडराते हैं, मैं भी उनके जल से भीग जाऊँ। भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ।" ४२

'पहला राजा' की तमाम मानसिक परेशानियों से गुजरकर रचनाकार की आस्तिकता पृथ्वीपूजा द्वारा प्रतिफलित हुई है, और यहीं उसकी आधुनिकता का मूल स्रोत है। 'प्रसाद के उपरान्त इस प्रकार का शोधपूर्ण यह प्रथम नाटक है, जिसमें आधुनिक समस्या का हल प्राचीनयुग के प्रतीकात्मक मन्थन के आलोक में निकाला गया है।' ४३

।। स न्द र्भ ।।

१- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा ? अंक-१,पृष्ठ - २३ - २४

२- नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक : एक यात्रा दशक : पृष्ठ-१६

३- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक-१,पृष्ठ -३६

४- गोविन्द चातक : नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर : पृष्ठ - १०१ - १०२

५- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा ? अंक-३,पृष्ठ - ६३ - ६४

६- - वही - पृष्ठभूमि : पृष्ठ-११४

७- डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : पृष्ठ - ४३४

८- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा ? अंक दो,पृष्ठ - ५८

९- जयशंकर प्रसाद : कामायनी : कामसर्ग : पृष्ठ - ७१

१०- (सम्पादक) डा० शिवराम माली,डा० सुधाकर गोकाककर : नाटक और - रंगमंच : पृष्ठ - १३१

११- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : भूमिका पृष्ठ - ६

१२- - वही - अंक दो,पृष्ठ - ५९

१३- डॉ० भूपेन्द्र कलसी : प्रसादोत्तरकालीन नाटक : पृष्ठ - ६४

१४- गोविन्द चातक : नाट्यभाषा : पृष्ठ - ८८

१५- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक दो,पृष्ठ - ६२

१६- गोविन्द चातक : नाट्यभाषा : पृष्ठ - ५१

१७- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक ३, पृष्ठ - ७४

१८- - वही - पृष्ठभूमि : पृष्ठ - ११५

१९- - वही - अंक दो, पृष्ठ - ६०

२०- सं०- नरनारायण राय : हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा : पृष्ठ - ११

२१- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक १ , पृष्ठ - १२

२२- - वही - पृष्ठभूमि : पृष्ठ - १०२

२३- डॉ० भूपेन्द्र कलसी : प्रसादोत्तर कालीन नाटक : पृष्ठ - १७४

२४- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक दो, पृष्ठ - ५९ - ६०

२५- डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृष्ठ - १४०

२६- गोबिन्द चातक : नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर : पृष्ठ - १०३
२७- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक १, पृष्ठ - ४२
२८- डॉ० भूपेन्द्र कलसी : प्रसादोत्तर कालीन नाटक : पृष्ठ - २३७
२९- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक ३, पृष्ठ - ९८ - ९८
३०- डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : कारवाँ की भूमिका : पृष्ठ - १०
३१- नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक : एक यात्रा दशक : पृष्ठ -१८
३२- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक १ , पृष्ठ - २६
३३- - वही - पृष्ठ - ५१
३४- धर्मवीर भारती : अन्धायुग : पृष्ठ - ३१
३५- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक १, पृष्ठ - ५२
३६- - वही - पृष्ठ - ५३
३७- - वही - अंक३, पृष्ठ - ८८
३८- - वही - अंक १ ,पृष्ठ - ३६
३९- सं० नामवर सिंह : आलोचना त्रैमासिक (नि०- डा० सियाराम तिवारी- आचार्य शुक्ल की आलोचना में नयी आलोचना के तत्व पृष्ठ - २७ (जुलाई - सितम्बर ८१)
४०- जगदीश चन्द्र माथुर : पहला राजा : अंक ३ , पृष्ठ - ८४
४१- - वही - अंक २ , पृष्ठ - ७१
४२- - वही - अंक ३ , पृष्ठ - ९९
४३- डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : पृष्ठ - ४३४

।। लक्ष्मी नारायण लाल : ` व्यक्तिगत ` ।।

मानव मन में अन्तर्निहित भ्रम तथा स्वत्व की पहचान और व्यक्तित्व की तलाश के कारण ` व्यक्तिगत ` (सन् १६७५) नाटक न तो व्यक्तिगत कहानी का दस्तावेज है, न अस्तित्ववादी दर्शन, बल्कि इसमें सामाजिक प्रश्नों से उलझने वाला रुझान अवश्य है। सन् ६० के बाद के नाटकों में सिद्धान्तों की संग्रह वृत्ति नहीं, उसमें अपने पूरे भाषा - विधान में परिवर्तन की झलक है। मौलिक परिवर्तन नाटककार की नाट्यभाषा सम्बन्धी अवधारणा और रचना कर्म के मूल में रहा है, भाषा की सर्जनात्मक क्षमता उससे इतर नहीं, उसी का प्रतिफल है। नाटक की आन्तरिक स्थिति से जुड़ते जाना, उसकी पहचान कराना, उससे गहरे आत्मिक स्तरों पर जूझना और मानवीय यातना का बोध कराना भाषा सामर्थ्य पर आधारित है।

प्रयोग वृत्ति और सूक्ष्म रंग दृष्टि के कारण लक्ष्मी नारायण लाल आधुनिक हिन्दी नाटककारों में अपनी अलग प्रतिष्ठा रखते हैं। ` अन्धा कुआँ ` से ` मिस्टर अभिमन्यु ` तक का सूक्ष्म मार्ग, जिसका वेग शनैः शनैः तीव्र होता गया है, लाल की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का सूचक है, और ` व्यक्तिगत ` में वे गन्तव्य स्थान तक पहुँच गये हैं।

रचनात्मक स्तर पर समाज से जुड़ना, उसकी संगति एवं विसंगति को पहचानना, समसामयिक समस्याओं से गहरे स्तर पर जूझना और उस मानवीय यातना का बोध कराना रचनाकार के लिए बहुत कठिन कार्य है, किन्तु आधुनिक नाटककार बोलचाल की शब्दावली और लय द्वारा अनुभूति को सम्प्रेषित करने में सक्षम होता है। यह अनुभव अपनी प्रकृति में गहन और संश्लिष्ट है।

` वह : इतना तेज क्यों चलते हो ?
मैं : हमें समय के साथ चलना पड़ता है।
वह : पहुँचना कहाँ है ?

वह : तुम हरदम क्यों परेशान रहते हो ।

मैं : और तुम ?

वह : मुझे भी परेशान रहना पड़ता है । १

आधुनिक नाटककार में मानवीय स्थिति की समझ और पहचान की ओर अधिकाधिक उन्मुख होने की प्रवृत्ति मिलती है । उसकी समझ और पहचान किन्हीं रूढ़ या पूर्व निश्चित विचारसरणियों पर टिकी हुई नहीं है । टहलने के समय तेज चलने की क्रिया को समकालीन समय के साथ जोड़कर नया आयाम देने के मूल में रचनाकार की आधुनिकता के प्रति तटस्थ दृष्टि रही है । ` इतना तेज क्यों चलते हो ` पंक्ति ` आधे अधूरे ` नाटक (` खड़े क्यों हो गये ` पंक्ति) की स्मृति को ताजी कर देती है । आज का व्यक्ति यथा शक्ति तेज चलने की कोशिश करता है और दूसरों को भी इसका अहसास कराता है, यह बात दूसरी है कि गन्तव्य स्थान उसे मालूम नहीं । यही कारण है कि ` व्यक्तिगत ` का पात्र ` मैं ` ` वह ` के प्रश्न— ` पहुँचना कहाँ है ?` के उत्तर में मौन रहता है, क्योंकि वह अपने उद्देश्य को स्वयं नहीं जानता और न जानने की कोशिश करता है । जो व्यक्ति जिस वर्ग का है, जिस सीमा में है, उसमें बेचैन है, परेशान है, शान्त नहीं । चूँकि आदमी (` मैं `) परेशान है, इसलिए औरत (` वह `) परेशान है— भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अनुकूल । अतः बोलचाल की शब्दावली बाह्य रूप में जितनी स्थूल प्रतीत होती है, निहितार्थ में उतनी ही गम्भीर ।

बोलचाल की शब्दावली चाहे जहाँ से ग्रहण की गई हो, पर उसके प्रवाह को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता । नाटक में भाषा प्रवाह एक प्रकार से अपेक्षित कर्म है, जिसको ` व्यक्तिगत ` नाटक में जगह - जगह देखा जा सकता है—

` मैं देख रही हूँ, एक सम्पूर्ण आईना था, जो टूटकर असंख्य टुकड़ों में बिखर गया । - - - अब उसके हर टुकड़े में वही मैं दिखता है और अपने - आपको सम्पूर्ण कहता है - - - पर दूसरे को मुझको, टुकड़ों में बाँटकर देखता है - - - मैं धर्मपत्नी, वाइफ, पार्टनर, नौकर, माँ, इंटेलेक्चुअल - - - खिलौना - - - वाइफ आफ ए पोलीगेमस - - - एक पूरा दर्पण था - - - जो टूटकर अगणित - - -

तरह - तरह के टुकड़ों में बिखर गया - - -" [2]

" व्यक्तिगत " के मैं का चरित्र एकांगी नहीं है। वह स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी समस्याओं का उद्घाटन करता है। इसीलिए अंतिकता में पूर्ण है और समग्रता भी है। एम० के० रैना की दृष्टि में— इस " मैं " की परिभाषा इकाई नहीं वरन् गुणात्मक प्रतिबिम्ब खींचती है। ऐसे " मैं " को जो आज़ादी के बाद की हमारी राजनीति, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था और उनकी शक्तियाँ और प्रेरणाओं से पैदा हुआ, उसे व्याख्यायित और रूपायित करना इतना सरल नहीं। वह " मैं " मामूली पात्र नहीं है " [3] आईना व्यवस्था का प्रतीक है। आईना का टूटना समस्याओं के विभिन्न पक्षों के लिए रास्ता तैयार करना है, क्योंकि समकालीन सभी समस्याएँ आज की अव्यवस्था से ही तो उद्भूत हुई हैं। " मैं " का चरित्र आधुनिक समस्याओं का प्रतिफल है, ठीक वैसे जैसे " पहला राजा " का पात्र " अथवा " समस्त पापों का प्रतीक है।" मैं" के अन्दर जो नहीं है उसकी वह दूसरों से अपेक्षा करता है—" पर दूसरे को, मुझको, टुकड़ों में बाँटकर देखता है।" " मैं " अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कुछ भी करने को तत्पर हो जाता है और इस कार्य के लिए एकमात्र वही नहीं है, बल्कि उसका पूरा एक समूह है। पूरी व्यवस्था को तोड़ने में ऐसे वर्ग का प्रमुख हाथ है और प्रत्येक टुकड़े में उनकी कुछ इच्छा की पूर्ति होती है। पूरी की पूरी पंक्तियों में भाषा का तीव्र प्रवाह है, जिससे अर्थ की लड़ी निकलती जाती है। गोविन्द चातक ने कहा—" एक अच्छी बात यही है कि लाल के इन नाटकों की भाषा और संवाद - योजना में स्थिति का ठहराव नहीं है। वस्तुतः दोनों के अभीष्ट अलग - अलग हैं।" [4] सर्जनात्मक भाषा " वह " के तनाव ग्रस्त जीवन को मूर्त करती है।

आधुनिक समस्यायें जिन्दगी और व्यवस्था से जुड़ी हुई हैं। " व्यक्तिगत " नाटक में नाटककार समकालीन समस्याओं के प्रत्येक पहलू को यदि उजागर करता है, तो उससे उत्पन्न संघर्ष को भी नजर अन्दाज़ नहीं करता जिस तरह मानव समाज दो वर्गों (शोषक और शोषित) में विभाजित हो गया है, उसी तरह उनका संघर्ष भी भिन्न - भिन्न स्तर का है। " मैं " शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और अनैतिक चरित्र ही उसके आदर्श हैं। भौतिक साधन जुटाने की ललक को शान्त करने के

लिए ' मैं ' जैसे चरित्र को अनैतिक कार्य करना आवश्यक लगता है, पर क्या उसके मन में शान्ति है ? स्त्रियाँ अशान्त हैं और इनके पीछे भागने वाला व्यक्ति इनके मोह-पाश में बंधता चला जाता है। अतः अपनी - अपनी सीमा में सभी अन्तर और बाह्य संघर्ष में जकड़े हुए हैं। इस स्थिति को समझने में डा० गिरीश कुमार माथुर ने चूक नहीं की है— ' जीवन के विभिन्न दृश्यों को कथावस्तु के रूप में प्रस्तुत कर नाटककार वर्तमान जीवन के विशेष द्वन्द्वपूर्ण प्रसंगों द्वारा एक आसद सत्य को मार्मिकता से उद्घाटित कर जाता है। '[5]

' सोचिए भला, इन छोटी - छोटी बातों में क्या रखा है। क्या कहूँ, किससे कहूँ। दिल में ऐसी बातें घुमड़ती हैं कि बस पूछिए नहीं। अब तो पूरे आठ साल हो गए। दिल में एक गुब्बारा - सा उठता है और मुझे उड़ाए लिए चला जाता है। जी चाहता है उस गुब्बारे को फोड़ दूँ। मेरे पास ताकत है, साधन है— पर इनकी सहेली मिसेज़ आनन्द - - - '[6]

शोषित वर्ग जिन बातों को बड़ी समझता है, शोषक वर्ग उसे छोटी - छोटी बात कहकर चुप कराना चाहता है, क्योंकि वह अनैतिक कार्यों का इतना आदी हो चुका होता है कि ऐसी बातें उसे साधारण लगती हैं। चूँकि ऐसे समाज में अनैतिक कार्य अनैतिक व्यक्तियों के स्वभावानुकूल है इसलिए उसके— अन्दर किसी प्रकार का संकोच नहीं, पश्चाताप नहीं, बल्कि गर्वोन्नत वह अहस्य है— ' मेरे पास ताकत है, साधन है। ' ताकत और साधन के बावजूद सब (शोषक वर्ग) की किसी न किसी प्रकार की कमजोरी है— जिसके समक्ष वह धन, बल सहित झुक जाता है, जैसे ' मैं ' के समक्ष ' मिसेज़ आनन्द ' ' क्या कहूँ ' किससे कहूँ। दिल में ऐसी बातें घुमड़ती हैं कि बस पूछिए नहीं ' वाक्य क्षण मात्र के लिए शोषक वर्ग के प्रतिनिधि ' मैं ' के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है। ' इतनी ' की जगह पर ' ऐसी ' शब्द का प्रयोग उच्चारणानुकूल है जो भारतेन्दु की नाट्य भाषा से अनुप्राणित है। ' दिल में एक गुब्बारा - सा उठता है और मुझे उड़ाए लिए चला जाता है ' में बिम्ब है, और यह ' मैं ' की व्यग्र मनःस्थिति को मूर्त करने में सक्षम है।

शोषक वर्ग के पास ताकत है, साधन है इसे वह स्वयं स्वीकार करता है—

प्रत्यक्ष रूप में, किन्तु वह शोषित से कहीं अधिक संघर्षमय जीवन व्यतीत कर रहा है। उसके मूल में भौतिक साधनों को प्राप्त करने की बलवती इच्छा है। 'मैं' की स्थिति इसी प्रकार की है—

' वह लाइसेंस वाला काम नहीं बना। मिस्टर मल्होत्रा ही बाढ़े हाथ आ गए। उन्होंने मुझसे ज्यादा चन्दा दे दिया। बिजनेस में कोई किसी का दोस्त नहीं। आज इनकम टैक्स कमिश्नर ने भी सीधे मुँह बात नहीं की। उल्टा सीधा बकने लगा। उसने कहा— यू पीपुल आर करप्ट '। ७

ये पंक्तियाँ जहाँ व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पक्ष— धनी व्यक्तियों द्वारा धन को और अधिक प्राप्त करने की लालसा-को प्रस्तुत करती हैं, वहीं ' मैं ' के चरित्र का विश्लेषण भी करती हैं। समकालीन समाज में भी एकाध कमिश्नर जैसे ईमानदार व्यक्ति हैं, जो शोषक वर्ग को उसके द्वारा किये गये अनैतिक कार्यों का अहसास कराते हैं और उसके मन को अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था में छोड़ देते हैं। देखा जाय तो शोषक वर्ग में यदि एकता है तो केवल समाज को लूटने के लिए, जहाँ उनका स्वयं का स्वार्थ टकराता है, वहाँ उनमें आगे बढ़ने की होड़ है— ' बिजनेस में कोई किसी का दोस्त नहीं', आज के शोषक वर्ग की मनःस्थिति का चित्रण है। ' यू पीपुल आर करप्ट ' पात्रानुकूल भाषा है।

क्रूरताओं की उच्चतम ऊँचाई तक पहुँचकर शोषक की पारम्परिक शक्ल, उसका सामाजिक अर्थ व प्रसंग तथा उसके द्वारा फैलाए गए भ्रष्टाचार का अभिप्राय बदल जाता है। ऐसी स्थिति में भाषा अतिरंजना से बच सकी है और शोषक के तर्क की अनुभव-प्रवण अभिव्यक्ति एक सूक्ति - रूप में होती है।

' मैं अमानव बना तो सिर्फ मानव बने रहने के लिए, अनैतिक हुआ तो नैतिक बने रहने के लिए।' ८

मूल्य समय सापेक्ष हुआ करते हैं, निरपेक्ष नहीं। प्राचीन काल में जो आदर्श मूल्य था उसका रूप आज के सन्दर्भ में बदल गया है। अमानवता और अनैतिकता की अन्धी दौड़ में व्यक्ति सम्मिलित होता जा रहा है, मानवता और नैतिकता को अपने ढंग से परिभाषित करता है। अनैतिकता, चाहे जिस किसी की हो, अधिक आकर्षित

करती है और उसके समर्थक भी बहुत हो जाते हैं— गलत और सही का विचार किये बिना। इस व्यापक दिग्भ्रम में यह पहचान कठिन हो जाती है कि नयी सामाजिक विक्रांतियों का अन्धानुकरण ठीक है या गलत। वाक्यों का अन्त सम्प्रदान कारक द्वारा होने से उसके आकर्षण में वृद्धि अवश्य हुई है। ऐसे संवाद में सक्षम भाषा द्वारा समकालीन ह्रासमान मूल्यों का उल्लेख होता है तो ग्राह्य वृत्ति को परितुष्ट करने के लिए नहीं, बल्कि उसके द्वारा किये गये तुच्छ कार्यों को प्रकाश में लाने के लिए।

समकालीन परिस्थितियों में संघर्ष, एक प्राकृतिक संवृत्ति न होकर मानव-निर्मित दशा है, जिसकी अभिव्यक्ति कहीं राजनीतिक परिवेशगत रूप में हुई है, तो कहीं समाज स्वीकृत रिश्ते में—

"मैं : रोज अखबार नहीं देखता, कैसी-कैसी बातों, घटनाओं से भरा रहता है।

वह : ऐसा क्यों ?

मैं : हमारी हुकूमत ऐसी है।

वह : ऐसे तुम नहीं हो।"[६]

समकालीन समाज को अव्यवस्था की इस सीमा तक पहुँचाने में "मैं" (जैसे शोषक वर्ग) का सक्रिय सहयोग है, किन्तु वह एक झटके से इस दोष से मुक्त हो जाना चाहता है, पूरा दोष हुकूमत पर थोपकर, जैसे हुकूमत किसी चिड़िया का नाम हो। रचना यदि सही माने में रचना है तो समकालीन समस्याओं के प्रत्येक पहलू को निरूपित करना उसका दायित्व है, इस स्थिति से रचनाकार आगाह है, भारतेन्दु, प्रसाद, राकेश की तरह। दोष का प्रत्यारोपण किसी अन्य पर करने के बजाय यदि व्यक्ति स्वयं के दोष को महसूस करे तो स्थिति अधिक सुधर सकती है— "ऐसे तुम नहीं हो"— इसका मूल कथ्य है। यह सर्जनात्मक भाषा का ही तकाजा है कि "मैं" और "वह" पात्रों का चरित्र आरोपित न लगकर स्वाभाविक बन गया है। अज्ञेय के शब्दों में— "मंच पर हम नाटक देखते हैं तो उसमें आने वाला प्रत्येक चरित्र वक्ता होता है, उत्तम पुरुष में अपना वक्तव्य देता है, प्रस्तुत और प्रतिबद्ध होता है। हमारे सामने अभिनेता होता है, लेकिन हम देखते हैं तो अभिनेता को नहीं, उसके माध्यम से प्रस्तुत होते हुए चरित्र को। हम यह कभी नहीं पूछते कि हमारे सामने एक

अभिनेता है, लेकिन फिर भी देखते हैं हम चरित्र को ही ।' १०

'आधे अधूरे' के पति - पत्नी एक दूसरे को समझकर भी कई जगह चुप रहने की कोशिश करते हैं और एक सीमा के बाद दिल की पीड़ा को कई रूपों में निकाल देते हैं, किन्तु 'व्यक्तिगत' की स्थिति इससे भिन्न है। किसी अन्य व्यक्ति को न समझ पाने की कसक तो समझ में आती है, किन्तु पति - पत्नी के रिश्ते में एक दूसरे को न समझ पाने, यहाँ तक कि स्वयं को न समझ पाने की स्थिति उससे बड़ी विडम्बना है।

' मुझे उनकी बात समझ में नहीं आती। पर उनकी बात तो और भी समझ में नहीं आती। यह क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं, कुछ समझ में नहीं आता। यह मुझे बेहद चाहते हैं— पर क्यों, किस तरह चाहते हैं।' ११

समकालीन सामाजिक स्थितियों का न समझ पाने की विवशता वास्तविक अन्तर्द्वन्द्व है। शोषित वर्ग शोषण किये जाने वाले स्रोत को ही जब नहीं पहचान पाता तो उसका समाधान कैसे कर सकेगा, कहा नहीं जा सकता। 'कुछ समझ में नहीं आता' पंक्ति (शोषित के प्रति) सहानुभूतिपूर्ण ढंग से व्यक्त की गई है। पारिवारिक रिश्ता जो अपने सांस्कृतिक रूप में त्याग का पर्यायवाची था, समकालीन परिवेश में स्वार्थ के वशीभूत है— ' यह मुझे बेहद चाहते हैं— पर क्यों, किस तरह चाहते हैं।'

अपने कुण्ठित संवादों तथा भाषा में एक बौद्धिक उत्तेजना पैदा कर सकने वाले नाटककार के नाटक 'व्यक्तिगत' में अवसाद की नयी चिन्ताएँ मात्र निरूपित नहीं होतीं, बल्कि उसके द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति, कम महत्त्वपूर्ण नहीं—

' क्योंकि मेरे पास अपना कोई निजी काम जो नहीं है, जो बिल्कुल अपना हो। पर उसे कोई और नहीं दे सकता। और उसे मैं कुछ ढूँढ़ नहीं पाती। तभी मैं तुम्हारी चिट्ठियों को फाड़ - फाड़कर कुछ ढूँढ़ती हूँ— बेमतलब, तुमसे पूछती रहती हूँ— क्या, क्यों, कब, कैसे, कहाँ - - -' १२

कोई व्यक्ति जब किसी कार्य में कामयाब नहीं हो पाता तो उसकी मनोग्रन्थियाँ

उत्तेजित हो उठती है और ऐसे में उसका (आन्तरिक) संघर्ष किसी भी प्रकार से शान्त हो सकता है— चिट्ठी फाड़कर या अन्य किसी तरह से। अन्तर्द्वन्द्व ' वह ' जैसे चरित्र के लिए शोषण और अन्याय से प्रसूत यातनानुभूति है, जिसके लिए उसके अन्तर में कसक है। ' क्योंकि मेरे पास अपना निजी काम जो नहीं है, जो बिल्कुल अपना हो '— में आधुनिक मानव की परतन्त्रता का सहानुभूतिपूर्ण चित्रांकन है। ' और उसे मैं खुद ढूँढ़ नहीं पाती ' वाक्य में सम्सामयिक समस्याओं की तलाश न पाने की विफलता है, जो सुभाष दशोत्तर की कविता पंक्ति का स्मरण कराती है—

' वक्त । उन लोगों के हाथों में । पड़ गया है । जिन्हें । उसकी पहचान नहीं है। ' १३

' व्यक्तिगत ' में रचनाकार का मुख्य लक्ष्य किसी व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत विशेषता को व्यंजित करना मात्र नहीं रहा, बल्कि उसके द्वारा सम्सामयिक स्थिति को यथार्थ रूप में उद्घाटित करना मुख्य रहा है। व्यक्ति जिस व्यक्तिगत दुःख से जूझ रहा है, वह पूरे समाज का है—

' कहीं पढ़ा था, आर्थिक स्वतन्त्रता ही बुनियादी स्वतन्त्रता है। पर कहाँ है वह स्वतन्त्रता ? हमारा रहन - सहन, खाना - पीना, पहनना- ओढ़ना, हमारी सारी आदतें उस भूखे गुलाम जैसी हैं जिसे कभी सन्तोष नहीं होता। ' १४

अर्थ प्राप्ति का प्रयास यदि आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया जाता है, तो आनन्द की अनुभूति होती है और यदि उसका उपभोग दिखावे मात्र के लिए किया जाता है तो सुख के बजाय दुःख मिलता है— ठीक ' ऊसर ' के ' गृहस्वामी ' की तरह। मुनीश्वर और लक्ष्मी नारायण लाल दोनों रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य सम्सामयिक परिस्थितियों को प्रकाश में लाना रहा है, किन्तु अभिव्यक्ति का ढंग अलग अलग है। ऐसी स्थितियों का अंकन ' ऊसर ' में जहाँ कारुणिक है, वहीं ' व्यक्तिगत ' में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति है। ' हमारी सारी आदतें उस भूखे गुलाम जैसी है जिसे कभी सन्तोष नहीं होता '— में स्थिति की विराटता उसकी गहराई तक ध्वनित हुई है। अतः यहाँ परिवेशगत संघर्ष का रूप बहुआयामी हो गया है, जिसमें सक्षम भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ' अपने - आपको स्वयं नहीं समझ पाने की उलझन और

अपने - आपको सहज भाव से न जी पाने की तड़प— आज के हर व्यक्ति की व्यक्तिगत और व्यक्तिगत पीड़ा है तथा इस पीड़ा की अभिव्यक्ति कृति का लक्ष्य — १५ नरनारायण राय के कथन में इस स्थिति की गम्भीरता स्पष्ट है।

आधुनिक नाटक में शब्दों और संवादों के बीच मौन में कहीं पिरोने की कला नाटककार की विशेष रुचि का परिचायक है। "उसका संवरण 'व्यक्तिगत' नाटक में नहीं हुआ है, बल्कि मौन द्वारा गुणात्मक अर्थ - गर्भित हुआ है।" लाल के नाटक शब्द के नाटक हैं जिनसे न्यूनतम घटना सूत्र ही संवादों से जुड़ा होता है। किन्तु शब्दों के बीच के सन्नाटे को उन्होंने भली - भाँति समझा है। इसलिए निःशब्द स्थितियों और मौन की मुखरता को व्यंजित करने का भी उन्होंने अपने नाटकों में सुन्दर प्रयोग किया है।" १६

"वह : अच्छा, अब बताओ।

मैं : मेरी कमाई है। पूरे ढाई हजार। - - - ऐसा है कि एक आदमी को बैंक से पचीस हजार 'लोन' लेने थे।

वह : तो यह कमीशन है।

मैं : मेरी कमाई है।

वह : कैसी कमाई ?

विराम

मैं : देखो यह हार बिलकुल उसी तरह का है जैसा मिसेज़ रामलाल उस दिन पहनकर डिनर पार्टी में मिली थीं।

वह : मैं मिसेज़ रामलाल हूँ क्या ?

विराम

मैं : मेरा मतलब - - -

वह : ऐसा क्यों करते हो ?

मैं : सब करते हैं।" १७

आधुनिक विषम परिस्थितियों को जिम्मेदारपूर्ण ढंग से वहन करने वाला शोषक वर्ग संस्कृति की मूल्यवत्ता का निषेध किये बिना अनैतिक कार्यों की विभीषिका को कम करना चाहता हो, ऐसी बात नहीं है, बल्कि वह उसके पारम्परिक रूप को

भकझोर देता है। ` पूरे ढाई हजार ` और ` ऐसा है कि एक आदमी को बैंक से पचीस हजार ` लोन ` लेने थे ` के बीच जो कुछ क्षण का मौन है उसमें शोषक वर्ग की मनोवृत्ति को व्याख्यायित करने का पूरा सुअवसर मिलता है। किसी भी चीज या कार्य की पहचान दो श्रेणियों के बीच होती है— अच्छा— बुरा, नैतिक - अनैतिक। जब समाज में गलत कार्य ही व्याप्त हो जाता है, तो अच्छा क्या है कहा नहीं जा सकता। तभी तो ` मैं ` पात्र अनैतिक कार्य (रिश्वत) को कमाई कहकर ` नैतिकता ` को अपने ढंग से परिभाषित करना चाहता है। ` मेरा मतलब - - -` के बाद के मौन में ` मैं ` अपनी पत्नी ` वह ` के हार की तुलना मात्र ` मिसेज़ रामलाल ` के हार से नहीं करता, बल्कि दोनों हारों की प्रकृति की समानता और रामलाल द्वारा किये गये अनैतिक कार्यों को उजागर करता है। अन्त में ` सब करते हैं ` वाक्य द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। संवाद के वाक्यों का मौन जहाँ सशक्त अर्थ की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, वहीं संवाद युग्मों के बीच विराम में समृद्ध अर्थ की धारा प्रवाहित होती है। पहले विराम— ` कमाई - - - - देखो—` के बीच जो अर्थ ध्वनित होता है वह यह है कि— सही— गलत के सुनिश्चित मूल्यांकन की कसौटी के अभाव में आधुनिक समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। मुख्य बात यह है कि अनैतिक कार्यों द्वारा धन प्राप्त करने के स्रोत (रिश्वत, चोरी, डाका) को नैतिक या नाटककार के शब्दों में ` कमाई ` की संज्ञा दी जायेगी तो ईमानदारी से किये गये कार्य को क्या नाम दिया जायेगा ? समकालीन समाज में ईमानदार व्यक्ति आश्चर्यजनक हो गया है, आदर्श की तो बात अलग है। जो सत्य है उसको स्वीकार करने में सामाजिक रिश्ते बाधक नहीं हैं। यह विशेष कारण है— जब पति द्वारा रिश्वत के पैसों से लाये गये हार को पत्नी स्वीकार नहीं करती और समझ लेने के बाद भी उसके अन्दर प्रश्न कौंधता रहता है— ` कैसी कमाई ` प्रश्न ` वह ` की अव्यवस्थित मनःस्थिति का द्योतक है। ` मैं मिसेज़ रामलाल हूँ क्या ` और ` मेरा मतलब ` के बीच का अन्तराल अर्थ की दृष्टि से गहन है— शोषक - शोषित, नैतिक- अनैतिक में बहुत अन्तर है। शोषक अनैतिक कार्यों को जहाँ प्रोत्साहन देता है, वहीं नैतिक व्यक्ति क्रूर कर्म की कटु आलोचना करता है। मिसेज़ रामलाल गलत कार्यों द्वारा प्राप्त किये गये हार को उत्साह के साथ स्वीकार करती है, जबकि ` वह ` उस तरह के हार को स्वीकार करने से साफ इनकार कर जाती है और ` मैं ` के अनैतिक

कार्य को उस तक महसूस कराने का प्रयास करती है। 'ऐसा क्यों करते हो' प्रश्न में अर्थ की दो धारायें अन्तर्निहित हैं—एक 'वह' का मिसेज़ रामलाल से अपनी तुलना किये जाने पर रोष प्रकट करना और दूसरा 'मैं' के गलत कार्यों के प्रति दुःख। संवादों का अस्तित्व प्रतिक्रियात्मक होकर विलीन नहीं हो जाता, बल्कि अर्थ के विभिन्न धरातलों का संस्पर्श कराता है 'व्यभिचार' में एक जगह इस मन्तव्य को रचनाकार ने स्वयं अभिव्यक्त किया है—'आप तो जानते ही हैं, हर बात के दो पहलू होते हैं।' १८

'व्यभिचार' में जहाँ मौन द्वारा अर्थ की निष्पत्ति हुई है, वहीं हरकत भी अर्थ की दृष्टि से रिक्त नहीं जाता। इसकी व्याख्या नाटककार ने की—'शब्द और वाक्य साहित्य के मूलाधार हैं : पर 'पैन्टोमाइम' भावाभिनय जो नाटक का प्रारम्भिक और शक्तिशाली रूप है, उसमें शब्द और वाक्य तो होते ही नहीं—न कथन का उच्चारण ही होता है।' १९ प्रस्तुत संवादों में हरकत की भाषा की सक्रियता देखी जा सकती है—

'(इस बीच मैं ने वह की आँखों पर पट्टी बाँध दी है।)

मैं : अब कोई डर नहीं। चलो ढूँढो मुझे। छुओ - - -

(वह ढूँढती हुई छूना चाहती है।)

वह : आँखों में पट्टी बँधते ही सारा कुछ कितना रहस्यमय लगने लगता है। हर चीज़ का अर्थ ही बदल जाता है।

मैं : देखो - - - देखो - - - इधर टेबुल है - - - मैं इधर हूँ।

वह : पर लगता है कि तुम इधर हो। तुम्हारी बातों का भी क्या यकीन।

(सहसा टेबुल से टकराती है। टेबुल पर रखा आईना गिरकर टूट जाता है) २०

आँखों पर पट्टी बाँधने से जैसे मानव-मन का विभ्रम एवं डर सब समाप्त हो जाता है। तभी 'मैं' कहता है 'अब कोई डर नहीं। चलो ढूँढो मुझे ---।' 'वह' का 'मैं' को ढूँढने का प्रयास सामाजिक विसंगतियों से प्रसूत समकालीन

समस्याओं को खोजने की कोशिश है। बीच में रखा मेज शोषक और शोषित के बीच की दीवार है। समस्याओं को ढूँढने की कोशिश असफल तब हो जाती है,जब ` वह ` मेज से टकराकर गिर जाती है। इसका कारण है ` मैं ` सामूहिक है, इसलिए शक्तिशाली है और ` वह ` का रूप इसके विपरीत है जो संगठित नहीं है। मेज पर रखे आइने का टूटना ` वह ` के सपनों का टूटना है। अतः हरकत को सशक्त बनाने की कोशिश भाषिक अर्थवत्ता को इतिवृत्तात्मक नहीं बनाती। इसके बिना अर्थ जैसे अधूरा लगता है।

नाटक की भाषा ठोस है, किन्तु उसमें निहित अर्थ नदी के प्रवाह के समान। भाषा जैसे अर्थ के प्रवाह को ठेल देती है, और उसकी धारा बीच में स्थित सभी अवरोधों का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती जाती है। ` व्यक्तिगत ` के रचनाकार की धारणा भाषिक सन्दर्भ में हमारी निर्मूल शंका का समाधान करती है— ` नाटक की भाषा पूरी तरह ठोस होती है, इसके बावजूद उसमें ` खोल ` होता है। खोल न हो तो अभिनेता उसमें घुसेगा कैसे ? अभिनेता में भी खोल होता है, नहीं तो दर्शक उसमें कैसे घुसेगा ? नाटक की भाषा उपस्थिति देती है। इसमें अभिनेता, निर्देशक, दर्शक के लिए पूरा स्थान रहता है। `२१ एक जागरूक रंगकर्मी का नाटकीय संवादों की भाषा में अतिरिक्त ध्यान देना और उन्हें रंगधर्मिता से अलग करके न देखना आश्चर्यजनक नहीं, बल्कि स्वाभाविक है। स्थूल रूप में ऐसे संवाद भले ही किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति करते हों, किन्तु मूल उद्देश्य है— समकालीन जीवन की आक्रामक परिस्थितियों के क्रूर रूप का चित्रांकन।

` वह : यह निजी विचार क्या चीज़ है ?

मैं : चाय के साथ कुछ नमकीन चीज़ होनी चाहिए।

(मैं लेने जाता है)

वह : निजी विचार। (हँसती है।) जब कोई अपना विश्वास ही न हो, चरित्र ही न हो तो निजी विचार क्या हो सकता है। ` २२

ऐसे समाज में जीवन की स्वाभाविकता एवं सुख को छीन लेने वाले अलग - अलग प्रश्नों को समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पर ऐसा महसूस होने लगा है

कि कोई ऐसी शक्ति है (शोषक की ही सही) जो हमारी आकांक्षाओं एवं उत्साह को ध्वस्त कर देती है। इतना सब होने के बावजूद उनकी बुद्धि एकदम जड़ हो गई है ऐसा स्वीकार्य नहीं। समाज में जैसे - जैसे अमानवीय व्यवहारों का संक्रमण बढ़ता है, वैसे - वैसे उनकी चेतना परिपक्व होती जाती है। ऐसी अवस्था में चेतना अन्तर्विरोध से ग्रसित हो जाती है। " मैं " का किसी नमकीन चीज़ को लेने जाना उसकी शोषण प्रवृत्ति का द्योतक है। " निजी विचार " में आश्चर्य का मिश्रण है और " वह " का हँसना आधुनिक शोषक शक्तियों पर व्यंग्यात्मक कुठाराघात है। " जब कोई अपना विश्वास ही न हो, चरित्र ही न हो तो निजी विचार क्या हो सकता है " में समकालीन व्यक्तियों— जिसके द्वारा समाज में मानवता का हनन हो रहा है— पर निर्मम प्रहार है।

प्रसाद, भुवनेश्वर जैसे सफलता की सीढ़ियों पर उत्तरोत्तर आरूढ़ होते गये हैं, ठीक वैसे ही लक्ष्मी नारायण लाल भी। " अन्धा कुआँ " (१९५५) " सुन्दर रस, " " मादा कैक्टस, " " सूखा सरोवर, " " दर्पन ; " " रातरानी ; " " रक्त - कमल, " " सूर्यमुख, " " कल्की, " " मिस्टर अभिमन्यु, " " करफ्यू ; " अब्दुल्ला दीवाना, " " गुरु, " " नरसिंह कथा, " से " व्यक्तिगत " तक का सूक्ष्म रास्ता तय कर सकने में उनकी चेतना निरन्तर ऊर्ध्वमुखी होती गई है। मादा कैक्टस, मिस्टर अभिमन्यु, अब्दुल्ला दीवाना, करफ्यू की चरम परिणति " व्यक्तिगत " है। " व्यक्तिगत " में जहाँ मौन द्वारा भाव अभिव्यंजना की चिन्ता है— " वास्तविक नाटक तो खामोशी में है, इसे समझना होगा "— २३ वहीं संवाद विश्लेषण का आग्रह कम नहीं है। ऐसी भाषिक - संरचना में नाटक की भाषा एकरस होकर प्रेक्षक के लिए उबाऊ नहीं बनती, बल्कि विविध संवाद प्रयोग में एक नया उत्साह है। रेनेवेलेक ने बोलचाल के विस्तार को प्रस्तुत किया है— " रोजमर्रा की भाषा में एकरूपता नहीं होती ; उसमें विविध प्रकार के अंश मिले रहते हैं, जैसे बोलचाल की भाषा, वाणिज्य की भाषा, दफ्तरों की भाषा, धर्म की भाषा और छात्रों के बीच प्रचलित की भाषा। " २४

" उसने पीपुल को " करप्ट " कहा, तुम क्यों परेशान हो। " २५ आज

की समस्याओं का विराट रूप किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक भीड़ है, लोग हैं। अतः इसके समाधान के लिए किसी एक व्यक्ति का परेशान होना कोई माने नहीं रखता।

अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति नाटक यथार्थ की व्यंजना मात्र नहीं होता, बल्कि उसमें यथार्थ का साक्षात्कार होता है। 'व्यक्तिगत' में समसामयिक समाज की विसंगतियों में लुप्त सही मूल्यों की तलाश है। अतः किसी भी सार्थक रचना का दायित्व भटके हुए मानव को मार्ग दिखाने की कोशिश है। यह बात दूसरी है कि भीड़ के बीच मूल्यों की तलाश कब तक सम्भव हो सकेगी ? अपनी उस सक्रिय कोशिश में रचनाकार वहाँ से सम्पृक्त होता है जहाँ से अनुभव परिपक्व होता है। उन तक अनुभव सम्प्रेषित करने के लिए भाषा भी उनकी शैली। यों तो रचनाकार ने इस सन्दर्भ में स्वयं स्वीकार किया— "नाटक की कोई भाषा नहीं होती— नाटक नाटक होता है बस। कथाकार सोचता है, याद करता है, तब उसे 'भाषा' के माध्यम से लिखता है। नाटककार न सोचता है न याद करता है। वह कार्य करता है।" [२६] नाटक की भाषा उस कड़ी से जोड़ती ही नहीं, जिस यथार्थ को नाटककार सम्प्रेषित करना चाहता है, बल्कि उपस्थिति देती है। जैसे यथार्थ की परिधि नहीं, वैसे भाषा की परिधि नहीं। ऐसी भाषा में किसी प्रकार की साज-सज्जा नहीं, शृंगार नहीं, हाँ अर्थ की सशक्त क्षमता अवश्य है, यह आज के नाटक की आवश्यकता है।

'अपने चारों ओर के
अंधकार के खिलाफ जो जितना लड़ता है
जो जितना जुड़ता है जिन्दगी से
उतना ही है उसका अपना
वही है उसका सपना - - -' [२७]

'व्यक्तिगत' का यही मूल कथ्य है, जिससे रचनाकार आद्योपान्त जूझता है। साफ-साफ और पूरा-पूरा कहने की शैली में अर्थसंगति भी बिलकुल स्पष्ट है। वाक्यों के बीच और अन्त में जिस तरह क्रियात्मक क्षमता का सुगठित प्रयोग

गद्य भाषा में है, उसी तरह लयात्मक भाषा में भी । " चारों ओर के " में समकालीन समाज की अमानवीय स्थिति का विस्तृत अर्थ निहित है । समाज में पैदा होकर भरण - पोषण करना सही माने में जीवन नहीं है, बल्कि आधुनिक विसंगतियों और शोषण के विरुद्ध चुनौतियों को स्वीकार करना जीवन है । " अंधकार के खिलाफ जो जितना लड़ता है । जो जितना जुड़ता है ज़िन्दगी से " संघर्ष में सम्मिलित होना मात्र जीवन का उद्देश्य नहीं है, बल्कि सफलता प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य है । " अन्धकार " शब्द साहित्य का रूढ़ शब्द है, जिसका प्रयोग उसी तरह (पारम्परिक) अर्थ संगति के लिए किया गया है । " व्यक्तिगत " के अनुभव - कथ्य का संसार निश्चय ही सर्जनात्मक है, नवीन है, जिसमें एक अलग तरह के संगठन की तलाश है । ऐसे संगठन में सही माने में रचता है— आज की सामाजिक आवश्यकता को देखते हुए । यह न किसी स्वार्थ पर टिका हुआ है, न इसकी आधारशिला आर्थिक है । शोषण मुक्त समाज रचना की परिकल्पना लिए ये लयात्मक पंक्तियाँ सक्रिय अर्थ की व्यापक संवेदना के कारण प्रेक्षक का ध्यान आकृष्ट करती हैं। ऐसे संवादों का प्रयोग क्रान्तिकारी परिवर्तन के सपने दिखाने मात्र के लिए नहीं किया गया है, इसमें यथार्थ की गहराई में पैठकर भविष्य के लिए नये मूल्यों की खोज अवश्य है ।

आधुनिक नाटककार किसी सीमा में आबद्ध नहीं होना चाहता और है भी नहीं, किन्तु कहीं - कहीं अतिरिक्त मोह से वह बच नहीं पाता । नाटक की भाषा काव्यात्मक हो - ऐसी कोई अनिवार्य शर्त पहले की तरह आज उसके साथ नहीं है । जो नाटककार होने के साथ - साथ सफल कवि है, (भारतेन्दु , प्रसाद, विपिन कुमार अग्रवाल) उसके नाटक में काव्य अलग नहीं लगता— दृश्य काव्य बन जाता है, किन्तु जो नाटककार है उसका ऐसे मोह का अतिक्रमण न करना मन को खटकता है । इस स्थिति को डॉ० विपिन अग्रवाल ने स्पष्ट कर दिया है—

" दर्शक के मन पर वही कविता प्रभाव डाल सकेगी, जिसमें ऐसे बिम्बों और ऐसी भाषा का प्रयोग हुआ हो कि उसकी लय को दर्शक को अपनाने में न केवल कठिनाई हो, बल्कि उसे ऐसा लगे कि यह तो वह भी कर सकता है । " २८

" व्यक्तिगत " नाटक के संवादों के बीच - बीच में लयात्मक और तुकान्त पंक्तियाँ

हैं। ऐसी पंक्तियाँ अपनी संरचना में काव्य छिपे का प्रयत्न भले ही जान पड़ती हों, किन्तु अनुभूत्यात्मक अर्थ सम्पदा को पूरे विस्तार के साथ सम्प्रेषित करने में कम नहीं हैं।

> ' बन लेने दो मुझे अमानव
> जब तक हैं इच्छाएँ मेरी,
> बन लूँगा मैं फिर से मानव
> जब इच्छाएँ होंगी पूरी।' २६

' व्यक्तिगत ' में कहीं कहीं सशक्त बिम्बों का साक्षात्कार होता है, जिसमें तत्कालीन समस्याओं से भी साक्षात्कार- प्रक्रिया होती है। बिम्बों की भाषा में कोई विशेष मुद्रा नहीं है। जीवन में अधिक उपयोग आने वाली वस्तुओं से अनायास बिम्ब की सर्जना हो जाती है ठीक ' आधे अधूरे ' के बिम्बों की तरह। प्रस्तुत उद्धरण में बिम्ब और उसकी अर्थ क्रांति दोनों द्रष्टव्य हैं—

' दरअसल चाभी गायब है। दूसरी चाभी लग भी नहीं सकती। आलमारी तोड़ी भी नहीं जा सकती— उसमें बहुत सारे ऐसे कीमती सामान रखे हैं, जो टूट जायेंगे। देखिये न, अब वह अपनी आलमारी की चाभी ढूँढ़ रही हैं। (दिखाता है) पर है उसकी चाभी मेरे पास। दरअसल गायब है मेरी चाभी। कहीं बाहर गायब हुई है, और हम समझा घर के अन्दर ढूँढ़ रहे हैं— समस्या जब बाहरी हो, और उसका हल हम भीतर ढूँढ़े तो क्या होगा— हम जहाँ हैं, वहाँ नहीं हैं, जहाँ नहीं हैं, वहाँ हैं।' ३०

' आधे अधूरे ' में डिब्बा है, जिसका ढक्कन घर के सदस्यों द्वारा नहीं खुलता, किन्तु यहां आलमारी है जिसकी चाभी गायब है। ' आधे अधूरे ' की समस्या पारिवारिक है, जबकि व्यक्तिगत की समस्या पूरे समाज की है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि— परिवार और समाज एक दूसरे से भिन्न हैं? पारिवारिक समस्या समाज द्वारा सुलझाई जा सकती है, किन्तु सामाजिक समस्या परिवार द्वारा नहीं सुलझाई जा सकती। यही आज का व्यक्ति नहीं समझ पा रहा है और यही समस्यायें निर्बाध गति से बढ़ती हैं। ' वह ' की आलमारी की चाभी ' में '

के पास है क्योंकि ' मैं ' शोषक है। शोषक होने के कारण ' मैं ' ' वह ' को अपनी इच्छानुसार मोड़ता है। अन्तिम पंक्तियों में (समस्या ———— वहाँ हैं।) अर्थ का सीधा सम्प्रेषण है। यह संवाद स्वगत का एक नया रूप है। ' मैं ' एक तरह से सूत्रधार का कार्य भी करता है।

हर चीज यहाँ धार विहीन हो गई है— चमक रहते हुए, ठीक मानव मस्तिष्क की तरह, जहाँ बाहरी समस्याओं का निदान घर के अन्दर ढूँढा जाता है—

' यहाँ हर चीज में चमक है, धार नहीं। हर चीज यहाँ धारदार थी, जब तक हम उसे पा नहीं सके। अब हर चीज़ भोथरी हो गई है— बिल्कुल जंग खाई हुई (हँसा पड़ती है।) अरे - रे - रे - - - इस आलपिन से कुश्ती करोगी।' ३१

इधर के नाटककारों ने नाटक की भाषा में आलंकारिक प्रवृत्ति को त्यागकर प्रतीक के प्रभावशाली रूप को ग्रहण किया है। ' व्यक्तिगत ' में भी इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया गया है ' पहला राजा ' की तरह और ' आधे अधूरे ' के समकक्ष। कथावस्तु, चरित्र योजना एवं संवाद किसी में प्रतीक का बहिष्कार नहीं। ' व्यक्तिगत ' वर्तमान समाज का प्रतीकात्मक रूप है। ' मैं ' स्वातन्त्र्योत्तर भारत में प्रसूत शोषक वर्ग का प्रतीक है, वर्तमान विसंगतियों के विकास में जिसका प्रमुख हाथ है। शोषण करने के जितने माध्यम हैं— पूँजीपति, नेता, चोर, डाकू, [illegible]— इन सबका सामूहिक रूप ' मैं ' है। ' वह ' शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है— अपनी पत्नी रूप के साथ साथ। तभी तो शिक्षित और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने के साथ साथ वह ' मैं ' की शोषण प्रवृत्ति का शिकार बनती है। पत्नी और शोषित (वर्ग) दोनों रूपों में उसकी स्थिति असहाय है—

' यहाँ की सारी चीज़ें बिखरी - बिखरी क्यों हैं। यहाँ की सारी चीज़ें मैंने सजाई थीं। एक - एक चीज़ अपने हाथों से। यह संस्कार मुझे अपनी माँ से मिला था। कितनी धूल जम आई है यहाँ। हवा में यह क्या उड़ रहा है? यह क्या चीज़ है? (पकड़ना चाहती है।) कुछ पकड़ में नहीं आता। (फिर प्रयास) कुछ भी नहीं।' ३२

[illegible] शक्तियों का इकट्ठा होना आवश्यक है, उसका बिखरा रूप कुछ

नहीं कर सकता । उसका संगठित रूप ही समाज में फैले हुए व्यापक अन्धकार को दूर कर सकता है । यही कारण है कि 'व्यक्तिगत' में शोषित शक्तियों के इकट्ठा होने की चिन्ता रचनाकार को बार - बार कई - कई रूपों में सताती है— जैसे - भारतेन्दु, भारती एवं मुक्तिबोध को । 'यहाँ की सारी चीजें बिखरी - बिखरी क्यों हैं' का भाव - अर्थ 'अन्धायुग' के 'टुकड़े - टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा' [33] के समकक्ष है । बिखरने की चिन्ता दोनों को है— पहले में शोषित शक्तियों की दूसरे में मर्यादा की । शक्तियों के बिखर जाने के कारण सामाजिक मर्यादा भंग होगी । सदियों पहले संस्कृति का रूप— 'यहाँ की सारी चीजें मैंने सजाईं थीं'— सजा था, आज उसके सौन्दर्य को बड़ी निर्ममता से मिटाया जा रहा है । 'कितनी धूल जम गई है यहाँ' धूल समाज में आधुनिक विसंगतियों का प्रतीक है, जिसको पकड़ने का प्रयास है— 'कुछ पकड़ में नहीं आता । यह धूल उसी तरह की है जैसे 'आधे अधूरे' के महेन्द्रनाथ की फाइल पर जमी धूल । महेन्द्रनाथ फाइल की धूल को झाड़ता है, जबकि 'व्यक्तिगत' की 'वह' पकड़ना चाहती है । यह पकड़ने का प्रयास समकालीन प्रश्नों को ढूँढने का प्रयास है । प्रतीक कहीं भी अर्थ - सम्पदा की विरोधता नहीं है । 'व्यक्तिगत' में प्रयुक्त प्रतीक के सन्दर्भ में रीता कुमार माथुर का मन्तव्य— 'संवादों में भी प्रतीकात्मकता का प्रयोग बहुत अधिक है, जो कहीं - कहीं नाटक को बोझिल बना देता है । वस्तुतः डॉ० लाल नाटक की सशक्त प्रभाव क्षमता के लिए प्रतीक को एक आवश्यक साधन मानते हैं, पर हर साधन एक सीमा तक ही सार्थक होता है, उसके प्रति अतिमोह अनुचित है । इस नाटक में भी यदि संवादों में प्रतीक का प्रयोग कम होता तो उसका सम्प्रेष्य सहज रूप में अभिव्यक्त होता'— [34] और दूसरी तरफ यह स्वीकार करना— 'कुल मिलाकर यह नाटक कथ्य और शिल्प में एक मौलिक प्रयोग है'— [35] अनिश्चयात्मक वृत्ति का द्योतक है ।

'व्यक्तिगत' में कुछ ऐसे संवाद आते हैं, जो कुछ क्षण के लिए सामाजिक चिन्ता से मुक्त कर देते हैं । ऐसे संवादों में हास्य योजना के साथ - साथ सर्जनात्मक अर्थ का एक अन्य आयाम है । प्रस्तुत संवाद में 'मैं' और 'वह' का आपसी तनाव समाप्त नहीं तो कम अवश्य हो जाता है—

'मैं : अपने आपको बहुत खूबसूरत समझती हो न।
वह : तुमसे कहीं ज़्यादा बदशक्ल।' ३६

सामाजिक विसंगतियाँ भी कुरूप हैं ही, किन्तु उसके दर्शक और भुक्तभोगी उससे कहीं अधिक कुरूप हैं।

नाटक के तीसरे दृश्य में 'मैं' के कार्य और संवाद द्वारा हास्य की बहुत सुन्दर सृष्टि हुई है—

'(वह आती है। मैं एकाएक छींकता है और दूसरी छींक के लिए मुँह ऊपर तानता है।)

वह : सुनिये।
(मैं हाथ से इशारा करता है।)
वह : कोई जरूरी है कि इसी समय तुम्हें छींक आए।
मैं : सारा चौपट कर दिया। छींक बिल्कुल यहाँ से चलकर यहाँ आ चुकी थी।' ३७

पूरा का पूरा संवाद पाठ - प्रक्रिया में एक हास्य दृश्य प्रस्तुत करता है। छींक 'मैं' की इच्छा शक्ति का द्योतक है। छींकने में बाधक वह अपनी पत्नी को मानता है—'सारा चौपट कर दिया।' शोषक की सम्पूर्ण इच्छा की पूर्ति शोषित द्वारा होती है- चाहे छोटा से छोटा स्वार्थ हो या बड़ा। कभी - कभी भ्रम के कारण व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि अपेक्षित वस्तु के प्राप्त न होने का क्या कारण है जैसे— छींक न आने पर 'मैं' का 'वह' को बाधक समझना।

'व्यक्तिगत' में अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों का कलात्मक संयोजन है, जो काल के आयाम में एक होने के बाद उसके अशेष रूप का अहसास कराता है। वर्तमान कभी अतीत की ओर प्रत्यावर्तन है, तो कभी भविष्य की यात्रा। दृश्य एक वर्तमान है, जिसमें 'मैं' और 'वह' टहलने निकले हैं, दृश्य दो और तीन अतीत की ओर ले जाता है, और चौथे दृश्य में फिर भविष्य (जो आज वर्तमान है) की यथार्थ झाँकी है। नाटककार के अनुभव का यह नया आयाम काल का अतिक्रमण कर कालातीत हो जाता है। अनुभूति की परिपक्व स्थिति भोगे गये यथार्थ और

देखे गये यथार्थ दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं प्रतिस्थापित करती । अतः दोनों की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति हुई है, और उसी सर्जनात्मकता के साथ सम्प्रेषित भी । कर्तव्य की ओर ध्यान आकर्षित करने में एक तरफ उद्देश्यहीन व्यक्तियों की कड़ी आलोचना की गई है, तो दूसरी तरफ उद्देश्य सिद्धि के लिए इतिहास की सहायता । यहाँ रचनाकार प्रसाद के विचार से प्रभावित है ।

` हम भोगते हैं, रचना नहीं करते - - - इतिहास साक्षी है— जिनके हाथ में ताकत है, वहाँ विचार नहीं । हर वक्त कपड़े बदलते रहते हैं - - - ` ३८

रचनाकार के अन्तर्मन में व्याप्त कसक की गूँज बराबर प्रतिच्छाया के समान रहती है— नैतिक - अनैतिक, पुण्य - पाप, शोषण — में से जिनके द्वारा समकालीन समाज का रूप कुरूप होता जा रहा है और जिनके द्वारा व्यक्ति अधिक परेशान हो रहा है उन्हें क्यों निष्क्रिय भाव से भोगता जा रहा है ? यह भोगने की स्थिति विशेष चिन्ता का कारण बन जाती है । समस्या भोगने की नहीं रचना करने की है । जिनके हाथों में अनैतिक साधनों से प्राप्त की गई ताकत है उनको विचार बदलने की क्या आवश्यकता ? उनकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति शोषण द्वारा होती है, किन्तु जिनके पास इस तरह का साधन नहीं है वैचारिक स्वतन्त्रता तो है, ऐसी शक्ति उससे कहीं अधिक सशक्त है जो दूसरे को दुखी करके संतुष्ट हो लेते हैं ऐसी शक्ति पुरुषार्थ नहीं ।

` व्यक्तिगत ` के अन्त में कुछ अशेष रह जाता है— ` ऊसर ` और ` ताँबे के कीड़े ` ` आधे अधूरे ` के अन्त की तरह । यह अन्त आज की सामाजिक विसंगतियों के कीचड़ में फँसे मानव का प्रतिबिम्ब है—

> ` ( वह बाहर निकल जाती है । मैं अपना सामान बटोरने लगता है । सामान के साथ चक्कर में फर्श पर गिर पड़ता है । उठना चाहता है । सामान के बोझ से खड़ा नहीं हो पा रहा है । वह की पुकार आती है ) ` ३९

` व्यक्तिगत ` नाटक के हर क्षेत्र में प्रयोग की नई दिशा की तीव्र झलक है— चाहे वह भाषिक क्षेत्र हो या कि शिल्प का क्षेत्र । नयेपन की ओर जाने

की अभिलाषा मात्र अभिलाषा बनकर नहीं रह गई है, बल्कि उसका सर्जनात्मक प्रयोग है। वैसे में रूढ़ियों का सहारा लेना पड़ा है तो भी रचनाकार को स्वीकार्य है। डा० रीता कुमार का विचार सटीक है—

" रंगमंच की दृष्टि से भी इस नवोन्मेष ने यथार्थवाद के सीमित और उपकरणाश्रित मंच के विरोध में सांकेतिक, कल्पनापूर्ण और प्रतीकात्मक मंच पर बल दिया, जिसके लिए संस्कृत की प्राचीन परम्परा के पुनरान्वेषण के साथ - साथ संगीत व ध्वनि सम्बन्धी नवीन प्रयोग भी प्रारम्भ किये।" ४० आधुनिक नाटककारों की एक लम्बी भीड़ में डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल विलीन नहीं हुए हैं, बल्कि उनकी अपनी एक विशेष मुद्रा है—

डॉ० मदान के विचार में इस तरह लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक सनातन, चिरन्तन, शाश्वत के बोध में भारतीय आधुनिकता के बोध को आंकते हैं और पाश्चात्य आधुनिकता से न केवल परहेज करते हैं, उसका विरोध करते हैं और उसमें अपनी मौलिकता को खोज निकालते हैं।" ४१

मोहन राकेश, विपिन कुमार अग्रवाल की तरह लक्ष्मी नारायण लाल के अन्तर्मन पर आधुनिक विसंगतियों की चोट है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति शैली विशेष है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन इस स्थिति को विश्वसनीय बनाता है—

" नवलेखन के साथ लक्ष्मी नारायण लाल बराबर नाटक के क्षेत्र में काम करते रहे हैं, और उनकी कई कृतियाँ शब्द के सच्चे अर्थ में नाटक बन सकी हैं। उनके नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से कुछ प्रयोग किये गये हैं।" ४२

तीव्र अनुभूति और गहरी संवेदना में प्रवेश कर नाटककार बाहर के अन्धकार को— जिसकी निष्पत्ति स्वार्थ और अहं भाव की वृद्धि से हुई है— भावव्यंजक रूप में मूर्त करता है। स्वार्थ और अहं की टकराहट सम्पूर्ण संकट का कारण बनती है। अंधकार केवल समाज को नहीं, बल्कि व्यक्ति की दृष्टि को भी अन्धकार में रखता है। अतः उन्हीं के शब्दों में—

‘मैं : बड़ा अन्धकार है। बड़ी गंदगी है।

वह : वहाँ हमारा मैं है।

मैं : नहीं - नहीं, बेहद खतरनाक है।

वह : वहीं है व्यभिचार।’ ४३

।। स न्द र्भ ।।

१- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य चार : पृष्ठ - ३०

२- - वही - दृश्य आठ : पृष्ठ - ४७

३- एम० के० रैना : व्यक्तिगत की भूमिका : पृष्ठ - ७

४- गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना : पृष्ठ - १५०

५- डॉ० गिरीश कुमार माथुर : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : पृष्ठ - ६२१

६- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य चार : पृष्ठ - २८

७- - वही - दृश्य आठ : पृष्ठ - ४७

८- - वही - दृश्य नौ : पृष्ठ - ६५

९- - वही - दृश्य पांच : पृष्ठ - ३५

१०- सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय : नया प्रतीक : नवम्बर-दिसम्बर १९७८ : पृष्ठ - ६

११- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य चार : पृष्ठ - ३१

१२- - वही - दृश्य नौ : पृष्ठ - ६४

१३- सुभाष दशोत्तर : फैंटेसी यातना : पृष्ठ - ८

१४- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य सात : पृष्ठ - ४२

१५- नरनारायण राय : नाटककार लक्ष्मी नारायण लाल की नाट्य साधना : पृष्ठ - १२१

१६- गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना : पृष्ठ - १६०

१७- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य चार : पृष्ठ - २७

१८- - वही - दृश्य चार : पृष्ठ - ३१

१९- - वही - रंगमंच और नाटक की भूमिका : पृष्ठ - २७

२०- - वही - व्यक्तिगत : दृश्य आठ : पृष्ठ - ५६

२१- (लक्ष्मी नारायण लाल से साक्षात्कार) जयदेव तनेजा : समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : पृष्ठ - १५८

२२ - डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य छ: : पृष्ठ - ३७-३८

२३- (डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल से साक्षात्कार) जयदेव तनेजा : समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : पृष्ठ - १५८

२४- रेनेवेलेक : आस्टिन वारेन : साहित्य - सिद्धान्त (अनु० बी०एस० - पालीवाल) पृष्ठ - २६

२५- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य आठ ? पृष्ठ - ४७

२६- जयदेव तनेजा : समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : पृष्ठ - १५८

२७- डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य आठ : पृष्ठ - ६२

२८- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - ६६

२९- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य आठ : पृष्ठ - ६०

३०- - वही - दृश्य नौ : पृष्ठ - ६७ - ६८

३१- - वही - दृश्य नौ : पृष्ठ - ६६

३२- - वही - दृश्य आठ : पृष्ठ - ५२

३३- धर्मवीर भारती : अन्धायुग : पृष्ठ - ३१

३४- डॉ० रीता कुमार माथुर : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक (मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में : पृष्ठ - ६३

३५- - वही - पृष्ठ - ६३

३६- डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य सात : पृष्ठ - ४४

३७- - वही - दृश्य तीन : पृष्ठ - २५

३८- - वही - दृश्य नौ : पृष्ठ - ६७

३९- - वही - पृष्ठ - ७१

४०- डॉ० रीताकुमार माथुर : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : पृष्ठ - २१२

४१- इन्द्रनाथ मदान : आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य : पृष्ठ - २३४

४२- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ :पृष्ठ-१६

४३- डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल : व्यक्तिगत : दृश्य नौ : पृष्ठ - ७०

।। मोहन राकेश : आधे अधूरे ।।

` आधे अधूरे ` (सन् १९६९) में कुछ ऐसी विशिष्ट भाषिक विशेषताएँ हैं, जिसके आधार पर इसे समकालीन नाट्य साहित्य का प्रतिनिधि नाटक कहा जा सकता है। जीवन की विसंगतियाँ, रिश्तों की व्यर्थता और भावात्मक मूल्यों के खोखलेपन के मूल में स्वातन्त्र्योत्तर मध्यवर्ग की आर्थिक विषमता रही है। राकेश ने तीक्ष्ण आक्रोश के साथ इन विडम्बनाओं की निरर्थकता को आम आदमी की जुबान में व्यंजित किया है। उनमें मानवीय मूल्यों के विघटन का तीखा अहसास है। इस कारण नाटकीय परिस्थितियों में तीखापन, तल्खी और व्यंग्य है। ` आधे अधूरे ` में यथार्थ के नग्नरूप का दिग्दर्शन होता है और उसमें युग जीवन की परिस्थितियों को एक विशेष प्रकार की उत्तेजक भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

भाषा में शब्दों के प्रयोग का एक अनवरत क्रम चलता रहता है, जबकि रचनात्मक प्रक्रिया में ऐसा शब्द प्रयोग समय की गत्यात्मकता के साथ - साथ अर्थ की दृष्टि से चूकने लगता है। इन शब्दों को नये ढंग से सन्दर्भित करने पर ही भाषा में सर्जनात्मकता सम्भव हो पाती है, ठीक वैसे जैसे सिले हुए पुराने कपड़ों को उधेड़कर आधुनिक परिवेश के अनुसार नया रूप दिया जाता है। सामग्री पुरानी होने पर भी नयी हो जाती है। यही स्थिति भाषा की कही जा सकती है। उन्हीं शब्दों को रचनाकार अलग - अलग ढंग से प्रयुक्त करता है, और यह भाषा उसकी अपनी बनकर रह जाती है— जैसा कि राकेश की भाषा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है। भाषा के विषय में सर्वप्रथम उन्होंने अपने मन्तव्य को अभिव्यक्त कर दिया है— " मैं ` जानने ` की भाषा के बजाय निरन्तर ` जीने ` की भाषा की ओर जाना चाहता हूँ। "[१] जीवन की भाषा बोलचाल की सामान्य भाषा है, किन्तु इतने मात्र से रचनाकार की महत्ता कम नहीं होती। इसके विपरीत उससे सम्पृक्त होकर नाट्य भाषा की सर्जनात्मक क्षमता विकसित होती है। ` आधे अधूरे ` में बोलचाल की शब्दावली का प्रयोग निःसंकोच हुआ है, जिसके द्वारा उसकी स्वाभाविकता द्विगुणित होती है—

" लड़का : पूछ ले इससे। अभी बता देगी तुझे सब - - - जो सुरेखा को

बता रही थी बाहर ।

छोटी लड़की : (सुबकने के बीच) वह बता रही थी मुझे कि मैं उसे बता रही थी ?

लड़का : तू बता रही थी ।

छोटी लड़की : वह बता रही थी ।

लड़का : तू बता रही थी । अचानक मुझ पर नजर पड़ी कि मैं पीछे खड़ा सुन रहा हूँ, तो - - - ।

छोटी लड़की : सुरेखा भागी थी कि मैं भागी थी ?

लड़का : तू भागी थी ।

छोटी लड़की : सुरेखा भागी थी ।" [2]

रचनाकार की पैनी दृष्टि छोटे - छोटे पारिवारिक बिम्बों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर सकी है। यों तो इन पंक्तियों का अभाव नाटक में खटकता नहीं, किन्तु इसकी उपस्थिति से रचना की अपनी विशेष दृष्टि बनती है। "आधे अधूरे" मध्यवर्गीय परिवार के विघटन की मर्मस्पर्शी गाथा है, इसलिए परिवार में छोटी - छोटी बातें भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं। अप्रिय प्रसंग को अशोक द्वारा सुन लिये जाने पर भी किन्नी उसे छिपा लेने का असफल प्रयत्न कर रही है और अपने ऊपर लगाया गया आरोप सुरेखा पर थोप देना चाहती है। बच्चों का यह चित्र और वाग्चातुर्य स्वाभाविकता की दृष्टि से अद्वितीय है। "पूछ ले इससे। अभी बता देगी तुझे सब - - - जो सुरेखा को बता रही थी" वाक्य से प्रसंग की अप्रियता का अनुमान लग जाता है, जिसको बड़ी दीदी बिन्नी के समक्ष व्यक्त करने में अशोक झिझक महसूस कर रहा है। "सब" के बाद का अन्तराल हमारी कल्पना के लिए अवसर देता है और विषय की गम्भीरता का आभास कराता है। लड़का जब छोटी लड़की से विवाद करते - करते खीझ उठता है, तब "तू बता ———————— तो - - -" जैसी पंक्ति प्रमाण रूप में व्यक्त करता है। यह पंक्ति लड़के के कथन के प्रति विश्वास जागृत करने में अस्त्र का कार्य करती है। इन पंक्तियों के भीतर अर्थ का दूसरा उत्स भी प्रस्फुटित होता है कि कुछ विलम्ब भले हो जाय, किन्तु विजय सत्य की होती है। लड़की सीधे अपनी सफाई देने के बजाय लड़के पर प्रश्नों की

साक्षात्कार करने लगती है (`सुरेखा भागी थी कि मैं भागी थी`) जिसमें आत्मसुलभ चेतना का सौन्दर्य निखर उठता है।

राकेश ने अपनी नाट्यभाषा पूर्णतः साधारण बोलचाल की भाषा से ग्रहण की है। प्रसादोत्तर कालीन नाटककारों ने भी प्रसादकालीन भाषा से विद्रोह कर भाषा को सामान्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने की कोशिश की थी, परन्तु उनकी भाषा अभिधात्मक अर्थ अथवा भावावेश को व्यक्त करने में ही सक्षम थी। व्यंजना की शक्ति या तो उनकी भाषा में लगभग नहीं के बराबर है, या प्रसाद की भाषा से संस्कार रूप में प्राप्त है। राकेश ने सर्वप्रथम भाषा को सामान्य स्तर से उठाकर विशिष्टता प्रदान की। `आधे अधूरे` में भाषा को साधारण, अनगढ़ और लोक प्रयोग के स्तर से संश्लिष्ट कर युगबोध की जटिल और सूक्ष्म संवेदना को व्यंजित किया गया और यही रचनाकार की विशिष्टता है। साधारण या बोलचाल की शब्दावली में अनुभव की समग्रता का बोध देना अपने आप में बहुत बड़ी चुनौती है, परन्तु इसके बिना नाटक को आधुनिक संवेदनाओं और जटिल अनुभवों की अभिव्यक्ति का वाहक भी नहीं बनाया जा सकता। नाटककार ने व्यंग्य तथा व्यंग्य विपर्यय का अधिक तीखा और व्यंजक प्रयोग किया है, जिससे यथार्थ का अनावृत साक्षात्कार हुआ है और युग के प्रति दायित्व का निर्वाह भी।

`स्त्री : सचमुच तुम अपना घर समझते इसे, तो - - - ।

पुरुष एक : कह दो, कह दो, जो कहना चाहती हो।

स्त्री : दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे - - - जो कहना चाहती हूँ।

पुरुष एक : कह दो अब भी - - - इससे पहले कि दस साल ग्यारह साल हो जायें।

स्त्री : नहीं होने पायेंगे ग्यारह साल - - - इसी तरह चलता रहा सब कुछ तो।

पुरुष एक : (एकटक उसे देखना, काट के साथ) नहीं होने पायेंगे सचमुच ? - - - काफी अच्छा आदमी है जगमोहन। और फिर से दिल्ली में उसका ट्रांसफ़र भी हो गया है। मिला था उस दिन कनॉट प्लेस में। कह रहा

आ गया किसी दिन मिलने ।

बड़ी लड़की : (धीरज खोकर) डैडी । [3]

' तो ' के बाद के अन्तराल में बहुत कुछ अनकहा अर्थ गूँज उठता है । पुरुष एक (महेन्द्रनाथ) के अधिकारों के प्रति स्त्री (सावित्री) की दृष्टि शंकित है और ' सचमुच तुम अपना घर समझते रहे, तो ' से उसकी निराशा और भी स्पष्ट हो उठती है । इस परिवार के प्रति पुरुष एक का क्या अधिकार और कर्तव्य है यह उसने कभी महसूस नहीं किया । यदि कर्तव्य के प्रति वह वफ़ादार रहा होता तो आज परिवार का अलग विकसित रूप परिलक्षित होता । ' कह दो, कह दो, जो कहना चाहती हो ' वाक्य में पुरुष का आग्रह है, जिससे उसके प्रति कुछ सहानुभूति हो उठती है । यों तो पुरुष सावित्री के वक्तव्य को समझ रहा है, किन्तु समझकर भी वह स्पष्ट रूप में सुनना चाहता है, ताकि वह भी अंतर्मन में स्थापित घाव के दर्द को कम कर सके । ' दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे - - - जो कहना चाहती हूँ ' में पारिवारिक तनाव के लम्बे समय का अहसास होता है । चूँकि दस वर्ष पहले नहीं कहा, इसलिए आज भी नहीं कहना चाहती । वह इस आशा में अपनी जिन्दगी घसीटती रही है कि शायद कुछ पारिवारिक स्थिति सुधर जाय । इस कथन में एक मनोवैज्ञानिक बिम्ब है कि सावित्री कर्म से आधुनिक बनना चाहती है, किन्तु उसमें समाज से चुनौती लेने का साहस नहीं है । यही कारण है कि दस वर्ष पहले उसने अपनी मनःस्थिति को व्यंजित नहीं किया । ' नहीं होने पायेंगे ग्यारह साल - - - ' में दस वर्ष के लम्बे अन्तराल में सावित्री अपनी स्थिति को निर्णयात्मक मोड़ पर ले जाने का साहस कर रही है । इतनी तीव्र लय से कहने के बाद भी सावित्री की स्थिति अनिश्चित है । उसने (सावित्री ने) यह व्यंजित किया है कि विकल्प मिल गया है, घर के दमघोंट वातावरण से विलग होने के लिए । ' इसी तरह चलता रहा सब कुछ तो ' वाक्य में वह पुरुष को अब भी सुअवसर देती है, पारिवारिक उत्तरदायित्वों को ओढ़ लेने का । यदि पुरुष ऐसा नहीं करता तो वह भी अपनी चुनौती को वापस नहीं ले सकती (नहीं - - - - साल) । सावित्री द्वारा सम्प्रेषित अर्थ को महेन्द्रनाथ अपलक दृष्टि से आत्मसात् करता है, और दूसरे क्षण धीमी लय में पलट कर प्रत्युत्तर देता है (काफी - - -

- - - - मिलने)। महेन्द्रनाथ का यह कथन सावित्री की वास्तविक स्थिति को उधेड़कर रख देता है। महेन्द्र के अनुत्तरदायी होने के चोट को जितना सावित्री सहन करती है, उतना ही महेन्द्रनाथ सावित्री और कामोज्ज के (समाज वर्जित) सम्बन्ध के दर्द को पीता है। दोनों एक दूसरे को शब्दों द्वारा घात - प्रतिघात करके कुछ क्षण के लिए हल्के हो लेते हैं। यदि सावित्री अपनी नियति समझकर महेन्द्र को झेलती, तो उसके प्रति पाठकों के साथ - साथ महेन्द्र की भी सहानुभूति होती, किन्तु उसने भी महेन्द्र को कुछ कम हार्दिक कष्ट नहीं दिया। इसलिए दोनों की सहानुभूति एक दूसरे के प्रति नहीं है। यह मनोवैज्ञानिक स्थिति है। पति - पत्नी के बीच का तनाव आन्तरिक अधूरेपन का है, जिसके भागीदार बच्चे बनते हैं। ऐसे वातावरण में बच्चों का विकास अवरुद्ध हो गया है। बड़ी लड़की तीव्र आवेश में " डैडी " कहकर ऐसे परिवार के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती है। विशिष्ट प्रभाव संचरण के रूप में यह एक सांकेतिक बिम्ब है। " ट्रांसफ़र " अंग्रेजी शब्द है, जिसका प्रयोग आधुनिक नाटककारों ने बड़े उत्साह के साथ किया है। रचनाकार ने युग के विशिष्ट प्रभाव को सहज ढंग से आत्मसात् किया है। यह उसकी विशेषता है।

प्रसाद और माथुर की तत्सम शब्दावली और कवित्वमय भाषा को त्यागकर राकेश ने सर्जनात्मक भाषा की आवश्यकता को समझकर बोलचाल की सरल से सरल शब्दावली का भी परित्याग नहीं किया। व्यक्ति के मानसिक तनाव और अधूरेपन को व्यक्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था। ऐसे भाषा विधान में सर्जनात्मक अर्थ का स्खलन कहीं भी परिलक्षित नहीं होता। जुनेजा के संवाद में अर्थ के प्रवाह को देखा जा सकता है।

" बिलकुल मानता हूँ। इसीलिए कहता हूँ कि अपनी आज की हालत के लिए जिम्मेदार महेन्द्रनाथ खुद है। अगर ऐसा न होता, तो आज सुबह से ही रिरियाकर मुझसे न कह रहा होता कि जैसे भी हो, मैं इससे बात करके इसे समझाऊँ। मैं इस वक्त यहाँ न आया होता, तो पता है क्या होता ?" [4]

उद्धृत पंक्तियों में मध्यमवर्गीय जीवन का कारुणिक अंकन हुआ है और रचनाकार की चिन्ता ऐसे जीवन के प्रति कम नहीं है। इस दृष्टि से रचनात्मक

दायित्व का सफल निर्वाह हुआ है। मध्यमवर्गीय समाज अपने द्वारा बिछाये गये काँटे के जाल में इस कदर भटक रहा है कि, उसका इस जाल से निकलना लगभग असम्भव सा है। जाल से निकलना आखिर नामुमकिन है, क्योंकि वह अपनी जीवन की गाड़ी घसीटने के लिए किसी दूसरे पर आश्रित है। सावित्री की नौकरी पर निर्भर रहते हुए महेन्द्रनाथ की स्थिति अत्यधिक दयनीय है। किसी समय वह स्वयं को इस परिवार का हकदार समझता था, किन्तु आज उसी परिवार में उसका आत्मसम्मान कुचला जाता है। आत्म-सम्मान के कुचलने के विद्रोह में महेन्द्रनाथ " शुक्र शनीचर " घर से भाग भर जाता है, लेकिन कुछ घण्टे बाद वहीं आने के लिए बेताब हो जाता है— घायल के समान—क्योंकि यही उसकी स्थिति है। डॉ० बच्चन सिंह के शब्दों में—" आषाढ़ का एक दिन और " लहरों के राजहंस " मानवीय नियति से बँधे हैं तो " आधे अधूरे " मानवीय स्थिति से। पर नियति और स्थिति को अलगाया नहीं जा सकता। स्थिति पहले है और नियति बाद में। स्थिति के प्रति व्यक्ति की अनुक्रियायें (रैसपांसेज़) नियति की ओर ले जाती हैं और नियति भी एक दूसरी स्थिति होती है।"[5] घर जाने के लिए महेन्द्रनाथ स्वयं साहस नहीं कर पाता। इसका माध्यम जुनेजा को बनाता है—" रिरियाकर "। जिसका कोई आत्म सम्मान नहीं होता वह रचनाकार के शब्दों में " रिरिया " सकता है। साहस के साथ कह तो सकता नहीं। " पहले दोनों नाटकों की स्थितियाँ नायकों को घर से लौट जाने के लिए बाध्य करती हैं जबकि " आधे अधूरे " में नायक अपनी समस्त विवशताओं में घर को वापस लौटता है। यह वापसी आधुनिक जीवन बोध की विसंगतियों (ऐब्सर्डिटी) को, उनके अभिशापों को बुरी तरह उजागर करती है। इसलिए इसका तनाव पूर्ववर्ती दोनों नाटकों के तनावों से कहीं ज्यादा जटिल, वास्तविक, स्थितिपरक (सिचुएशनल) विश्वसनीय और प्रामाणिक है।"[6]

व्यक्तित्व की स्वायत्तता के लिए आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना परम आवश्यक है। समकालीन जीवन की विसंगतियों से उबरने के लिए व्यक्तित्व की स्वाधीनता को बनाये रखना सबसे बड़ी उपलब्धि है। (आर्थिक दृष्टि से) आत्मनिर्भर व्यक्ति का व्यक्तित्व मूलतः स्वाधीन होगा, और स्वाधीन होकर ही वह अपने दायित्व का वहन कर सकता है। परतन्त्र व्यक्तित्व के कारण

" पहला राजा " का नायक " पृथु " पराजित हुआ । अतः समाज में किसी भी अधिकार के लिए यदि संघर्ष करना है, तो अग्रगामी व्यक्तित्व का स्वायत्त होना आवश्यक है । इस प्रकार की सार्थक चिन्ता राकेश के कृतित्व में उपलब्ध होती है ।

समकालीन परिवेश में सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तित होने की रफ्तार बहुत तेज है । मानवीय मूल्यों का स्खलन उसकी निश्चितता के प्रति व्यापक भ्रम उत्पन्न करता है । धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक विषयों में किसी की विशेष रुचि नहीं रह गई है । सब कैसे - कैसे चल रहा है । सामाजिक बिखराव, पारिवारिक सम्बन्धों का टूटना एक ऐसी समस्या है, जिससे संघर्ष तीव्र गति से पनप रहा है । इन संघर्षों को व्यक्त करने के लिए राकेश ने सशक्त भाषा की खोज की और इस सन्दर्भ में उनकी अवधारणा— " मनुष्य तो मूलतः मनुष्य ही रहता है, पर अपने परिवेश से ताल मेल बैठाने का उसका प्रयास आज कष्टकारी अनुभव बन गया है । आज एक दबाव और तनाव निरन्तर मौजूद रहता है, जिसे अभिव्यक्त करना जरूरी है । द्वन्द्व की इस स्थिति का उद्घाटन करने वाली भाषा को स्वयं भी उसके प्रतिरूप ढलना होगा । " ७ " आधे अधूरे " में मध्यमवर्गीय समाज की विसंगतियों के चित्रण के साथ - साथ उसी के अनुरूप संघर्ष की मध्यस्थ स्थिति का दिग्दर्शन होता है । यहाँ तनाव और संघर्ष को प्रस्तुत करने के लिए तीक्ष्ण भाषा का प्रयोग किया गया है । संघर्ष की तीखी परिणति असन्तोष, खीज, झल्लाहट, आक्रोश को व्यंजित करने के लिए एक सार्थक भाषा की इसमें तलाश है । रचनाकार की अनुभूति की परिपक्वता संघर्ष के सतही होने का बोध नहीं कराती । सभी पात्र संघर्ष के दोहरे रूप को उद्घाटित करते हैं, जिसका श्रेय उसकी सक्षम भाषा को है । स्त्री और पुरुष एक का आपसी संघर्ष बिखरते रिश्तों के बावजूद साथ - साथ रहने और सामाजिक सम्बन्धों को जबर्दस्ती ढोने का है । आपसी आकर्षण उनमें नाम मात्र को नहीं है, इसी कारण उनकी स्वाभाविकता भी विलुप्त हो गई है । साधारण सी बात भी तीखी बनकर अन्दर तक चोट कर जाती है और उससे बहुस्तरात्मक अर्थ प्रतिध्वनित होता है—

" पुरुष एक : (गुस्से से उठता) तुम तो ऐसी बात करती हो जैसे— ।
स्त्री : खड़े क्यों हो गये ?

पुरुष एक : क्यों, मैं खड़ा नहीं हो सकता ?

स्त्री : (हल्का वक्फ़ा लेकर तिरस्कारपूर्ण स्वर में) हो तो सकते हो, पर घर के अन्दर ही । ' ८

' खड़ा होना ' साधारण सी क्रिया है, किन्तु नाटकीय प्रयोग और लय की संप्रेषणात्मक स्थिति अर्थ सम्पदा को सम्पन्न करती है। ' खड़े होने ' का तात्पर्य इस सन्दर्भ में आत्मनिर्भर होने से है। डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भाषा की इस प्रक्रिया को गहराई से पहचाना है— ' यहाँ शब्द स्वयं क्रिया का कार्य करते हैं और क्रिया की भाषा भी ढालते चलते हैं। अर्थात् भाषा और क्रिया का नियोजन, आन्तरिक गठन पहली बार मोहन राकेश में मिलता है। ' ६ पुरुष एक में हीनभावना की ग्रन्थि है, जो समय मिलते पर फूट पड़ती है। यही मूल कारण है कि सावित्री के अकथित रुख को आत्मसात् करने में रंचमात्र समय नहीं लगता। सबसे बड़ी बात है भाषा और हरकत की अद्वैत स्थिति का होना। इस संवाद में महेन्द्रनाथ के कुर्सी से खड़े होने की प्रक्रिया नहीं होती तो अर्थ अधूरा होता और अर्थ की व्यंजनात्मकता को निष्पन्न नहीं कर पाती। अतः भाषा और हरकत की सन्तुलित स्थिति अर्थ सम्प्रेषण में सक्षम है। अन्तिम वाक्य में विरोधात्मक स्थिति है, जिसमें संघर्ष साकार हो उठता है।

पारिवारिक रिश्तों को अनुपयोगी वस्तु सदृश ढोते हुए एक ऐसी स्थिति आती है, जब पात्र स्वयं को असमर्थ महसूस करने लगता है। ऊब की सघन अनुभूति में नाटकीय तनाव पर्याप्त सूक्ष्मता और गहनता से प्रस्तुत होता है, जिसमें भाषा अपना महत्त्वपूर्ण कर्तव्य अदा करती है। ' आधे अधूरे ' के पात्र ऊब की मनःस्थिति में ' स्कन्दगुप्त ' के ' स्कन्द, ' ' अजातशत्रु ' के ' बिम्बसार ' की तरह दार्शनिक या ' पहला राजा ' के ' पृथु ' की तरह दार्शनिक होकर लम्बे - लम्बे दार्शनिक वाक्यों का प्रयोग नहीं करते, बल्कि अपने समकक्ष व्यक्ति को श्रोता बनाकर बोलचाल की शब्दावली में मन की भड़ास निकालते हैं। प्रसाद की नाट्य भाषा की उपयोगिता समकालीन सन्दर्भ में उतनी नहीं है, जितनी राकेश की नाट्य भाषा की। अतः राकेश ने आज के सन्दर्भ में भाषा की आवश्यकता को महसूस किया और केवल महसूस

ही नहीं किया, बल्कि कार्य रूप में किया। मध्यमवर्गीय परिवार में संघर्ष पति, पत्नी के बीच तो है ही, साथ - साथ उनके अन्दर कई स्तरों पर भिन्न - भिन्न अन्तर्द्वन्द्व हैं। पुरुष के अन्तर्द्वन्द्व को रचनाकार ने सशक्त भाषा में साकार किया है——

" सचमुच महसूस करता हूँ। मुझे पता है मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अन्दर-ही-अन्दर इस घर को खा लिया है। (बाहर के दरवाजे की तरफ चलता) पर अब पेट भर गया है मेरा। हमेशा के लिए भर गया है।" १०

ऐसे परिवार में जीना अत्यधिक दुष्कर है, तो उससे उबरने का कोई विकल्प नहीं। प्रश्न अस्मिता की सार्थक स्वीकृति का है। यदि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के उन पक्षों को पहचान ले, जो सार्थकता का भाव देकर, स्वावलम्बी बना सकें तो बहुत हद तक समस्या का समाधान हो सकता है।

स्त्री पारिवारिक जिम्मेदारियों को जिस किसी तरह निभाती हुई घर के प्रत्येक सदस्यों को बात - बात में इसका अहसास कराती है और किसी तरफ से सहानुभूति नहीं पाती तब स्वनिर्मित दायरे में छटपटाती है। छटपटाहट परिवार के अन्दर ही नहीं रहती, बल्कि स्त्री को घर से बाहर जाने के लिए विवश करती है——

" मेरे पास अब बहुत साल नहीं हैं जीने को। पर जितने हैं, उन्हें मैं इसी तरह और निभाते हुए नहीं काटूँगी। मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इस घर का, हो चुका आज तक। मेरी तरफ़ से अब यह अन्त है उसका - - -। निश्चित अन्त।" ११

आज व्यक्ति को अपने आप पर कब अविश्वास हो जायेगा इसका सहज अन्दाज सावित्री और महेन्द्रनाथ के संवादों द्वारा लगाया जा सकता है। किन्हीं विशेष स्थितियों में सावित्री अपने चुनाव के प्रति सन्तुष्ट है, किन्तु कुछ समय बाद एक ऐसी परिस्थिति आती है, जब उसे आत्मविश्वास के साथ किये गये कार्य के खोखलेपन का आभास होता है। प्रेम हमेशा से जितना अनिश्चित था, उतना ही उससे निष्पन्न

होने वाले सम्बन्ध निश्चित थे। कृष्ण और गोपियों का प्रेम, पद्मावती और रत्नसेन का प्रेम इसका सटीक उदाहरण है। समकालीन सन्दर्भ में दोनों अनिश्चित हैं, प्रेम भी और उससे उद्भूत रिश्ते भी। यह अनिश्चितता, यह नियतिहीनता आज के व्यक्ति की एक नयी विवशता है और यह विवशता ही परतन्त्रता है। यह परतन्त्रता शायद आवश्यक है, मानव में मानवीय मूल्यों के संचार के लिए। बाह्य रूप से व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वाधीनता की परिणति नयी पराधीनता है।

स्त्री और पुरुष दोनों की स्थिति उछाले हुए गेंद के समान है, जो उछलने के बाद तो कुछ दूर बड़े उत्साह से जाता है, किन्तु फिर हतोत्साहित भाव से रेंगकर उसी स्थान पर आ जाता है। दोनों उसी दमघोंटू परिवेश में जीने के लिए अभिशप्त हैं। अपनी अस्मिता की स्वीकृति के लिए सभी पात्र छटपटा रहे हैं। चूँकि पति से स्त्री को सुरक्षा मिलती है, इसलिए वह अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता की तलाश पति में ही करती है, उसकी सम्पूर्ण आशा वहीं केन्द्रित रहती है। यह भारतीय परम्परा है, संस्कृति है। 'आधे अधूरे' की सावित्री की दृष्टि भी पारम्परिक है, जबकि महेन्द्रनाथ को पत्नी द्वारा सुरक्षा मिलती है। सावित्री की आशाओं की परितुष्टि नहीं होती, तो संघर्ष अपनी चरम सीमा पर होता है। इस संघर्ष का रूप इस भाषा में व्यंजित होता है— 'मत कहिये मुझे महेन्द्र की पत्नी'[12] सावित्री का पूरा आवेश उसकी भाषा में छिपा है।

जब अपनी आकांक्षाओं की पूर्णता की तलाश सभी पुरुष पात्रों में करके पराजित हो जाती है, तब उसे लोग एक से नजर आने लगते हैं— 'सब-के-सब - - - एक - से। बिल्कुल एक - से हैं आप लोग। अलग - अलग मुखौटे, पर चेहरा ? — चेहरा सबका एक ही।'[13]

सावित्री अपने अधूरेपन को पूर्णता में ले रही है, जबकि दूसरे को अधूरा समझ रही है। किसी एक व्यक्ति में उसे एक बड़ी चीज़ दिखाई देती है। किसी के पास बड़ी तनख़ाह है, तो किसी के पास नाम है और तीसरे के पास रुतबा है। ऐसे में सावित्री के लिए चीज प्रमुख है और आदमी गौण। पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन और पुरुष चार का प्रयोग नाटक में रचनाकार ने इसी वजह से किया

है। सावित्री के मन में किसी के प्रति रंच मात्र आकर्षण है तो चीज पहले है और आदमी बाद में। जब किसी आदमी में उसकी एक भी आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती तो सभी एक से अर्थात् अधूरे प्रतीत होते हैं। स्वयं को स्वीकार करते हुए दूसरे को स्वीकार न कर पाने की स्थिति सबसे बड़ी विडम्बना है। सावित्री जैसे-जैसे अपने को स्वीकार करती जाती है, वैसे - वैसे दूसरे को स्वीकार करने में स्वयं को असमर्थ पाती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि दूसरे को वह न तो पूर्णरूप से स्वीकार कर पाती है, न अस्वीकार। इस स्वीकार और अस्वीकार के बीच उसकी अस्तित्वगत छटपटाहट है, जो सावित्री की तो है ही, साथ - साथ आधुनिक समाज के सभी स्त्री - पुरुष की की है।

बड़ा लड़का अशोक और बड़ी लड़की बिन्नी दोनों पिता और माता की सत्य प्रतिलिपि हैं। सहानुभूति भी दोनों की अपनी - अपने पक्ष वालों की तरफ है। 'आधे अधूरे' में पात्रों के आपसी संघर्ष, गहरे तनाव को प्रस्तुत करने के साथ-साथ एक दूसरे के निर्णय को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है। ऐसे स्वाभाविक संघर्ष को चित्रित करने के बाद डॉ० शीलाकुमार की दृष्टि इस सन्दर्भ में सन्देहास्पद प्रतीत होने लगती है—' निष्कर्षत: कहा जा सकता है, कि युग-जीवन का प्रतिनिधित्व करने पर इस नाटक के पात्रों में गति का अभाव है। सम्पूर्ण नाटक में परिस्थितियों की विषमता और संघर्षों के प्रति उनका आत्मसंघर्ष तनाव तथा आक्रोश केवल शब्दों तक सीमित है। संघर्षों से उलझने तथा मुक्त होने की कर्मण्यता किसी पात्र में लक्षित नहीं होती।' १४ रचनाकार की सर्जना सक्षम भाषा में होती है। भाषा से वह सभी कार्य करता है। यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर भाषा अस्त्र का कार्य भी करती है, यह नाटक इसका सशक्त प्रमाण है। इतना बड़ा संघर्ष यदि सर्जनात्मक भाषा में साकार किया जा सकता है तो यह रचनाकार की सबसे बड़ी उपलब्धि है। सर्जनात्मक भाषा द्वारा जो मर्मान्तक चोट की गई है वह किसी अस्त्र के वार से कम नहीं है—

' लड़का : तू फिर भी कर रही है बात?

स्त्री : क्यों कर रही है बात तू उससे? कोई जरूरत नहीं किसी से भी बात करने की। आज वक्त आ गया है जब खुद ही मुझे अपने लिए कोई - न-

कोई फ़ैसला - - - ।

लड़का : जरूर कर लेना चाहिए ।

बड़ी लड़की : क्योंक ।

लड़का : मैं कहना नहीं चाहता था, लेकिन - - - ।

बड़ी लड़की : तो कह क्यों रहा है ?

लड़का : कहना पड़ रहा है क्योंकि - - - । जब नहीं निभता इनसे यह सब, तो क्यों निभाये जाती है इसे ? " १५

अत्याधिक उग्र मनःस्थिति में भी पात्र संयम बरतते हैं, जो उनकी प्रकृति के अनुकूल है । लड़का सर्वप्रथम अपने आक्रोश को पी जाने की कोशिश करता है, किन्तु जब उसे अपने को व्यक्त करने के लिए विवश किया जाता है, तो वह कटु सत्य को दृढ़ विश्वास के साथ कहता है । शब्दों के साथ - साथ लय की तीव्रगामी स्थिति सम्पूर्ण परिवेश को व्याप्त करती है । " तू फिर कर रही है बात " जितने तीव्र लय से कहा गया है, उससे अधिक तीव्र लय " क्यों कर रही है बात तू इससे " में है । लड़का सिर्फ उत्तेजित नहीं होता जाता, बल्कि उसकी अवधारणा सही बिन्दु का स्पर्श करती है और ऐसे में यह कहकर— " जब नहीं निभता इनसे यह सब, तो क्यों निभाये जाती है इसे "— दूसरे को परास्त कर देता है । निर्णायक संघर्ष ऐतिहासिक गति और भविष्य के लिए है, जिसके कारण नाटकीय परिप्रेक्ष्य सशक्त बनता है । इस सन्दर्भ में गोविन्द चातक का विचार स्मरणीय है— " प्रयोग के स्तर पर मोहन राकेश ने अपने नाटकों में नवीन संवेदना के अनुरूप भाषा का सर्जनात्मक संस्कार किया है । यह समकालीन संवेदना से सीधे साक्षात्कार करने वाली भाषा है, जो पूर्ववर्ती भाषा के बने - बनाये ढाँचे को तोड़कर उभरी है । यह भाषा मूलतः द्वन्द्व और तनाव की भाषा है जिसमें रोमानी स्थिर स्थितियाँ नहीं, गतिशील जीवन की टकराहट है । " १६

" आधे अधूरे " में मौन का मुखर रूप अधिक सशक्त है । इसके द्वारा नाटक भाषिक कसौटी पर खरा उतरता है । वाक्यों के बीच आने वाले मौन से पात्रों के द्वन्द्व, विसंगतियों एवं वातावरण के तनाव को व्यक्त किया गया है । " शब्दों के बीच आने वाले अधूरेपन, अन्तराल और मौन से उन्होंने पात्रों के द्वन्द्व, परिस्थितियों

की विसंगतियों और वातावरण के तनाव को मंच पर मूर्त करने के सफल प्रयोग किये हैं। मौन द्वारा पात्रों की मन:स्थिति की मुखर प्रवृत्ति नाटक में किसी विशेष स्थान पर नहीं, बल्कि सर्वत्र व्याप्त है। "कहना पड़ रहा है क्योंकि - - -" में "क्योंकि" के बाद जो मौन है उसमें अशोक की प्रतिक्रियात्मक मन:स्थिति की कई परतें सन्निहित हैं। किसी भी जिम्मेदारी को भार रूप में घसीटकर और व्यर्थ के एहसान जताने से अच्छा है कि व्यक्ति किसी खास निर्णय पर पहुँच जाय। "क्यों नहीं छोड़कर चली जाती की जगह पर" जब नहीं निभता उनसे यह सब तो ये क्यों निभाये जाती हैं इसे।" अशोक के संयमी और सभ्य प्रकृति के अनुकूल है।

वर्तमान काल में मानव जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है, उनके सम्बन्ध में भविष्य के प्रति कुछ आशाजनक सम्भावना व्यक्त नहीं की जा सकती। भाषा की स्थिति मानव से इतर नहीं है। सकारात्मक वाक्य की ओट में नकारात्मक भाव प्रक्षिप्त हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही "काले सूट वाला" के माध्यम से रचनाकार ने अपनी अवधारणा व्यक्त की है— "और जब मैं अपने ही सम्बन्ध में निश्चित नहीं हूँ, तो और किसी चीज़ के कारण - अकारण के सम्बन्ध में निश्चित कैसे हो सकता हूँ।" १८ ऐसे भावों की व्यंजना जिन वाक्यों में की गई है, उनमें अनुस्यूत अर्थ अवसरानुकूल हैं। अर्थों को विकसित करने की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अर्थ-परिवर्तित होता है। "वे कभी कुछ, कभी कुछ नहीं हो सकते। उनके कभी और कभी में बुद्धिगम्य वस्तुगत कारण होता है।" १९ इस सन्दर्भ में पुरुष एक और स्त्री के संवाद उद्धृत किये जा सकते हैं—

"पुरुष एक : (छिले हुए स्वर में) यह अच्छा है।

स्त्री : लोगों को तो ईर्ष्या है मुझसे, कि दो बार मेरे यहाँ आ चुका है। आज तीसरी बार आयेगा।

† † †

पुरुष एक : तो लोगों को भी पता है, वह आता है यहाँ ?

स्त्री : (एक तीखी नजर उस पर डालकर) क्यों, बुरी बात है ?

पुरुष एक : मैंने कहा है, बुरी बात है ? मैं तो बल्कि कहता हूँ, अच्छी बात है।" २०

स्त्री का बॉस सिंघानिया सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित इसलिए है कि वह एक अफ़सर है, और उसकी तनखाह पाँच हज़ार है। यही मुख्य कारण है कि स्त्री उसे आज तीसरी बार घर पर आने के लिए आमन्त्रित करके स्वयं को गौरवान्वित समझती है, सामाजिक दृष्टि में। यह बात जहाँ सामाजिक दृष्टि में प्रतिष्ठा का प्रश्न है, वहीं पारिवारिक जीवन में तनाव का विषय है। "तो लोगों को भी पता है, वह आता है यहाँ" वाक्य पुरुष द्वारा स्थिति की अस्वीकृति का सूचक है। "मैं तो बल्कि कहता हूँ, अच्छी बात है" में स्वीकार और अस्वीकार दोनों अर्थ व्यंजित हैं। शब्दों में स्वीकार के अर्थ की व्यंजना है, किन्तु लय अस्वीकार की स्थिति की है। दोनों अर्थ संश्लिष्ट हैं, जिनको अवसर के अनुकूल ग्रहण किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में निश्चितता और अनिश्चितता के किसी निश्चित धरातल पर नाटककार ने अपने मन्तव्य को प्रस्तावित नहीं किया है।

"आधे अधूरे" की भाषा में शब्द तो नये - नये अर्थ देता ही है, किन्तु संवादों के अन्तराल का अर्थ की दृष्टि से उपयोग हुआ है। ऐसी प्रक्रिया भाषा के सन्दर्भ में रचनाकार के तटस्थ व्यक्तित्व को प्रतिध्वनित करती है। पुरुष के संवाद "यह अच्छा है" और स्त्री के संवाद (लोगों - - - - आशा) के बीच जिन सशक्त अर्थों की निष्पत्ति होती है उस पर पर्दा डालकर स्त्री सिंघानिया की तारीफ़ करने लगती है। सिंघानिया के लिए की गई तारीफ़ के प्रति विश्वास पैदा करने के लिए लोगों की प्रतिक्रिया भी ज़ाहिर कर देती है। दोनों संवादों के बीच जो अर्थ उभरता है, वह यह है कि स्त्री सामाजिक प्रतिष्ठा के अतिरिक्त "और कुछ" चाहती है। यह और चाहना "अतिरिक्त आकांक्षा" है, जिसका लक्ष्य स्त्री की दृष्टि में अधिक है। अतिरिक्त आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह जिन दरवाज़ों पर दस्तक देती है, उनमें सिंघानिया भी है। परिवार को और पारिवारिक सदस्यों को बहाना बना लेने के बाद यह कार्य अधिक सुविधाजनक हो जाता है। उसके दस्तक देने में किसी प्रकार की बाधा आती है— चाहे वह पति, पुत्र, पुत्री द्वारा हो या उसके द्वारा दी गई दस्तक को अनसुना कर दिया जाना हो— तो मनोवेग उत्तेजित हो उठते हैं। "क्यों बुरी बात है" स्त्री के उत्तेजित मनोवेग का प्रतीक है, जिसका साक्षात्कार पति महेन्द्रनाथ को सतर्क होकर करना पड़ता है।

' आधे अधूरे ' में कुछ ऐसे संवादों का प्रयोग हुआ है, जहां शब्द और उसके अभिधेय अर्थ को नकारने या अनसुना करने की कोशिश की गई है। इसके मूल में दो कारण लक्षित होते हैं— श्रोता के अन्दर किसी विशेष स्थिति का संघर्ष है, जिसके कारण वह अभिधेय अर्थ को अनसुना कर जाता है, या चेतन रूप में अभिधेयार्थ का उत्तर देने से कतराता है। ऐसे भाषा - विधान में स्थिति की विसंगतियों की सफल अभिव्यंजना हुई है। भाषा को विभिन्न आयाम देकर राकेश ने भरसक एकरसता के आरोप से बचने का प्रयास किया है। इसके बावजूद यदि गोविन्द चातक द्वारा यह आरोप लगाया जाता है— " एक सी स्थितियों की व्यापकता के कारण पूरे नाटक की भाषा में एकरसता जरूर आ गई है, पर समकालीन जीवन की पकड़ में यह भाषा बड़ी तेज है।"[21] तो यह नाटक और नाटककार दोनों के पक्ष में नहीं है। ' आधे अधूरे ' की इस भाषिक कुशलता को जगदीश शर्मा ने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है— " पात्रों को मात्र सम्बन्धों में समेट देने के नाटककार के इरादे के विरुद्ध पात्रों के प्रखर व्यक्तित्वों ने संघर्षों को जिन विभिन्न स्तरों पर प्रतिष्ठित किया है, उनके अनुसार ही संवादों में भी वैविध्य उत्पन्न होता रहा है, इसका परिणाम यह हुआ है कि चरित्र, संघर्ष और संवाद का एकात्मक आयास ही नाटक की एक उपलब्धि बन गया है।"[22] सिंघानिया के संवाद इसके अन्तर्गत आते हैं, जो शब्दों के अभिधेय अर्थ का अतिक्रमण कर जाते हैं—

" पुरुष दो : हाँ हाँ - - - जरूर (बड़ी लड़की से) लो तुम भी (स्त्री से) बैठ जाओ अब।

स्त्री : (मोढ़े पर बैठती) उस विषय में सोचा आपने कुछ ?

पुरुष दो : (मुँह चलाता) किस विषय में ?

स्त्री : वह जो मैंने बात की थी आपसे - - - कि कोई ठीक - सी जगह हो आपकी नजर में, तो - - -।

पुरुष दो : बहुत ही स्वादिष्ट है।"[23]

स्त्री और पुरुष दो के संवादों में किसी प्रकार की तार्किक संगति नहीं है। स्त्री पुरुष दो (सिंघानिया) से लड़के की नौकरी के लिए कहती है, पर उसके

कहने और उसके समझने के बीच एक लम्बा अन्तराल है। दोनों की स्वार्थी मनोवृत्ति अपने - अपने दायरे में भ्रमर कर रही है और दोनों अपनी - अपनी मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिए व्याकुल हैं। 'वह - - - - - - तो - - -' के उत्तर में 'बहुत ही स्वादिष्ट है' वाक्य समकालीन स्थिति की विसंगतियों की क्रूरता को बहुत नाटकीय ढंग से सम्प्रेषित करता है। स्त्री और पुरुष दो परस्पर बातें करते हैं, पर जैसे अपने - अपने विचारों में लिप्त हैं। संवादों की अचानक शुरुआत और बीच में कटकर दूसरे रूप में मुड़ जाने की प्रवृत्ति एब्सर्ड नाटकों की भाषा से अनुप्राणित है।

'आधे अधूरे' में जिस परिवार की वास्तविकता का चित्रण किया गया है उसमें तनाव और संघर्ष ही नहीं है, बल्कि नृशंसतापूर्ण व्यवहार भी है, जिसमें मानव जीवन की कुरूपता झाँकने लगती है। संवादों में शब्दों की कसावट और क्षिप्रता त्रासदीय प्रभाव को रूपायित करती है। मानव जीवन कितना निर्मम हो सकता है इसका तीखा अहसास इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

'मैं वहाँ थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं घर में नहीं, चिड़ियाघर के एक पिंजरे में रहती हूँ वहाँ - - - आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या - क्या होता रहा है वहाँ। डैडी का चीख़ते हुए ममा के कपड़े तार - तार कर देना - - - उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना - - - खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर - - - (सिहरकर) मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने - कितने भयानक दृश्य देखे हैं उस घर में मैंने।' २४

ह्रासोन्मुख किन्तु शक्तिशाली सामाजिक आर्थिक मानवीय मूल्य व्यक्ति में सही और गलत के विवेक को समाप्त कर मनोवेगों को उत्तेजित करते हैं, यह चित्रण इन पंक्तियों द्वारा किया गया है। इसमें महेन्द्रनाथ के चरित्र का विश्लेषण है। संवाद लम्बा है, किन्तु प्रमाता ऊबता नहीं, बल्कि एक - एक वाक्य पढ़ने के बाद उत्सुकता बढ़ती जाती है, महेन्द्रनाथ की पूर्वस्थितियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की। 'डैडी - - - - - - जाकर - - -' में नाटक का त्रासद प्रभाव निहित

है, जिसका मुख्य लक्ष्य स्त्री के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना है। समकालीन जीवन की यह सबसे विषम स्थिति है, जिसमें व्यक्ति की परतन्त्रता स्वयं उसी के द्वारा बनायी गई है। सामाजिक मूल्यों की विकृति का एक प्रमुख कारण यह है कि पुरुष स्त्री के प्रति उदार और सहिष्णु नाम मात्र को नहीं है। 'मुझे कई बार लगता था कि मैं घर में नहीं, चिड़िया घर के एक पिंजरे में रहती हूँ' में पारिवारिक व्यक्तियों की पराधीनता का बिम्ब है। 'बयान' उर्दू शब्द है जो अर्थ की अन्तरधारा में अपने अस्तित्व को समाहित कर देता है। अतः पूरी पंक्तियाँ स्थिति की भयावहता को समग्र रूप में सम्प्रेषित करती हैं। "ये संवाद अपने कोण से बाहर, तेरह वर्षों की कहानी कहते हैं और अत्यन्त कलात्मक ढंग से। 'आधे अधूरे' के संवाद यह सिद्ध करते हैं कि मोहन राकेश नाटक को दृश्य के स्थान पर श्रव्य मानकर चलते थे, एवं समस्त वस्तु संरचना शब्द के माध्यम से ही करना चाहते थे।" २५

समकालीन परिप्रेक्ष्य में समस्याओं की निश्चित सीमा नहीं है, इसलिए आज के रचनाकार को उसके विभिन्न आयामों से साक्षात्कार करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में रचना - कर्म पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया है। यों तो प्रत्येक रचना अपने समय के परिवेश से प्रभावित होती है, किन्तु राकेश के पहले साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में अन्तर था। तत्कालीन नाट्यभाषा की तरह आज की नाट्यभाषा में कोमलकान्त पदावली, संस्कृत की तत्सम शब्दावली, अलंकरण और चमत्कार की प्रवृत्ति, रोमानी स्पर्श को अस्वीकार किया जा चुका है। इसका मुख्य कारण है कि यह भाषा जीवन की क्रूर वास्तविकता को अभिव्यंजित करने की दृष्टि से चूकने लगी थी। राकेश जी ने स्वयं आज के सन्दर्भ में प्रसाद की नाट्य भाषा के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त की — "यह एक ऐसी ऐन्द्रजालिक भाषा थी, जिसमें जीवन की जटिल और साहसिक अभिव्यक्ति सम्भव न थी। किशोर वय की भावुकता में तत्सम शब्दों के माध्यम से प्रौढ़ता का आभास देने का प्रयास कराने अथवा किसी मनःस्थिति के इर्द, गिर्द हैत्वाभासी दार्शनिकता का जाल बुनकर चमत्कार उत्पन्न करने तक ही इस भाषा की उपलब्धि मानी जा सकती है।" २६ अतः जटिल समस्याओं की परतों को उकेरने के लिए जिस संवेदनशील भाषा की आवश्यकता थी, उसका प्रयोग इस नाटक में राकेश ने किया।

" आधे अधूरे " की भाषा की सार्थकता ओम शिवपुरी के विचार में देखी जा सकती है— " कहना न होगा कि इस नाटक की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन— सब कुछ ऐसा है, जो बहुत सम्पूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है। " २७ आधुनिक नाटककार में जीवन की वास्तविकता को अधिक से अधिक और समग्र से समग्रतर अभिव्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा है। कुरूपता को भी रचनात्मक अभिव्यक्ति देना अपने आप में रचनात्मक चुनौती है, जिसे उसने सहर्ष चुना है।

व्यक्ति अपने आपको नितान्त अकेला महसूस कर रहा है और जीवन - यापन कर रहा है, इसलिए वह अपने निकटस्थ व्यक्तियों के अप्रिय प्रसंग को निर्ममता से उधेड़ने में चूकता नहीं है। महेन्द्रनाथ का यह संवाद इस स्थिति से भिन्न नहीं है, जिसमें भाषा का नया संस्कार हुआ है—

" बड़ी लड़की : कोई आने वाला है ?

† † †

पुरुष एक : सिंघानिया। उसका बॉस। वह नया आना शुरू हुआ है आजकल " २८

इन पंक्तियों में सांकेतिक बिम्ब है, जो यह ध्वनित करता है कि जीवन की विविधता की समग्र अनुभूति साधारण बोलचाल की शब्दावली में जितना सम्भव है उतना अन्य में नहीं। " नया " शब्द को रचनाकार ने आधुनिक सन्दर्भ में अपने ढंग से तराशा है, जो सावित्री (पत्नी) की स्थितियों का आभास कराता है। जीवन की विसंगतियाँ जितनी कटु सत्य हैं, उतनी ही आत्मविश्वासके साथ अभिव्यंजित की जा रही हैं, चाहे परिवार के छोटे बच्चों के समक्ष हो, चाहे अन्य व्यक्तियों के समक्ष। तभी तो महेन्द्रनाथ अपनी लड़की के समक्ष पत्नी के चरित्र-इतिहास को रख देता है—" यह नया आना शुरू हुआ है। " कहीं भी सत्य से मुख मोड़ने की प्रवृत्ति नहीं है।

" आधे अधूरे " नाटक बिम्ब - विधान के नये रूपों का संग्रह कहा जा सकता

है, जिसमें उपेक्षित वस्तु, जीव - जन्तु को भी बोलचाल की भंगिमा से अभिमंत्रित किया गया है। बिम्ब - विधान के किसी रूप के लिए रचनाकार ने भाषा की चमत्कारिक प्रवृत्ति को नहीं अपनाया, बल्कि अर्थ में चमत्कार अवश्य उत्पन्न किया है। ' आधे अधूरे ' की भाषा उन्हीं अर्थों में बोलचाल से बनी है, जिसका कारण है वर्णन और बिम्बों का एक दूसरे में आप्लावित होना। साधारण शब्दावली और शैली को भी बिम्ब के रूप में प्रस्फुटित कर, उसको समग्रता में सम्प्रेषित करने की प्रक्रिया रचनाकार की अपनी है। बिम्बों का प्रस्फुटन कई रूपों में देखा जा सकता है— परिवेश निरूपण के लिए, मनःस्थिति के चित्रण के लिए, युगीन समस्याओं को अंकित करने के लिए, पारिवारिक विसंगतियों को रूपायित करने के लिए और जीवन के साधारण से साधारण अनुभव को महत्ता प्रदान करने के लिए।

नाटकीय परिवेश के सशक्त चित्रण के लिए एक - एक वस्तुओं का कलात्मक उपयोग हुआ है। वस्तुओं की अस्त व्यस्त स्थिति और धूल - धूसरित फाइलों द्वारा मध्यमवर्गीय परिवार के निम्न स्तर का दिग्दर्शन होता है। " सावित्री के घर का कमरा मात्र एक कमरा न रहकर एक दर्पण सा बन गया है, जिसमें अतीत, वर्तमान एवं भविष्य सब कुछ प्रतिबिम्बित हो उठता है। कभी स्मरण के रूप में, कभी उपालम्भ के रूप में एवं कभी अनुमान के रूप में। इस प्रकार वह कमरा घटना-स्थल न होकर प्रतिबिम्बनकारी स्क्रीन है। इस स्थिति में भी नाट्यवस्तु दर्शकों के समक्ष बिम्ब रूप में प्रकट हो, यह उत्तरदायित्व भाषा का ही है और ' आधे - अधूरे ' की भाषा एवं संवादों ने इस अपेक्षा को उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से निबाहा है।" २९ पुरुष एक और स्त्री का संवाद परिवेश को मूर्त करता है—

" स्त्री : तुम्हें सारे घर में यह धूल इसी वक्त फैलानी है क्या ?

पुरुष एक : जुनेजा की फाइल ढूँढ़ रहा था। नहीं ढूँढ़ता।" ३०

आधुनिक परिवेश के विस्फोटक तनावों को जीवन्त करने के लिए इससे सशक्त बिम्ब प्रकृति के आकर्षक उपादानों, फूलों, पौधों या पक्षियों के अलस द्वारा नहीं हो सकता था। बिम्ब निरूपण के लिए आकर्षक उपादान जितने सक्षम हैं, उतने अनाकर्षक भी। सामाजिक विसंगतियाँ व्यक्तियों द्वारा अपनाने

में विकसित होती गई हैं, जिसमें उसे सिगरेट घूंट - घूंट कर पीना पड़ता है। लम्बी अवधि से फर्शों पर जमी धूल की पर्तों को झाड़ना व्यक्ति की जीर्णशीर्ण स्थिति का द्योतक है।

मनःस्थिति के चित्रण के लिए रचनाकार ने छोटी - छोटी वस्तुओं का कलात्मक संस्कार किया है, जिनमें अर्थ सतही न होकर गम्भीर हो जाता है। रबड़-स्टैंप का रचना में प्रयोग रचनाकार की नयी दृष्टि का परिचायक है—

" जिन्हें सुनना चाहिए, वे सब तो एक रबड़ - स्टैंप के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे। सिर्फ जरूरत पड़ने पर इस स्टैम्प का ठप्पा लगाकर - - -।" ३१

रबड़ - स्टैम्प का बिम्ब महेन्द्रनाथ की हीन मनोग्रन्थि को साकार करता है। अतः आधुनिक नाटककार के नाटक में कोई भी वस्तु वर्जित नहीं है।

'आधे अधूरे' में युगीन परिस्थितियों की समस्याओं के बिम्बांकन के लिए कीड़े - मकोड़े जैसे उपेक्षित जीवों का योगदान कम नहीं है, जिनमें अर्थ की अन्तधारा तीव्र वेग से प्रवाहित होती है—

" लड़का : (बड़ी लड़की से) हुआ कुछ नहीं - - - कीड़ा है एक।

बड़ी लड़की : कीड़ा ?

पुरुष दो : अपने देश में तो - - -।

लड़का : पकड़ गया।

पुरुष दो : - - - इतनी तरह का कीड़ा पाया जाता है कि ---।

लड़का : मसल दिया।

पुरुष दो : मसल दिया ? शिव - शिव - शिव। यह हिंसा की भावना - - -।

स्त्री : बहुत है इसमें। कोई कीड़ा हाथ लग जाय सही।

लड़का : और कीड़ा चाहे जितनी हिंसा करता रहे ?" ३२

आकर्षक वस्तुओं द्वारा बिम्ब-विधान की प्रक्रिया में तो प्रसाद सिद्धहस्त

रहे हैं, किन्तु आकर्षक वस्तुओं द्वारा बिम्ब निरूपण की क्रिया यहां पहली बार होती है। दोनों में अनुभव प्रकार और कलात्मक दृष्टि का भेद है, यद्यपि दोनों में स्वतन्त्र अस्मिता का प्रश्न प्रबल है। किसी में देश की स्वतन्त्रता का संघर्ष है, तो किसी में व्यक्तित्वगत स्वतन्त्रता का । विदेशी सत्ता से संघर्ष ऐतिहासिक आवश्यकता का प्रतिफलन था, किन्तु आज का संघर्ष सामाजिक असमानता का है। लड़का (अशोक) के अन्दर आधुनिक युवा वर्ग की तीव्र झलक है, जिसमें स्थिति से समझौता करने की प्रवृत्ति नहीं है। क्रान्तिकारी विद्रोही द्वारा पूँजीपतियों के शोषण जैसी जटिल समस्या पर गौर करना, शोषक वर्ग को पहचानना, पकड़ना और एक अन्तिम नतीजे पर पहुँचने का पूरा बिम्ब संवादों में अन्तर्व्याप्त है। इसमें तीव्र लय की क्रियाशीलता है, जो अर्थ को अधिक गतिशील करता है। पूँजीपति एक कीड़ा है, जिसको समाप्त करने का एकमात्र विकल्प हिंसा है। सही अर्थों में ऐसे शोषकों को समाप्त करना हिंसा नहीं है, क्योंकि वह भी तो व्यक्तियों का शोषण करता है। अतः पूरी की पूरी पंक्तियाँ आज के युवावर्ग की मनःस्थिति को समग्र रूप में सम्प्रेषित करती हैं।

छोटी - छोटी वस्तुओं द्वारा पारिवारिक विसंगतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति में भाषा का आयाम प्रक्षेपित हुआ है। परिवार में घटित नित्य छोटी - छोटी घटनायें अचानक एक विराट् प्रश्न खड़ा कर देती हैं। "हमारे जीवन में घटनाएँ किसी कथानक के अनुसार नहीं घटतीं। न ही रोजमर्रे की घटनाओं में सभी हिस्सा लेने वालों को हम लोग जानते हैं। अक्सर सोचने पर हम कौन हैं, क्यों हैं, ऐसे सरल दीखते प्रश्नों के उत्तर भी नहीं मिलते।"[33] ऐसा लगता है "आधे अधूरे" के भाषा विधान में रचनाकार को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ा—

"बड़ी लड़की : यह डब्बा खोल देगा तू ?

लड़का : (पर्चों में व्यस्त) मुझसे नहीं खुलेगा।

बड़ी लड़की : नहीं खुलेगा, तो लाया किसलिए था ?

लड़का : तूने कहा था जो - जो उधार मिल सकें, ले आ बनिये से, मैं उधार में एक फ़ोन भी कर आया।"[34]

पारिवारिक अभावों के संघर्षमय चित्रण की साकार अभिव्यंजना हुई है।

' स्कन्दगुप्त,' ' पहला राजा ' के उदात्त चरित्रों का अतिक्रमण किया गया है। यहाँ जीवन में चारों तरफ अभाव ही अभाव है—चाहे वह अस्तित्वगत स्वतन्त्रता का हो या आर्थिक। ' बिम्ब इस नाटक में है, पर नाटक के प्रारम्भ में काले सूट वाले व्यक्ति द्वारा नाटक को सामान्य व्यक्ति से जोड़ने की व्याख्या गलत होती है। नाटक सामान्य का न होकर एक विशिष्ट परिवार का बन कर रह गया है।' ३५ इस धारणा वाले आलोचकों के प्रश्न का समाधान यह (प्रस्तुत) उद्धरण प्रस्तुत करता है। बिम्ब एक बन्द डिब्बे का है, जिसके अन्दर प्रश्नों के उत्तर बन्द हैं। प्रमुख समस्या डिब्बे को खोलने की है। ' यह डिब्बा तोड़ देगा तू ' अत्यन्त धीरे और दयनीय स्वर में अभीष्ट अर्थ को प्रेषित करता है। सबसे बड़ी विडम्बना है— डिब्बे का उधार लाया जाना।

उत्तर ढूँढने की छटपटाहट अवश्य है, किन्तु व्यक्तियों की बुद्धि कुन्द पड़ गई है। ' इस टिन - कटर से यह नहीं खुलेगा। इसकी नोक इतनी मर चुकी है कि - - - ' ३६ अशोक के इस कथन में उत्तर न ढूँढ पाने की असमर्थता जाहिर होती है। यदि खुलता भी है तो दूसरे के औजार से—' तेज़ औजार चाहिए - - - एक मिनट नहीं लगेगा।' ३७ डिब्बा इतनी देर में खुलता है जब समय चूक गया होता है, कोई उसका स्वाद नहीं ले पाता। पूरे संवादों की भाषिक सर्जना अर्थ की दृष्टि से प्रभावशाली है, जिसका प्रमुख कारण है- अनुभव का सघन होना।

' आधे अधूरे ' के सशक्त प्रतीक भाषा की सर्जनात्मक क्षमता को द्विगुणित करते हैं और रचनाकार के नवोन्मुखी व्यक्तित्व को प्रमाणित करते हैं। अव्यवस्थित वस्तुएँ सामाजिक विसंगतियों की प्रतीक हैं, अशोक द्वारा तस्वीरों का काटा जाना ह्रासोन्मुख मूल्यों और अप्राप्य वस्तुओं के प्रति तिरस्कार - भाव का प्रतीक है। फाइलों में महेन्द्रनाथ का अतीत सुरक्षित है, जिसको फाड़कर वह अन्तर्द्वन्द्व को ध्वनित करता है।

सावित्री के घर छोड़ने के दृढ़ निश्चय में उसके छोटे - छोटे क्रियाकलाप भी अर्थ को मुखर करते हैं—

' स्त्री : कब तक और ?

गले की माला को उँगली में लपेटते हुए झटका लगने से माला टूट जाती है। परेशान होकर वह माला को उतार देती है और पावर कवर्ड से दूसरी माला निकाल लेती है।

लाल पर लाल - - - इसका नष्ट हो जाय, उसका वध हो जाय।" ३८
माला सावित्री के जीवन का प्रतीक है, जिसके टूटने पर वह क्लान्तिवादी दृष्टि नहीं अपनाती। उसके टूटने पर अर्थात् जीवन के उल्लास के भंग हो जाने पर वह दूसरे आश्रय की तलाश करती है।

भाषा की सर्जनात्मकता के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों को अनिवार्य माना गया है। ध्वन्यात्मक शब्द अर्थों को स्वयं स्पष्ट करते हुए प्रतीक होते हैं और पात्रों के आक्रोश के साथ - साथ सम्पूर्ण व्यक्तित्व को ध्वनित करते हैं— " बाहर जाओ, तो किटपिट, किटपिट, किटपिट और खाने को कोफ्ता— अब उधर आकर उनके तमाचे और खाने हैं।" ३९

" आधे अधूरे " में हास्य की सुन्दर योजना हुई है। यह रुक्षता का आरोप लगाने वाले आलोचकों को राहत देती है। इसके द्वारा समस्याओं से घिरे हुए पात्रों का मन कुछ समय के लिए प्रफुल्लित हो उठता है। प्रस्तुत संवाद इसका अच्छा उदाहरण है—

" पुरुष दो : कि बहुत - लोग एक - दूसरे जैसे होते हैं। हमारे अंकल हैं एक। पीठ से देखो— मोरारजी भाई लगते हैं।

! ! !

लड़का : हमारी आंटी हैं एक। गरदन काटकर देखो— जीना लोलोब्रिजिदा नजर आती हैं।

पुरुष दो : हाँ। - - - कई लोग होते हैं ऐसे। जीवन की विचित्रताओं की ओर ध्यान देने लगें, तो कई बार तो लगता है कि - - - (सहसा जेबें टटोलता) भूल तो नहीं आया घर पर ? (जेब से चश्मा निकालकर वापस रखता) नहीं। तो मैं कह रहा था कि - - - क्या कह रहा था ? ४०

नाटक हास्यास्पद स्थिति से वंचित न रह जाय, यह मूल प्रश्न रचनाकार की

दृष्टि में है, जिसका प्रतिफलन उद्धृत संवाद है। पुरुष दो का अवधारित चित्र उसके हास्यास्पद संवाद में व्यंजित हुआ है। संवादों में जिस मुख्यतः प्रवृत्ति की व्यंजना हुई है, उसके मूल में कुत्सित दृष्टि से ग्रस्त आत्मलीन मनोवृत्ति रही है।

'आधे अधूरे' का काला सूट वाला पात्र एक आलोचक के सदृश पाठक के समक्ष आता है। वह एक तरह से प्राचीन नाट्य साहित्य के सूत्रधार का परिष्कृत रूप है, जो रचनाकार की नयी दृष्टि का परिचायक है। रही दृश्य के रूप में नाटक के आवंटन की बात, जिसे आलोचकों ने अपने - अपने ढंग से समझा है, आधुनिकता के सन्दर्भ में वह विशेष उल्लेखनीय है। हमारे जीवन की घटनायें पूर्वनिर्धारित नहीं होतीं और न किसी विशेष कथानक के अनुसार घटित होती हैं इसलिए 'आधे अधूरे' का दृश्यों में वर्गीकृत न होना यथार्थ का सशक्त आभास कराता है। 'एक अंक, दो अंक तथा तीन अंक बिला वजह के कसाव हैं। इसीलिए आधुनिकतावादियों ने 'नाटक' को 'नाटक' कहा। 'नाटक' को 'नाटक' इसलिए भी कहा कि प्रेक्षक जीवंत दृश्य - रचना को 'नाटक' कहता है।' ४१ इस नाटक का अन्त भी नयेपन का बोध कराता है। महेन्द्रनाथ के पुनः प्रवेश के समय हल्का मातमी संगीत यातनाओं से जूझने के लिए पात्रों को छोड़ जाता है, जिसकी आयु अत्यधिक लम्बी है। इसमें नाटककार पाठक को प्रश्नों की अनुगूँज के बीच छोड़ देता है और समाधान प्रस्तुत करने की प्रचलित प्रणाली से मुक्त हो लेता है। मूल कारण है कि समस्यायें अनन्त हैं और उससे उत्पन्न प्रश्न अनन्त हैं, तो किसी एक उत्तर की अपेक्षा करना व्यर्थ है। नेमिचन्द्र जैन ने राकेश की आधुनिक दृष्टि की कुछ अंश तक इसीलिए सराहना की है—'हमारा नाटक आम तौर पर अनुभव के अधिक जटिल और गहरे स्तरों को अभिव्यक्त करने के मामले में अन्य साहित्य विधाओं से पीछे है। राकेश के नाटक भी इसके अपवाद नहीं। अपने आप में वे किसी बड़ी मानवीय यातना या तन्मयता के उल्लेखनीय दस्तावेज नहीं हैं। पर उनमें एक शुरुआत जरूर है, जो हिन्दी के सन्दर्भ में तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।' ४२

॥ स न्द र्भ ॥

१- मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि : पृष्ठ - ८५
२- - वही - : आधे अधूरे : पृष्ठ - ६३ - ६४
३- - वही - पृष्ठ - ३०
४- - वही - पृष्ठ - ८१ - ८२
५- डा० बच्चन सिंह : कृतियों के रास्ते से आधुनिकता के पड़ाव तक (निबन्ध) आलोचना : पृष्ठ - ११६, अप्रैल-जून १९७३
६- - वही - पृष्ठ - ११६
७- मोहन राकेश : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि : पृष्ठ - ८८
८- - वही - : आधे अधूरे : पृष्ठ - २०
९- डा० गिरीश रस्तोगी : नटरंग विशेषांक : अंक-१८ (निबन्ध) मोहन राकेश की नाट्यभाषा : पृष्ठ - २३
१०- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ४१
११- - वही - पृष्ठ - ५८
१२- - वही - पृष्ठ - ८८
१३- - वही - पृष्ठ - ४५
१४- (श्रीमती) डा० रीता कुमार : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में :पृ०-३१२
१५- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ५६
१६- गोविन्द चातक : आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश :पृष्ठ-१४२
१७- (श्रीमती) डा० रीता कुमार : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में :पृ०-३७८
१८- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - १३
१९- डा० नित्यानन्द तिवारी : आलोचना जुलाई-सितम्बर १९८१(निबन्ध) पृष्ठ - १५
२०- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - १८
२१- गोविन्द चातक : आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश : पृष्ठ-१४५

२२- जगदीश शर्मा : मोहन राकेश की रंगदृष्टि : पृष्ठ - ४५
२३- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ४८
२४- - वही - पृष्ठ - ८१
२५- डा० पुष्पा बंसल : मोहन राकेश का नाट्य साहित्य : पृष्ठ - ६०-६१
२६- मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि : पृष्ठ - ८२
२७- (सं०) इब्राहिम अल्काज़ी : आज के रंग नाटक : पृष्ठ - ३४५
२८- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ३५
२९- डा० पुष्पा बंसल : मोहन राकेश का नाट्य साहित्य : पृष्ठ - ६३
३०- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ३७
३१- - वही - पृष्ठ - ४०
३२- - वही - पृष्ठ - ५२
३३- डा० विपिन कुमार अग्रवाल : लहरों की भूमिका : पृष्ठ - १४
३४- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ५६
३५- (श्रीमती) डा० रीता कुमार : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में : पृष्ठ - ३१६
३६- मोहन राकेश : आधे अधूरे : पृष्ठ - ६१
३७- - वही - पृष्ठ - ६२
३८- - वही - पृष्ठ - ६८
३९- - वही - पृष्ठ - ४२
४०- - वही - पृष्ठ - ४७
४१- डा० सत्यव्रत सिन्हा : नवरंग की भूमिका : पृष्ठ - १२
४२- नेमिचन्द्र जैन : नटरंग विशेषांक : अंक - १८, पृष्ठ - ४१

।। मोहन राकेश : छतरियाँ ।।

`छतरियाँ` (१६७३) पार्श्व नाटक अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमताओं के दलदल में फँसे व्यक्ति के यथार्थ रूप को लेकर नाट्य जगत में अवतरित हुआ साथ - साथ इसने नाट्य भाषा के क्षेत्र में नया आयाम जोड़ा । इसकी भाषा स्वरात्मकता के कारण तीक्ष्ण और सारगर्भित है । मोहन राकेश सफल रचनाकार और सजग आलोचक दोनों हैं। दोनों गुण भाषा के पक्ष में हैं। उनकी भाषा चिन्तना में अनुभव की तराश है—`रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह माध्यम की सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है, उनके अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग से नहीं । शब्दों की बाढ़ से, या बिना नाटकीय प्रयोजन के प्रयुक्त शब्दों से, रंगसिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ - साथ उस बिम्ब से संयोजित रहने की सम्भावना भी शब्दों में होनी चाहिए।`[१] शब्द संयम का अपेक्षित प्रयोग प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है—

`संकट का अर्थ है मूल्यों को लेकर उठते प्रश्न । (प्रतिध्वनियाँ : प्रश्न प्रश्न प्रश्न) प्रश्नों का अर्थ है विचारों की महामारी । (प्रतिध्वनियाँ : महामारी महामारी महामारी) महामारी का अर्थ है मनुष्यता से हटता मनुष्य - जीवन । (प्रतिध्वनियाँ : मनुष्य - जीवन मनुष्य - जीवन मनुष्य - जीवन) और मनुष्य - जीवन का अर्थ है - - - `[२]

समकालीन सामाजिक विषमताओं के कारण व्यक्ति अन्तहीन निराशाजनक त्रासद स्थिति को झेल रहा है और यह परिस्थिति उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती बन जाती है। पहले और आज में फ़र्क है। विगत वर्षों में उसे समस्याओं के चक्र का आभास होता था, किन्तु उन समस्याओं का निश्चित मानचित्र नहीं था मस्तिष्क में। यहाँ मानवीय चेतना में कुछ प्रगति हुई है, क्योंकि वह सामाजिक संकटों और उनके कारण को समझने लगा है— `संकट का अर्थ है मूल्यों को लेकर उठते प्रश्न।` निरन्तर बढ़ती यान्त्रिक प्रगति ने समस्याओं का जाल चारों तरफ

फैला दिया है, व्यक्ति उनके बारे में जितना सोचता है उतना ही उलझता जाता है। सामाजिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा तकनीक की विरोधात्मक स्थिति ने व्यक्ति की निर्णयात्मक चेतना को जड़ कर दिया है। अपनी संस्कृति एवं अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकने में वह असमर्थ है। अस्तित्व का बचाव या विनाश इन प्रश्नों से जूझना, आज का जीवन बन गया है। सामाजिक संकट - साधानों का बढ़ता अभाव, घुटन भरा पर्यावरण, आर्थिक स्रोतों की दिन प्रतिदिन होती क्षीण स्थिति, धार्मिक पाखण्ड, राजनीतिक तनाव और वैज्ञानिक युग - जिसमें जीवन पल - पल असुरक्षित है, इन सभी समस्याओं के अम्बार में व्यक्ति जीवन जीने के लिए विवश है। ऐसी विवशता में आशाओं की रोशनी कहाँ टिमटिमाती है ? ऐसी स्थिति में आशाओं की स्थिति नाम मात्र को नहीं है, क्योंकि समस्याओं का निराकरण किसी के पास नहीं। निराकरण के नाम पर रचनाकार के शब्दों में व्यक्त किया जाय तो ` विचारों की महामारी ` है। विवश क्रियाशीलता की उद्देश्य विहीन स्थिति ने समाज को विकृत कर दिया है। यह स्थिति पतनोन्मुख करती है समाज को— जहाँ नृत्य संगीत की लय को बन्दूक की आवाज लेती जा रही है, विज्ञान का गलत उपयोग हो रहा है, रोटी, कपड़ा और मकान की दिन प्रतिदिन बढ़ती कमी की पूर्ति के लिए मनुष्यता ताख पर रखी जा रही है और नज़दीक आती है जीवन की असुरक्षा। अतः मनुष्य - जीवन एक दूसरे की नोच - खसोट में अपनी शक्ति को क्षीण करता जा रहा है। यों तो इस उद्धरण (संकट - - - - - अर्थ है - - - `) में प्रयुक्त शब्दावली बहुत वज़नदार है और उसी तरह सर्जनात्मक अर्थ को क्रियाशील करती है, पर प्रतिध्वनियाँ - प्रश्न प्रश्न प्रश्न, महामारी महामारी महामारी, मनुष्य - जीवन मनुष्य - जीवन मनुष्य - जीवन अर्थ की धारा को ध्वनित करती चलती हैं। सभी पंक्तियों को एक साथ देखने पर बिम्ब छाया बनती है, जिसमें सम्पूर्ण यथार्थ जगत सन्निहित है।

प्रत्येक संस्कृति की अपनी सत्ता होती है, पर जब किसी दूसरी संस्कृति की शक्ति को स्थान देकर स्वयं को गौरवान्वित समझा जाता है तो उसकी अपनी लय तिरोहित होने लगती है और उसकी छत्र - छाया में निवास कर रहे लोगों का जीवन भी असुरक्षित हो जाता है। यही स्थिति भारतीय संस्कृति की है।

भारतीय जब अपनी संस्कृति की अपेक्षा योरोपीय संस्कृति के पीछे अन्धी दौड़ दौड़ने लगा तो उसका यह आकर्षण संस्कृति की लय को विकृत करने के लिए पर्याप्त हो गया। उसकी इस असहाय स्थिति के लिए सर्वप्रथम शासन, सत्ता जिम्मेदार है क्योंकि अपनी क्रिया कलाप द्वारा वह इसे कम बढ़ावा नहीं दे रही है। प्रस्तुत उद्धरण में इस भुक्तभोगी यथार्थ का गहन अनुभव है—

'-अकेला आदमी और उसकी अकेली लड़ाई।
- परचे, पोस्टर और अखबारों की सुर्खियाँ।
- मशीन और आदमी।
- राजनीतिक उतार - चढ़ाव।
- साहित्यिक आन्दोलन।
- आर्थिक हेर - फेर।
- धार्मिक धर - पकड़।
- सभाएँ।
- सम्मेलन।
- जुलूस।
- वाक आउट।
- हड़ताल।
- घिराव।
- पर असल चीज, सबसे बड़ी चीज़, आदमी की इच्छा-शक्ति और निर्णय।
- निर्णय इन सबका विरोध करने का।
- और उस सबका विरोध करने का जो इस सबका विरोध करता है।' [3]

अपनी संस्कृति की सुरक्षा के सब समान हकदार हैं। अनेक संहारक शक्तियों एवं आक्रमणों के बावजूद भारतीय संस्कृति के संस्कार मूल्य और मर्यादायें समूल नष्ट नहीं हुई हैं। कुछ मूल्य एवं मर्यादायें अब भी हैं, जिनके प्रभाव में व्यक्ति दूसरी सभ्यता में अधिक आकर्षण पाता है। अतः अत्यधिक आधुनिक बनने की आकांक्षा में अपनी संस्कृति का नाश कहाँ तक उचित है? संस्कृति के प्रति श्रद्धा रखने वालों के लिए अब भी समय अवशेष है। 'अकेला आदमी और उसकी अकेली लड़ाई'—अपने

अहं की सुरक्षा संस्कृति को बचाने में है न कि दूसरों से संघर्ष करने में। रचनाकार अपने समय की भिन्न-भिन्न बढ़ती समस्याओं को लेकर परेशान है, इसलिए ऐसे परिवेश से पीड़ित लोगों के प्रति उसकी सहानुभूति है और उन्हें कर्तव्य के प्रति उन्मुख करने के लिए वह चिन्तित है बड़ी जिम्मेदारी के साथ। ` पर्चे, पोस्टर और अखबारों की सुर्खियाँ। मशीन और आदमी। राजनीतिक उतार - चढ़ाव। साहित्यिक आन्दोलन। आर्थिक हेर - फेर। धार्मिक धर - पकड़। सभाएँ। सम्मेलन। जुलूस। वाक - आउट। हड़ताल। घिराव ` इनमें से किसी ने समाज को नयी दिशा नहीं दी है, किसी ने कुछ प्रयास भी किया तो वह ओझल हो गया दृष्टि से रोशनी करने के पहले। (पर्चे ----- घिराव) इन सबके प्रति न किसी तरह की प्रशंसा-त्मक मुद्रा है और न नफ़रत। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जो बड़ी तीव्र गति से घटित हुआ है वह उसकी सजीव झाँकी पेश करता है। निराकरण करने के लिए व्यक्ति के अन्दर पर्याप्त संकल्प शक्ति हो तो समस्याओं का चाहे जितना बड़ा जाल हो सब समाधेय है—` पर असल चीज़, सबसे बड़ी चीज़, आदमी की इच्छाशक्ति और निर्णय।` ` पर असल चीज ` में जितनी धीमी लय है उससे अधिक तीव्र लय ` सबसे बड़ी चीज़ ` में है। बोलचाल की ठोस शब्दावली और अपेक्षित लय द्वारा ` इच्छा - शक्ति और निर्णय ` को अधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयास है।
` निर्णय इस सबका विरोध करने का ` रचनाकार ` इच्छा - शक्ति और निर्णय` मात्र कहकर किसी प्रकार रास्ते से भटक गये लोगों को भ्रमित नहीं करना चाहता, बल्कि कम एवं सशक्त शब्दों में समझाने का प्रयास करता है, एक ` निर्णय` शब्द के बाद दूसरा ` निर्णय ` शब्द इसी वृत्ति का परिचायक है। इन शब्दों की तारतम्य स्थिति से अर्थ तो ध्वनित होता ही है साथ - साथ भावों की सौन्दर्य-वत्ता बढ़ जाती है और इन सबके प्रति दृढ़ विश्वास जागृत होता है। ` इस सबका` लक्षणात्मक शब्द है, जिसका संकेत सामाजिक विषमताओं की तरफ है। उद्देश्य विहीन कर्म - शक्ति और सामाजिक परिवर्तन की लहर को निश्चित पृष्ठभूमि देने की अक्षमता ने मूल्यों की स्थिति को और भी पेचीदा बनाया है। अपनी विवशता एवं अन्तहीन पीड़ा से मुक्ति का रास्ता यदि है तो वह है सामाजिक विकृतियों को विकसित करने वाली शक्तियों का विरोध। ` और उस सबका

विरोध करने का जो इस सबका विरोध करता है ` यह पंक्ति अपनी ऊपर की पंक्ति से ठीक वैसे जुड़ी है जैसे दूसरी ( निर्णय ----- करने का ) तीसरी ( पर ----- निर्णय ) से जुड़ी है। दोनों ने विरोध के कारण को अभिव्यक्त किया है। ` उस सबका ` में लय का आरोह है, यह उनके लिए प्रयुक्त है जो सामाजिक विषमताओं का विरोध करने वाले लोगों के लिए गलत रुख अपनाते हैं। अर्थ की गहराई में पैठकर देखा जाय तो नीचे की दोनों पंक्तियों का अर्थ एक है, ऐसी सत्ता एवं शक्तियों का विरोध जिसमें सब कुछ संकटमय है और किसी तरह की सुरक्षा का कोई आश्वासन नहीं।

भारतीय स्वाधीनता के पश्चात पनपती नयी समस्याओं, प्रश्नों, टूटते सम्बन्धों, खण्डित मूल्यों तनावों और आन्तरिक - बाह्य अन्तर्विरोधों ने नाटक में नयी संवेदना का संचार किया। इस संवेदना को लेकर प्रत्येक नाटककार की अलग-अलग भाषिक विशिष्टतायें हैं— भारतेन्दु ने (`अन्धेर नगरी में `) उच्चारणानुकूल भाषा को अधिक सक्षम माना तो प्रसाद ने (` स्कन्दगुप्त ` में) तत्सम शब्दावली मिश्रित उदात्त भाषा का प्रयोग किया जबकि आज प्रमुख रूप से बोलचाल की शब्दावली को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि रचनाकार जिन - जिन परिस्थितियों एवं समस्याओं के घनत्व से गुजरता है उन्हीं साँचे के सन्दर्भ में भाषिक सर्जना करता है, पर कलात्मक रूप पाकर वे रचनायें सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन हो जाती हैं। ` छतरियाँ ` में अस्तित्व की सुरक्षा और साहित्यिक संघर्ष प्रमुख है। व्यक्तियों द्वारा सबसे बड़ी छतरी को तोड़ने का प्रयत्न, उसके विरोध में नेपथ्य से आने वाली गोलियों की बौछार, छतरी तथा मनुष्य में संघर्ष, छतरी की विजय और व्यक्ति की पराजय, प्रत्येक क्षेत्र में आधिपत्य जमाने वाले राजनैतिक नेताओं की हड़पने वाली नीति को चरितार्थ करता है। अकुशल संचालन से सब कुछ पथभ्रष्ट एवं उद्देश्यहीन बनकर रह गया है। व्यक्ति एवं समाज में अन्तर्विरोध अधिक गहराई से जड़ जमा चुका है इसलिए वह त्रस्त है। ` छतरियाँ ` की सर्जनात्मक भाषा जीवन को प्रगतिशील रास्तों पर चलने की याद दिलाती है, सामाजिक अन्तर्विरोधों को रूपाकार देकर—

`- सोचना और चाहना - - -

- चाहना और सोचना - - -

- सोचने से अलग चाहना - - -

- चाहने से अलग सोचना - - -

- फिर भी अन्तर्मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के अनुसार - - -

- जिसका अर्थ है अन्तर्मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के अनुसार - - -

- अर्थात् अन्तर्मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के अनुसार - - -

- आदमी का आत्म, आत्म, आत्म - - -

- आत्म - संतोष - - -

- नहीं - - -

- आत्म संकोच - - -

- नहीं - - -

- आत्म - जो - कुछ - भी - - -

- बड़ी - बड़ी शक्तियों द्वारा घिरकर - - -` ४

सिद्धान्त और कर्म में तारतम्य न होना व्यवस्था की प्रगति को अवरुद्ध करता है— `सोचना और चाहना ` - - - चाहना और सोचना `। दोनों में एक तनाव की स्थिति है। रचनाकार यथास्थितिवादी समाज का पक्षधर न होकर परिवर्तन का आकांक्षी है। सामाजिक परिवर्तन की चयनशील वृत्ति सामाजिक तनाव, अव्यवस्था एवं अनुभव की तराश का परिणाम है— `सोचने से अलग चाहना - - -। चाहने से अलग सोचना - - - ।` चाहने और सोचने में विरोधाभास है जो आज की मूल समस्या है। ` फिर भी अन्तर्मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के अनुसार - - -। जिसका अर्थ है अन्तर्मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के अनुसार ---। अर्थात् अन्तर्मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के अनुसार - - -` की पुनरावृत्ति कथन के प्रति विश्वास जगाने के लिए की गई है। ` जिसका अर्थ है ` और अर्थात् ` का प्रयोग अपनी बात से अवगत कराने के लिए किया गया है। चूँकि पार्श्व का रूप ध्वन्यात्मक होता है, इसलिए प्रतिध्वनियों में पंक्तियों की पुनरावृत्ति उसका स्वाभाविक गुण है। रचनाकार के शब्दों में बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है—

" हमारा भाषा संस्कार इस बात का प्रमाण है कि शब्दों की यात्रा में बहुत बार बहुत कुछ अनकहे शब्द बिम्ब के साथ - साथ यात्रा करते हुए बिना ध्वनियों के भी अपना अर्थ ध्वनित कर देते हैं। परन्तु स्वतन्त्र मूक अभिनय को नाटकीय रंगमंच के प्रश्न से अलग करके देखना होगा। जैसे रेडियो नाटक केवल श्रव्य माध्यम है, उसी तरह इसे केवल दृश्य माध्यम के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।"[5] बीज शब्द के कई बार गूँजने की प्रक्रिया से यथार्थ और गलत अनुभव का सम्प्रेषण होता है। ` आदमी का आत्म, आत्म, आत्म - - - । आत्म - सन्तोष---। नहीं - - - । आत्म - संकोच - - - । नहीं - - - । आत्म - जो - कुछ भी - - -` सुविधाभोगी वर्ग अपनी तुष्टि के लिए जो कुछ भी कर सकता है उसके लिए अग्रिम पंक्ति में खड़ा है, जिनसे गम्भीर सांस्कृतिक समस्यायें और सामाजिक अन्तर्विरोध निर्मित हो रहा है। आत्म सन्तोष के लिए किये गये युद्ध की व्यर्थता सिद्ध हो रही है, क्योंकि वह शक्ति सम्पन्न सत्ता से घिरा हुआ है— ` बड़ी-बड़ी शक्तियों द्वारा घिरकर - - -` । रचनाकार सामाजिक विसंगतियों और विषमता से निस्पृह नहीं। चारों तरफ की छोटी बड़ी शक्तियों के चक्रव्यूह में फँसा व्यक्ति छटपटा रहा है, पर निष्क्रिय होकर, अभिमन्यु की तरह संघर्षरत होकर नहीं। इस वर्तमान विभीषिका से संस्कृति एवं मूल्यों का अर्थपूर्ण रिश्ता है, जिसके कारण वह पतन की खाई में गिरती जा रही है। एकता चाहे संगठित शक्ति की हो या कथनी करनी की, उतनी ही आवश्यक है जितना स्वस्थ शरीर के लिए सन्तुलित भोजन। यों तो जीवन सभी जी लेते हैं। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण से न केवल वर्तमान स्थितियों को पहचानने की दृष्टि मिलती है, वरन् ऐसे में अपने कर्तव्य पहचानने की दृष्टि मिलती है। सपना तभी साकार हो सकता है जब व्यक्ति समाज के अन्तर्विरोधों, तनावों एवं संस्कृति की संकटग्रस्त स्थिति को सुलझे ढंग से समझने की कोशिश करे। रचनाकार शिल्प के लिए कहीं चिन्तित नहीं, चिन्तित है तो सिर्फ सर्जनात्मक भाषा के लिए। इस भाषा में निहित शब्दावली (खोखला, चालाक, अन्तर्मन, आन्तरिक, प्रक्रिया, आत्म, बड़ी - बड़ी शक्तियाँ) जो प्रचलित है और सबकी है, किन्तु इस तरह का सुसंगत प्रयोग कहीं नहीं।

" अण्डे के छिलके " में यदि संस्कार एवं परम्पराओं के बाह्याडम्बर में

जकड़े व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म पकड़ है तो ` छतरियाँ ` में रचनात्मक संघर्षों का विविध रूप। दोनों का मार्मिक रूप अलग - अलग है, पर सम्प्रेषण क्षमता किसी की कम नहीं। गोविन्द चातक का मत है— ` मोहन राकेश ने ` छतरियाँ के रूप में नेपथ्य की ध्वनियों का उपयोग करते हुए नया रंग प्रयोग किया है। इस ` पार्श्व नाटक ` में जो भी संवाद हैं सब नेपथ्य से कहे गये हैं। संवादों का स्वर कहीं सम्मिलित है, कहीं अकेला, कहीं डंका पीटने की तरह है, कहीं ` शब्द उगलता ` कहीं, फुसफुसाहट वाला है तो कहीं बहुत तेज और लयपूर्ण। कुल मिलाकर ऐसा लगता है जैसे नाटककार संवादों की स्वर शैली का प्रयोग कर रहा हो।` [६] ` छतरियां ` में संवादों की स्वर शैली का प्रयोग है, पर मात्र स्वर शैली का प्रयोग है इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत उद्धरण में नाटकीय तीव्रापन देखा जा सकता है—

` हमारी आवाज - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - अंधेरे में एक चीख है। यह चीख - - - टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग - - - अंधेरे की छाती चीरकर - - - टेस्टिंग - - - एक नयी रौशनी ला सकती है। आज से पहले भी जब कभी यह चीख उठी है - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - इसने अंधेरे की ताकतों को - - - टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग - - - दहलाकर रख दिया है। इसलिए वो ख़ौफ़नाक ताकतें हमेशा इस आवाज को - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - इस चीख को - - - टेस्टिंग - - - दबा देने पर आमादा रहती है। लेकिन आज हम उन ताकतों को - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - आगाह कर देना चाहते हैं कि आज हमारी यह आवाज हमारी यह चीख, जब फिज़ाओं में गूँज उठेगी - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - तो एक बार भूचाल लाये - - - टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग - - - और एक बार क़हर बरपा किये - - - ` [७]

नाटककार के अन्दर संघर्ष के कई रूप देखे जा सकते हैं— चेतन और अवचेतन, निराशा और आशा, कर्म और कर्तव्य विमुखता। अन्दर और अन्दर की टकराहटों से रचनात्मक संघर्ष तथा अन्दर और बाहर के संघर्ष से सामाजिक जटिलता की प्रस्तुति होती है। आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से गुजरने वाले ` छतरियाँ `

नाटक की भाषा स्वरात्मक हो जाती है। ` हमारी आवाज --- टेस्टिंग टेस्टिंग --- अंधेरे में एक चीख है। यह चीख टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग --- अंधेरे की छाती चीरकर --- टेस्टिंग --- एक नयी रोशनी ला सकती है`— यह अंधेरा सामाजिक विसंगति और विरूपता का प्रतीक है। यह कवि रूढ़ि है क्योंकि सामाजिक विभीषिका का सघन रूप ` अंधेरा` शब्द जितना चित्रित कर सकता है उतना अन्य नहीं। सर्जन प्रक्रिया से हटकर अंधेरे की अपने में विशेष उपलब्धि नहीं। सच्ची रचना प्रकाश और शक्ति की पुन्ज होती है और समाज में सार्थक मूल्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रकाश का अन्धकार से संघर्ष हो। यदि आशावादी दृष्टि हो तो अन्धकार पर प्रकाश का पर्दा डाला जा सकता है। ` आज से पहले भी जब कभी यह चीख उठी है --- टेस्टिंग टेस्टिंग --- इसने अंधेरे की ताकतों को --- टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग --- दहलाकर रख दिया है। इसलिए वो खौफ़नाक ताकतें हमेशा इस आवाज़ को --- टेस्टिंग टेस्टिंग --- इस चीख़ को --- टेस्टिंग --- दबा देने पर आमादा रहती हैं`— ये वे स्थल हैं जो मन में तनाव भरकर सामाजिक दायित्व के लिए प्रेरित करते हैं। रचनाकार की प्रगतिशील विचारधारा अतीत का स्मरण कराती है और यह आश्चर्यजनक नहीं है कि उसने अतीत से प्रेरणा ली है। अपनी भाषिक क्षमता और लेखनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक सच्चा कलाकार अपने समय की विसंगतियों से संघर्ष करता है चाहे वे कबीर, सूर, तुलसी हों या भारतेन्दु, प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर हों या अन्य। यहाँ सर्जनात्मक दायित्व और यथार्थ की जटिल बुनावट से एक अधिक गहरी और व्यापक यथार्थ की भावभूमि पर पहुँचा जा सकता है। मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष है, पर पलायन नहीं, बल्कि कर्म की विवशता है ` खौफ़नाक ` ताकतों के कारण। ` खौफ़नाक ` में वर्तमान की पूर्ण प्रतिच्छाया है, जिसमें सर्जनात्मक शक्ति नहीं बल्कि शारीरिक ताकत ही सब कुछ है और यही रचनात्मक संघर्ष पर पर्दा डालती है। सच्चा कलाकार इन ` खौफ़नाक ` शक्तियों से डरता नहीं है संघर्षरत रहता है। नये आत्मोद्‌बोध के साथ उसकी यह समझदारी है कि वह अपनी शक्ति को पहचान रहा है— ` लेकिन आज हम उन ताकतों को --- टेस्टिंग टेस्टिंग — आगाह कर देना चाहते हैं कि आज हमारी यह आवाज़, हमारी यह चीख, जब

फिज़ाओं में गूँज उठेगी - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - तो और एक बार भूचाल लाये ` --- ` टेस्टिंग ` नेपथ्य से गूँजती आवाज है, जो बीज नाटक की उपलब्धि है और जिसके माध्यम से बहुत कुछ कहने की चेष्टा की गई है। अर्थ के दूसरे स्तर पर यह पूरा का पूरा उद्धरण समसामयिक युग की स्थूल और खोखली भाषणबाजी पर सशक्त व्यंग्य है। ` हमारी आवाज - - - टेस्टिंग टेस्टिंग - - - अंधेरे में एक चीख है ` ये भारी और बड़े - बड़े शब्द व्यावहारिक दुनियाँ के लिए अनुपयोगी हैं, किन्तु राष्ट्रीय प्रसारण के लिए सशक्त शस्त्र हैं। कथन और कर्महीनता का द्वन्द्व यथार्थ की सच्ची अनुभूति कराता है। समाज के दो वर्ग - सत्ता वर्ग और जनसामान्य के तनाव द्वारा समकालीन जीवन की विडम्बना और यथार्थ की जटिलता का सम्प्रेषण पूरे उद्धरण में है। संवाद वही है, जिसमें रचनाकार का आत्मसंघर्ष उजागर होता है, किन्तु नेपथ्य की ध्वनि और संवादों के लिए माइक का प्रयोग कर देने से पूरा उद्धरण व्यंग्य बन जाता है, राजनीतिक नेताओं द्वारा राष्ट्रीयता के प्रसारण का। रचनाकार का आत्म संघर्ष सामाजिक संघर्ष बन जाता है, जिसका श्रेय भाषा और नयी मंच व्यवस्था को है। चीख़ अन्धेरे में— मिलकर उसकी भयावहता को अधिक विकराल बना देती है। चीख बहुत क्षीण आयु वाली होती है ठीक समसामयिक नेताओं के भाषण की तरह। यहाँ अनुभव संसार की तल्खी है। इस तल्खी को यदि नज़र अन्दाज़ कर दिया जाय तो व्यंग्य को समझना कठिन हो जाता है। भाषण एक झूठा आश्वासन है, जिसकी ओट में निर्मम कर्म आसान हो जाते हैं। इस झूठे आश्वासन से जनता कब तक ठगी जाती रहेगी ? यह प्रश्न मन पर अपना स्थाई प्रभाव छोड़ता है, पर इस विषय पर किसी निर्णय का प्रत्यारोपण नहीं।

पाण्डित्य, शास्त्रीयता तथा अत्यधिक वाचाल प्रवृत्ति से अलग ` छतरियाँ ` की नयी भाषा - संवेदना जीवन्त हरकत से पोषण प्राप्त करती है। व्यापक जनजीवन के अनुभव क्षेत्र में हरकत संवेदना की पूँजी होती है। हरकत को भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता, क्योंकि सामाजिक समस्याओं के उलझाव को जितना स्पष्ट रूप से हरकत व्यक्त कर सकती है उतनी भाषा नहीं। ` छतरियाँ ` में हरकत का सशक्त प्रयोग है—

` बच्चे का रोना सुबकने में बदलकर शान्त हो जाता है ।

आदमी छतरी को अपने से सटाये हुए सहसा
चिहुँक जाता है जैसे कि छतरी ने उसे काट
लिया हो ।

डमरू बजने की आवाज़ ।

आदमी छतरी से छुटकारा पाने की चेष्टा करता
है, पर सफल नहीं हो पाता । उसकी चेष्टायें
सर्कस में विदूषक की चेष्टाओं जैसी लगती हैं ।
आख़िर किसी तरह वह छतरी को अपने से परे
उछाल देता है और उसे पैरों से कुचलने लगता है ।

शेर के हुँकारने की आवाज़ ।

आदमी आशंकित होकर छतरी को देखता है और
उस पर टूट पड़ता है । दोनों के बीच जैसे धींगा
मुश्ती होने लगती है ।

हुँकारने की आवाज़ और - और ऊँची होती जाती है ।

आदमी कुश्ती में हारकर लम्बा हो जाता है ।
छतरी अब उसकी छाती पर सवार है ।` ८

यहाँ ध्वनि कम है, किन्तु हरकत अधिक । दोनों के सामन्जस्य से स्थिति की भयावहता को बिम्बित किया गया है और यहीं राकेश की नयी भाषा संवेदना जन्म लेती है । ` आदमी छतरी से -------- लगता है `— में छतरी व्यक्ति की अभिलाषाओं की प्रतीक है । व्यक्ति प्रबल अभिलाषाओं से स्वयं को मुक्त नहीं कर सकता और जब उसकी अभिलाषायें पूरी नहीं होतीं तो उसका आक्रोश कोई दूसरा रूप लेता है । ` आदमी----- लगती है ` में समकालीन सामाजिक संघर्ष मुखरित हुआ है । संघर्ष करते - करते अन्त में व्यक्ति हार जाता है और फिर उसी वातावरण में जीने के लिए —` आदमी - - - - सवार है । ` सबसे कठिन मोर्चा यदि है तो समकालीन परिस्थिति । इन परिस्थितियों में सफलता बहुत टेढ़ी खीर है, वह आसानी से नहीं मिल सकती । ` चिहुंक ` और ` धींगा मुश्ती `

क्षेत्रीय बोली के शब्द हैं जो भाषा सहजता के प्रमाण हैं।

वर्तमान मानवीय संकट में अनेक प्रकार की जिन स्थितियों को वस्तुओं एवं मुद्राओं के रूप में सम्पूर्णता प्रदान की गई है, उनसे एक बौद्धिक छटपटाहट एवं आभिव्यक्ति की संदेहास्पद स्थिति उद्घाटित होती है। इस आभिव्यंजनीयता के लिए हरकत एवं प्रतीक से बढ़कर दूसरा कुछ नहीं हो सकता—

'स्कूल की घंटी की आवाज़। साथ ही हाज़िरी ली जाने लगती है। पेट के बल रेंगते लोग घंटी की आवाज़ के साथ ही सीधी पंक्ति बनाकर खड़े हो जाते हैं और एक - एक करके हाज़िरी का जवाब देने लगते हैं। केवल यह आदमी अब भी चौकस निगाह से इधर - उधर देखता उसी तरह रेंगता रहता है।

हाज़िरी समाप्त होने के साथ फिर स्कूल की घंटी। सब लोग अपनी - अपनी छतरियाँ यहाँ-वहाँ फेंककर मंच से निकल जाते हैं। आदमी खड़ा होकर भौचक्की नज़र से आस-पास देखता है।' ६

पेट के बल रेंगता आदमी मिटते आत्मसम्मान को प्रतिबिम्बित करता है। छतरियों को इधर - उधर फेंका जाना सामाजिक अव्यवस्था का संकेत दिलाता है। इस अव्यवस्था को कथ्य एवं मुद्रा से ही नहीं शैली से भी बिम्बित किया गया है। मंच पर रंग बिरंगी छतरियाँ एक विशेष प्रकार की भिन्नता को चरितार्थ करती हैं।

'छतरियाँ' की भाषाई विशिष्टता का केन्द्रबिन्दु व्यंग्य है। व्यंग्य का प्रयोग सक्षम रचनाकार एक बड़े शस्त्र के रूप में करता है। इस भाषिक संरचना में अर्थ की अनेक सम्भावनायें विकसित हुई हैं, जिसमें बिम्ब का सुन्दर विधान है—

'पर सबसे अधिक आभारी हूँ मैं उस व्यक्ति के प्रति जिसके छतरियों के

बागीचे में इतनी तरह की रंगबिरंगी छतरियाँ उगती हैं क्योंकि बिना छतरियों की लुभावनी भूमिका के यह अभिनय कदापि सम्भव न हो पाता । आशा है बागीचे के मालिक की यह उदारता आगे भी बनी रहेगी और छतरियों का यह खेल इसी तरह चलता रहेगा ।' १०

समाजवादी प्रवृत्ति का होने के कारण रचनाकार सामाजिक विसंगतियों के प्रति विक्षुब्ध है, जो व्यंग्य के रूप में प्रतिफलित हुआ है—' पर सबसे अधिक आभारी हूँ मैं उस व्यक्ति के प्रति जिसके छतरियों के बागीचे में इतनी तरह की रंग-बिरंगी छतरियाँ उगती हैं क्योंकि बिना छतरियों की लुभावनी भूमिका के यह अभिनय कदापि सम्भव न हो पाता ।' रंग - बिरंगी छतरियाँ सामाजिक विषमता को व्याख्यित करती हैं । ' लुभावनी भूमिका ' में शासक वर्ग के छल छद्म पर कटाक्ष है, जिसमें फँसकर जनता अपने विवेक को अलग रख देती है और अपनी नियति भोगने के लिए विवश हो जाती है । ' आभारी ' शब्द व्यंगर्भित है । इसमें सामयिक राजनीति की व्यंजना है तथा जनता की मूर्खता और सत्ता की अपराजेय क्रम से बढ़ती सफलता के प्रति क्षोभ है । जनता यदि जड़ता से स्वयं को नहीं उबारती है, तो निश्चय ही सत्ता झूठे आश्वासन के शिकंजे में उसे फँसाकर मूर्ख बनाती रहेगी—' आशा है बागीचे के मालिक की यह उदारता आगे भी बनी रहेगी और छतरियों का यह खेल इसी तरह चलता रहेगा ।' ऐसा बागीचा जिसमें रंग - बिरंगी छतरियों का वृक्ष छाया हो बहुत सुन्दर बिम्ब है । यह बिम्ब बाह्य रूप से अत्यधिक आकर्षक है, किन्तु उसकी अंतः अन्विति में झाँकने पर सामाजिक विसंगतियाँ समग्रता में साकार हो उठती हैं । राजनीतिक धूर्तता को देखकर ऐसा लगता है समाज में असलियत कुछ नहीं है, सब कुछ नाटकीय हो गया है, इसीलिए कथ्य, शिल्प के स्तर पर इसका समापन सभा की तरह है । सामाजिक गतिविधियाँ भी नाटक की तरह हो गई हैं, जहाँ सब कुछ समय के चकाचौंध में है फिर सब ज्यों का त्यों हो जाता है ।

नाटक के अन्त का पारम्परिक भरत वाक्य सामयिकता से प्रभावित है—
" परंपरा, लोक - रीति का बार - बार दोहराया जाने वाला पैटर्न भर नहीं है, न ही यह समुदाय - संस्कृति का चिरजीवी प्रतीक या अभिप्राय है । परंपरा के माध्यम से व्यवहारगत तथा प्रतीकात्मक पुनरुक्ति अपनी अस्मिता को बनाये रखने

की कोशिश मात्र है। '—१४

'भाषा नहीं, शब्द नहीं, भाव नहीं,
कुछ भी नहीं।
मैं क्यों हूँ? मैं क्या हूँ?
जिज्ञासायें डसती हैं बार - बार
कब तक, कब तक, कब तक इस तरह?
क्यों नहीं और किसी भी तरह?
आकारहीन, नामहीन,
कैसे सहूँ, कब तक सहूँ,
अपनी यह निरर्थकता?' १२

रचनात्मक भाषा की समस्या से मुक्तिबोध ('वह रहस्यमय व्यक्ति। अब तक न पायी गई मेरी अभिव्यक्ति है') अज्ञेय ('शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं। पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं') रघुवीर सहाय ('क्योंकि आज भाषा ही मेरी एक मुश्किल नहीं रही') जैसा प्रत्येक सजग रचनाकार गुजरता है। 'भाषा नहीं, शब्द नहीं, भाव नहीं'— में अभिव्यक्ति की रूढ़ शैली की तरफ संकेत है। रचनात्मक संघर्ष है अभिव्यक्ति की विवशता का। उन सभी रूपकों का अन्वेषण रचनात्मक दायित्व है जिसकी आज आवश्यकता है। तभी अभिव्यक्ति का सही उद्देश्य (भाव सम्प्रेषण) सम्भव हो सकेगा—' मुख्य बात है एक विशेष प्रकार के ध्यान द्वारा कला की जीवन्त भाषा को केन्द्रित कर सकने में उसका,उसकी लयों, रूपाकारों, रूपकों, उतार-चढ़ावों, संरचनाओं और बिम्बों को उजागर करना। यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो हम अपनी ही भाषा के जीवन्त रूप के अपने ही घर में जातीय कलाकार होने के अलावा कुछ होंगे ही नहीं।' [१३] सच्ची अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न चुनौतियों को स्वीकार करना होगा। प्रत्येक सच्चे रचनाकार को दोहरी अन्तर्विरोध की स्थिति से साक्षात्कार करना पड़ता है—— रचनात्मक और सामाजिक। दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है——' मैं क्यों हूँ? मैं क्या हूँ। जिज्ञासायें डसती हैं बार - बार '— में अभिव्यक्ति और सामाजिक रूप का तादात्म्य है। अभिव्यक्ति की अमूर्तता और सामाजिक विरूपता दोनों रचनाकार के जीवन से पूर्णरूप से जुड़ी हुई हैं। विसंगतियों के मूल

मैं क्या हूँ यह शुरू से अन्त तक चिन्ता का केन्द्र है, जिसमें मुक्ति की पीड़ा छिपी हुई है। 'कब तक, कब तक, कब तक इस तरह? क्यों नहीं और किसी भी तरह'— मैं संघर्षमय स्थिति के प्रति ऊब है—चाहे वह रचनात्मक संसार में हो या यथास्थितिवादी समाज में। 'आकारहीन, नामहीन। कैसे सहूँ, कब तक सहूँ। अपनी यह निरर्थकता'—प्रकाशपुन्ज में तो चीजें साफ-साफ लक्षित होती हैं, किन्तु अंधेरे में दृष्टि का प्रयास निष्फल हो जाता है उसकी उपस्थिति मात्र का बोध होता है। न पहचानने की समस्या मुक्तिबोध के पास भी मौजूद है ('कोई अनजानी अन-पहचानी आकृति। कौन वह दिखाई जो देता, पर। नहीं जाना जाता है') इस व्यस्त समाज में भाषा और समाज दोनों के प्रति कर्तव्य अदा करना यथार्थ से बहुत ऊँचे की बात हो गई है। यह निरर्थकता पूरी शक्ति के साथ पीड़ादायक हो गई है। कर्तव्य विमुख होना अपने-आप को धोखा देना है। यह निष्क्रियता सामाजिक विसंगतियों के लिए उत्तरदायी है। रचनाकार का जागृत विवेक अन्त के बिम्ब में साकार बन गया है, जो सुनहले भविष्य का प्रतीक है। यहाँ नाट्य भाषा के प्रति सजगता का अतिरिक्त बोध भी देखा जा सकता है—

'कैसे जीऊँ, कब तक जीऊँ,
अनायास उगे कुकुरमुत्ते-सा?
पहचान मेरी कोई भी नहीं आज तक।
लुढ़कता एक ढेले-सा
नीचे, नीचे और नीचे
मैं क्या हूँ? मैं क्यों हूँ?' ६४

।। स न्द र्भ ।।

१- मोहन राकेश : रंगमंच और शब्द : नटरंग १८ जनवरी-मार्च १९७२ पृष्ठ-२६

२- मोहन राकेश : अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ-१८५

३- - वही - पृष्ठ-१८६

४- - वही - पृष्ठ-१९१

५- - वही - रंगमंच और शब्द : नटरंग १६ जनवरी-मार्च १९७२:पृष्ठ-२६

६- गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना : पृष्ठ -२८०

७- मोहन राकेश : अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ-१९७

८- - वही - पृष्ट - १९०-१९१

९- - वही - पृष्ठ - १९८

१०- - वही - पृष्ठ -१९९

११- सीताराम महापात्र (अनु०-सौमित्र मोहन) परम्परा और कलाकार पूर्वग्रह मार्च-जून १९७६ : पृष्ठ - ६

१२- मोहन राकेश : अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ-१९९-२००

१३- फिलिप रासन (अनु०- भगवत रावत) एक महान मानवीय बातचीत पूर्वग्रह : मार्च-जून १९७८ : पृष्ठ-७

१४- मोहन राकेश : अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ -२००

।। मोहन राकेश : अंडे के छिलके ।।

आज की रचना अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की अहम चुनौतियों को सर्जनात्मक भाषा में सम्प्रेषित करने की प्रक्रिया है। इसके लिए चाहे उसे संस्कारगत संकीर्णताओं में आबद्ध होना पड़ा हो या कि एक झटके से नयी चुनौतियों को स्वीकार करना पड़ा हो, जो सही माने में सशक्त रचना है उसमें विचारधारा थोपी नहीं जाती, बल्कि उसमें जीवन के विभिन्न अनुभवों की सम्पूर्णता और जटिलता का अहसास होता है। किसी रचना में यथार्थ जीवन का फल उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्यौरों का मार्मिक संप्रेषण। `अंडे के छिलके` (सन् १९७२) में इन स्थितियों का साक्षात्कार प्रेक्षक को होता है। यह नाटक अपने दौर के अहम मुद्दों को बड़ी जिम्मेदारी के साथ उठाता है और नाट्य साहित्य में नवीनता का संचार करता है।

`अंडे के छिलके` का केन्द्रबिन्दु है—विरासत में मिली परम्पराओं एवं मध्यवर्गीय मान्यताओं का विघटन। अंडा को परम्परा या संस्कृति मान लिया जाय तो छिलका उसके ह्रास का प्रतीक है। मध्यम वर्ग उस अंडे को बाज पक्षी के समान एक बार नहीं झपटता, बल्कि उस पर शनैः शनैः चोंच मारता है और नयी सभ्यता की ओर आकर्षित होता है। बाह्य रूप में पुरानी सभ्यता के प्रति आदर्शवादी भूमिका और आन्तरिक रूप में नयी सभ्यता के प्रति आकर्षण, उसे छोड़ने और न छोड़ने की तल्खी में नाटक का शिल्प निर्मित होता है—सजीव एवं सशक्त संवादों में। यथार्थ उद्घाटन की वृत्ति ने भाषा को एक अलग मोड़ दिया है। ऐसी भाषा में न कोई औपचारिकता है न अलंकरण विधान, न विशेषण है और न तो संस्कृतनिष्ठ शब्दावली। जैसे व्यक्ति परम्परा से विमुख होता जा रहा है वैसे नाटककार नाट्य भाषा संस्कार से दूर। इस दूरी की समानता `अंडे के छिलके` की स्थिति से की जा सकती है— नये संस्कारों की ओर धीरे - धीरे बढ़ने की प्रवृत्ति। मोहन राकेश की `आषाढ़ का एक दिन` से लेकर `अंडे के छिलके` और `छतरियाँ` तक यात्रा इसकी साक्षी है। `अंडे के छिलके` में शिल्प के

समानान्तर और पात्रों के मनोनुकूल चलती भाषा बोलचाल का सहज रूप ग्रहण करती जा रही है—

'श्याम : भाभी, एक बात कहता हूँ।

वीना : क्या बात? बरसाती तुमने फिर से पहन ली? मैं कहती हूँ तुम तो बस - - - ।

श्याम : भाभी, बात तो सुन लो। मैं कहता हूँ कि बरसाती आकर एक ही बार उतारूँ। चाय के साथ खाने के लिए भाग कर कोई चीज़ ले आऊँ। सूखी चाय का मज़ा नहीं आएगा। इस वक़्त पानी ज़रा थमा है, फिर ज़ोर से बरसने लगेगा।' १

बोलचाल की शब्दावली में मधुर पारिवारिक रिश्तों का बिम्ब उद्भूत संवादों में सजीव हो उठा है। देवर भाभी का रिश्ता इतना मधुर है कि डाँट भी मीठी लगती है—'बरसाती तुमने फिर से पहन ली? मैं कहती हूँ तुम तो बस - - - ।' अनुभव की गहनता पारिवारिक बिम्ब की भाषा को सशक्त बनाती है इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि रचना में जीवन के चाहे जिस पक्ष को लिया गया हो अनुभव की आँच में पककर ही वह सर्जनात्मक बन पाता है।

'अंडे के छिलके' नाटक संस्कारों का व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में विश्लेषण प्रस्तुत करता है और अन्त तक उन्हें तोड़ भी देता है। पर बाह्य रूप में बौद्धिक चेतना इन संस्कारों के प्रति सतर्क रहती है— रिश्तों के निर्वाह की स्थिति बनाये रखने तक। मध्यवर्ग में उभरती वर्ग विद्रोही चेतना को दबाने का यथाशक्ति प्रयास किया जाता है। श्याम का संवाद इसका सटीक उदाहरण है—

'फिर कहता हूँ भाभी कि नाम मत लो। अपने कमरे में न फ्राइंग पैन है न स्टोव जो कोई चीज़ साबित की जा सके। कच्चा लाते हैं और कच्चा खाते हैं। इसीलिए सुबह दूध की तलब कमरे में होती है। रखने - रखाने का इन्तज़ाम पक्का है। मगर तुम कहो कि अम्मा के सामने भी यह बात ज़ाहिर कर दें तो हरगिज़ नहीं। हमें अपनी अम्मा से भी प्यार है और अपनी ख़ुराक से भी।' २

स्वीकृति और अस्वीकृति की दोहरी मनःस्थिति में व्यक्ति की स्थिति बीच

में लटके त्रिशंकु की भाँति हो जाती है। वह न घर का रहता है और न घाट का-- `हमें अपनी अम्मा से भी प्यार है और अपनी खुराक से भी।` अन्ततः श्याम न अपनी माँ के प्रति ईमानदारी से प्यार निभा पा रहा है और न तो अपनी खुराक (अंडे) का आनन्द ले पा रहा है। ठीक यही स्थिति मान्यताओं की है। वह अपने संस्कारों को चेतना के स्तर पर कभी स्वीकार नहीं कर रहा है, जबकि संस्कार अन्दर ही अन्दर खोखले हो रहे हैं। यदि यही स्थिति रही तो संस्कृति की परिणति जड़ से ढह जाने में है, पर उसके बाह्य रूप को मध्यवर्गीय श्याम जैसे व्यक्ति बनाये रखने के लिए सक्रिय रहते हैं-- `फिर कहता हूँ मामी कि नाम मत लो।` यही कारण है कि नये संस्कारों में पली स्पष्टवादी मामी को श्याम वास्तविकता छिपाने के लिए प्रेरित कर रहा है। फ्राइंग पेन और स्टोव जैसे अंग्रेजी शब्द अर्थ की धारा में अवरोध नहीं उत्पन्न करते। `मगर तुम कहो कि अम्मा के सामने भी यह बात ज़ाहिर कर दें तो हरगिज़ नहीं` में `ज़ाहिर` और `हरगिज़` उर्दू शब्द अर्थ प्रवाह में वृद्धि करते हैं।

संस्कार, चाहे वह प्राचीन हों या नवीन, के स्वीकार और अस्वीकार में मध्यवर्ग की स्थिति अधिक पेचीदी हो जाती है, जिससे अन्तर्विरोधों और संघर्षों का जन्म होता है। यदि नाटक को शक्तिशाली बनाता है, तो यही संघर्ष। पात्रों के चारित्रिक विकास को दो रूपों में उद्घाटित किया गया है-- श्याम, राधा, गोपाल जो नयी सभ्यता को खुले मन से स्वीकार नहीं कर पाते और वीना, माधव विद्रोही चेतना के कारण प्राचीन संस्कारों की दीवारों को जड़ से गिरा देना चाहते हैं। वीना के संवाद में अन्तर्द्वन्द्व साकार हो उठा है--

`तो यह बात है। कल और परसों के छिलके साहब ने मोजे में भरकर यहाँ लटका रखे हैं। इनकी यह कैसी आदत है, यह मेरी समझ में नहीं आता। छिलके नाली में डाल दिये जायें, गंदगी दूर हो। मगर नहीं। हफ्ता भर छिलके इकट्ठे करेंगे, फिर डिब्बे में भरकर बाहर ले जायेंगे, जैसे किसी के लिए सौगात ले जा रहे हों।` [3]

पुराने मूल्यों की जड़ें हमारे समाज में इतनी गहराई से जमी हुई हैं कि इनको

एकाएक मध्य वर्ग का व्यक्तित्व नहीं निकाल सकता—' कल और परसों के छिल्के साहब ने मोजे में भरकर यहाँ लटका रखे हैं।' अन्तर्द्वन्द्व की खाई में गिरने का कारण, मध्यवर्ग की वास्तविकता को छिपाने वाली मनोवृत्ति है, जिसकी मनोवृत्ति ऐसी नहीं होती उसकी हालत दयनीय हो जाती है— इनकी यह कैसी आदत है, यह मेरी समझ में नहीं आता '— यह अन्तर्द्वन्द्व है वीना का, क्योंकि वह नयी सभ्यता की पक्षधाती है तो पुराने से निरपेक्ष होकर। क्रान्तिकारी व्यक्तित्व वाली होने के बावजूद वीना कुछ अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित नहीं कर पाती, पारिवारिक रिश्तों और परिवेश के कारण। ' छिल्के नाली में डाल दिये जायें, गन्दगी दूर हो। मगर नहीं। तकुता भर छिल्के इकट्ठे करेंगे, फिर डिब्बे में भरकर बाहर ले जायेंगे, जैसे किसी के लिए सौगात ले जा रहे हों '— जहाँ सब के सब एक जैसे हों वहाँ किसी एक की विद्रोही चेतना की स्थिति मूक दर्शक की भाँति हो जाती है, पर यदि कोई उसका साथ देने वाला हो तो वह पूर्ववत् हो जाती है। अतः रचनाकार वर्ग के दूसरे स्तर पर संगठित शक्ति में विश्वास करता है और इस दृष्टि से उद्धृत संवाद का प्रेरक महत्व है। इस अन्तर्द्वन्द्व में भाषा अन्तर्मन और समय से निकली हुई है वह कहीं से आरोपित नहीं लगती।

ऐसे मध्यमवर्गीय परिवार— जहाँ बन्धनों की बेड़ी स्वयं उसी के द्वारा बनायी गई है— में वीना जैसा व्यक्तित्व विवश हो जाता है उसी के अनुरूप ढल जाने के लिए ' मैं भी इस घर में आकर बस यहाँ की - सी हुई जा रही हूँ '[४] पर इस विवश स्थिति के प्रति चिन्ता है उसे। इस समाज में परिवर्तन धीरे - धीरे और समन्वयात्मक रूप में होता है। इन सभी आयामों की बेहतर और प्रशंसनीय अभिव्यक्ति मिलती है— ' अंडे के छिल्के ' में।

' छीनाझपटी मैं नहीं दूँगी, जीजी। ऐसे माँग लो तो दे दूँगी। मगर इसमें इस तरह छिपाकर पढ़ने की क्या बात है? मैंने तो चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति और भूतनाथ सब पढ़ रखी हैं। जब हम मिडिल में थीं तो स्कूल की लाइब्रेरी से लेकर पढ़ी थीं। इसमें ऐसा तो कुछ नहीं है कि इसे तकिये के नीचे छिपाकर रखा जाय और दरवाजे बन्द करके पढ़ा जाय।'[५]

वीना का चरित्र अन्य पात्रों की अपेक्षा सहज है। वह परिवर्तन लाना चाहती है तो धीरे - धीरे नहीं और न तो आदर्श की ओट में, बल्कि एक झटके में—' इसमें छिपाकर पढ़ने की क्या बात है।' खुलकर स्पष्ट रूप में किसी वस्तु या मान्यताओं को स्वीकार करने में जो सन्तुष्टि मिलती है वह किसी में नहीं। यदि इस तरह की प्रकृति हो तो कोई भी चीज़ बुरी नहीं—' इसमें ऐसा तो कुछ नहीं है कि इसे तकिये के नीचे छिपाकर रखा जाय और दरवाज़े बन्द करके पढ़ा जाय ' अच्छी और प्रेरक दृष्टि सभी से प्रेरणा प्राप्त कर सकती है— चाहे वह चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ हो या महाभारत हो। यह बाह्य संघर्ष ' छीना-झपटी में नहीं दूँगी , जीजी। ऐसे माँग लो तो दे दूँगी ' नाटक को सशक्त बनाने में समर्थ है, जिसकी पृष्ठभूमि में भाषा की सर्जनात्मक क्षमता रही है।

' अंडे के छिलके ' में स्वातन्त्र्योत्तर भारत की चेतना है, जिसमें व्यक्ति की समस्त आकांक्षायें चूर - चूर हो गईं और वह यथार्थ जगत की थपेड़ें खाने लगा। यहाँ नये मूल्यों का नामोनिशां नहीं था और पुराने मूल्यों की सार्थकता समाप्त हो गई थी समय के लिहाज से। ऐसे परिवेश में व्यक्ति निर्भीकता के साथ कुछ भी स्वीकार नहीं कर पा रहा है। एक आलोचक का मत उसकी सही दृष्टि का परिचायक है— " इस प्रकार ' अंडे के छिलके ' का तेवर अतीत के उन क्षणों की मानसिकता का उद्घाटन करने वाला है कि जब पुरातनता का मोह आन्तरिक सम्वेदना के स्तर पर उस काल के वर्तमान को असह्य तो हो रहा था, पर वह अभी तक सहे चले जाने की मानसिकता में ही था। अस्मिता में वह मोड़ नहीं आ सका था, कि जब व्यक्ति, व्यक्ति के स्तर पर मूल्यों को चुनौती देने के लिए एक स्पष्ट मानसिकता जुटा सका था।" [६] प्रस्तुत पंक्तियाँ राधा के चरित्र का विश्लेषण करने के साथ - साथ समकालीन परिस्थितियों को निरूपित करती हैं—

' कोई खराब बात थोड़े न हो गई मगर माँ जी देखेंगी तो क्या सोचेंगी कि रामायण नहीं, महाभारत नहीं, दिन भर बैठकर किस्से ही पढ़ा करती हैं। और हम पढ़ते भी कहाँ हैं? हमको तो कौशल्या भाभी ने ज़बर्दस्ती दे दी तो हम उठा लाये, नहीं हम तो ऐसी चीज़ कभी नहीं पढ़ते। घर के काम धंधे से फुरसत हो, तो कुछ पढ़ें भी। और हमारे पास अपनी गुटका रामायण है, कभी - कभी उसमें

से ही थोड़ा - बहुत बाँच लेते हैं। तुम जानो इस घर में ये सब पढ़ेंगे तो जान नहीं निकाल दी जाएगी ?` 7

आदर्शवादिता के थोथे आवरण से निःसृत विचार व्यक्ति के चरित्र को संदेहास्पद और तर्कपूर्ण बना देते हैं। छिपकर वस्तुओं का प्रयोग और बाह्य रूप में आदर्श की शिक्षा मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, क्योंकि व्यक्ति अपनी कमजोरियों को छिपाता है उपदेश द्वारा। राधा के दो रूप हैं आवरण रहित और आवरण युक्त। वह रूप प्रस्तुत पंक्तियों में है—` हमको तो कौशल्या मामी ने जबर्दस्ती दे दी तो हम उठा लाये, नहीं हम तो ऐसी चीज कभी नहीं पढ़ते। घर के काम धंधे से फुरसत लगे, तो कुछ पढ़ें भी। और हमारे पास अपनी गुटका रामायण है, कभी - कभी उसमें से ही थोड़ा - बहुत बाँच लेते हैं।` ` अंडे के छिलके ` में एक संयुक्त परिवार है जिसमें जमुना पुरानी परम्परा की उपासक है, जबकि श्याम, गोपाल, राधा, वीना और माधव नयी विचार-धारा के। इन दोनों पीढ़ियों में नाटक का बाह्य संघर्ष निर्मित होता है। पुरानी पीढ़ी के समक्ष स्वयं को आदर्श सिद्ध करने की मनःस्थिति है और यह उसे अधिक विवादास्पद बना देती है—` न मइया न। हम माँ जी के सामने ऐसी चीज कभी नहीं पढ़ सकते। कोई खराब बात थोड़े न हो मगर माँ जी देखेंगी तो क्या सोचेंगी कि रामायण नहीं, महाभारत नहीं, दिन भर बैठकर किस्से ही पढ़ा करती हैं।` व्यक्ति जो है उससे अधिक की कामना न करे तो बड़े सन्तोष एवं सुख के साथ जीवनयापन कर सकता है। ` तुम जानो इस घर में ये सब पढ़ेंगे तो जान नहीं निकाल दी जाएगी ?` में राधा की भयभीत प्रकृति है जिसके कारण वह नये मूल्यों को एकाएक स्वीकार नहीं कर पाती। इस तरह के घुन मूल्यों को धीरे-धीरे कतरते जा रहे हैं जिसमें न आवाज होती है न तो किसी के कान तक पहुँचती है। संवादों में बोलचाल की शब्दावली पात्रों की मनःस्थिति का साक्षात्कार कराती है।

परिवर्तनशील प्रकृति का व्यक्ति - यदि उसमें परिस्थितियों से मुकाबिला करने की हिम्मत है तो - घुटन भरे वातावरण में अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। एक सीमा के बाद वह स्वनिर्मित बन्धनों को एकबारगी तोड़ देना चाहता है, इसका परिणाम क्या होगा उसे कुछ चिन्ता नहीं—

`गोपाल : क्या चीज़ है जिसके लिए इतनी हील-हुज्जत हो रही है ?

वीना : कुछ नहीं, आधा दर्जन अण्डे मँगाये हैं। कह रहा था कि सूखी चाय नहीं पीऊँगा, तो मैंने कहा कि अण्डे का हलुवा बनाये देती हूँ।

गोपाल : अण्डे का हलुवा ? तुम्हें क्या सूझी है ? मैंने तुम्हें अच्छी तरह समझा दिया था, फिर भी तुम - - - ?

वीना : (श्याम से) तुम क्यों काठ से वहाँ खड़े हो ? अण्डे मुझे दे दो, और बरसाती उतार कर बाहर रख दो। (गोपाल से) आपको जब दीदी से सिगरेट का छिपाव नहीं है, तो अण्डे का छिपाव रखने की क्या जरूरत है ?` ८

भारतीय जीवन में ऐसा क्षण आ गया है जहाँ जीवन अस्थिर है उसमें एक तरह का भूचाल आ गया है। इस अस्थिरता को नाट्य भाषा जीवन्त कर देती है। `कुछ नहीं, आधा दर्जन अण्डे मँगाये हैं। कह रहा था कि सूखी चाय नहीं पीऊँगा, तो मैंने कहा कि अण्डे का हलुवा बनाये देती हूँ, में जितनी स्थिरता और आत्मविश्वास है उतना नीचे ( अण्डे - - - - तुम ) के वाक्य में नहीं। वह संगठित शक्ति जो मूल्यों का संहार कर रही है उसकी भर्त्सना स्पष्ट रूप से की गई है। `बरसाती` का प्रयोग यहाँ अभिधात्मक नहीं है। थोथे संस्कारों एवं पाखण्डों की बरसाती से मात्र श्याम ही आच्छादित नहीं है, बल्कि यह लगातार फलते-फूलते पाखण्डों का प्रतीक है। संस्कृति एवं मूल्यों के नाम पर पाखण्ड का पक्षधर रचनाकार नहीं है, इसलिए उसकी विद्रोही चेतना प्रबल हो उठती है इन शब्दों में— `बरसाती उतार कर बाहर रख दो।` `हील - हुज्जत` `छिपाव` शब्दों एवं `काठ से खड़े` कहावत का यहाँ पारम्परिक प्रयोग है, किन्तु जहाँ चित्त की अस्थिरता है, वहाँ संवाद सर्वाधिक सशक्त बन पड़े हैं— `अण्डे का हलुवा ? यह तुम्हें क्या सूझी है ? मैंने तुम्हें अच्छी तरह समझा दिया था, फिर भी तुम - - - ?` चोरी चाहे एक हो या अधिक जब उसकी पोल खुल गई तो उसे स्वीकार कर लेने में उतनी बुराई नहीं है जितनी छिपाने में— `आपको जब दीदी से सिगरेट का छिपाव नहीं है, तो अण्डे का छिपाव रखने की क्या ज़रूरत है ?` प्रश्नवाचक वाक्यों में विचारों का तीखापन अधिक क्रियाशील बन गया है। रचनाकार को वर्तमान अवस्था के प्रति गहरी चिन्ता है। वह उन रूढ़ संस्कारों के विरुद्ध है जिनसे व्यक्ति जबर्दस्ती चिपका हुआ है (दिखाने मात्र के लिए) पर ऐसे में व्यक्ति की

स्वाभाविक गति भी नष्ट होती जा रही है। वर्षा यहां विचारों की उत्प्रेरक है। ऋतुओं के साथ जागरण मोहन राकेश को विशेष प्रिय है। उन्हें जितना 'आषाढ़ का एक दिन' प्रिय है ('अंडे के छिलके' में) उतनी वर्षा। वर्षा उत्पीड़न नहीं देती, बल्कि सहजता प्रदान करती है। जीवन की कटुता और विरोधाभास— जो पाखण्डों से उद्भूत है—को त्याज्य माना गया है, प्रकृति को सहभागी बनाकर। ऐसे में मधुर और सुखद दुनियाँ की सर्जना हुई है जहाँ स्थिर मूल्य हैं और उसे सहज रूप से स्वीकार करने की क्षमता है।

अब ऐसा समय आ गया है कि व्यक्ति की चेतना को कोई निश्चित धरातल न प्रदान करने वाली संहारक शक्ति का अनुमान होने लगा है, पर उसे समय पाकर व्यक्त किया जाता है—

'राधा : बड़ी भाभी की नाक ही नहीं, आँखें भी बहुत तेज हैं। तुम अपने कमरे में जो करतूत करते हो, बड़ी भाभी को उसका भी पता है।

श्याम : (चौंककर) हैं? मेरी किस करतूत का तुम्हें पता है?

राधा : रहने दो, चुप ही रहो तो अच्छा है। मैंने माँ जी से तो नहीं कहा, मगर तुम्हारा दूध वाला गिलास मेहरी से अलग रखवा रखा है और उसे अलग से ही मँजवाती हूँ। और सर्दियों में जो तुम दो चम्मच बुख़ार — मिक्स्चर बीच में मिलाया करते थे, उसका भी मुझे पता है।' ६

जीवनानुभवों को सर्जनात्मक अनुभवों में ढालने की सशक्त क्षमता 'अंडे के छिलके' में जैसे है ठीक उसी तरह उसकी भाषा में भी उत्तरोत्तर निखार आया है। यह धनात्मक बिन्दु इस विश्वास को दृढ़ करता है कि नाटककार का व्यापक अनुभव एकांकी जैसी संक्षिप्त विधा— जिसमें शब्दों की फ़िज़ूलखर्ची की कोई गुन्जाइश नहीं— में कितना लम्बा रास्ता तय कर रहा है। 'करतूत' देशज शब्द है, जो अर्थ के विस्तार को व्यक्त करने में पूर्णतया सहायक हुआ है। राधा उस मध्यमर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी मानसिकता सब कुछ सह लेने की बन चुकी है क्योंकि वह बाह्य रूप से भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि होने का दावा भले करती हो, किन्तु आन्तरिक रूप से आधुनिक नयी मान्यताओं से एकीकृत होना चाहती है।

यही कारण है कि वह श्याम का विरोध नहीं कर पाती ।

` अंडे के छिल्के ` में हरकत का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिसके कारण भाषा की सर्जनात्मक क्षमता क्षीण नहीं हुई है, बल्कि बढ़ी है । प्रस्तुत उद्धरण में हरकत की क्रियाशीलता देखी जा सकती है—

` जमुना : वीना ! ओ वीना ! गोपाल अभी आया है कि नहीं--- ?

गोपाल : (दबे हुए स्वरों में) श्याम ! तुमसे कहा था दरवाजा बन्द कर दो और तुम - - - !

श्याम : अभी कर रहा हूँ ।

जल्दी से जाकर दरवाज़े के किवाड़ मिला देता है और वहीं खड़ा हो जाता है ।

राधा : माँ जी आ रही हैं, अब जल्दी से कुछ इन्तज़ाम करो ।

गोपाल : हाँ, हाँ जल्दी कुछ इन्तज़ाम करो । यह छिल्के - - - यह हलुवा - - - ।

जल्दी से वीना का जम्पर उठाकर छिल्कों पर डाल देता है और चीनी की एक प्लेट लेकर फ्राइंग पैन को उससे ढँक देता है ।

जमुना : वीना ! - - - वीना !` १०

इसमें मूल्यों और आदर्शों की खोज नहीं है और न तो मूल्यों के प्रति नफ़रत। नफ़रत यदि है तो यथार्थ को ढँकने वाली मनोवृत्ति के प्रति । घबराहट की मन:स्थिति का चित्रण केवल वही रचनाकार कर सकता है जिसने व्यक्ति के मन का विश्लेषण किया है । यथार्थ रूप में देखी गई स्थितियों से शब्दों का जो रिश्ता बनता है उसकी सौन्दर्यवत्ता कुछ और होती है । अत: रचनाकार शाब्दिक सौन्दर्य के लिए परेशान नहीं है यथार्थ निरूपण के लिए चिन्तित है । यही कारण है कि नाटक में भाषा की सजगता अधिक अपेक्षित होती है । पूरे के पूरे दृश्य को एक विशिष्ट अर्थ - संसार से लादने और उसे विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ने की कामना नहीं । यहाँ मुक्त और स्वतन्त्र कल्पना को यथार्थ से जोड़ा गया है, जिसमें हरकत

की भाषा का महत्त्वपूर्ण सहयोग है। ऐसा स्वतन्त्र दृश्य दर्शक को कल्पना का अवसर देता है। उसमें प्रयुक्त हरकत के कारण हम उसका अनुभव करते हैं जब व्यक्ति अत्यधिक जल्दबाजी में अपनी बातों को छिपाने का प्रयास कर रहा होता है घबराहट के साथ।

"अंडे के छिलके" में हास्य का सुन्दर विधान है, जिसमें एक आकुल आकांक्षा है, तत्परता के साथ सजीव झाँकी प्रस्तुत करने की। अपनी प्रखर रचनात्मक क्षमता से उत्पन्न उत्साहातिरेक से रचनाकार पाखण्डों के कारण आमाते मूल्यों की महत्ता को अवश्य कम करना चाहता है। यद्यपि भाषा काव्यात्मक नहीं है, पर उसकी प्रतिबद्धता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हास्य द्रष्टव्य है प्रस्तुत संवादों में ——

"माधव : तुम्हारा मतलब मैं समझता हूँ। और तुम क्या जाकर मुँह पोंछ रहे हो श्याम बाबू ?

श्याम : मैं ? मैं भैया --- यह मेरे लिए --- मेरे लिए भाभी ने पुलटिस बनायी थी ---।

माधव : पुलटिस बनायी थी ? और तुम पुलटिस गले के नीचे उतार गए। (हँसकर) खूब। तो आजकल पुलटिस खाने के काम भी आने लगी। भला यह तो बताओ कि किस चीज़ की पुलटिस थी ? जिस चीज़ के यह छिलके हैं, उसी की या --- ? श्याम बिल्कुल घबरा जाता है।

श्याम : भैया, थी तो यह पुलटिस ही, मगर जल्दी में मैंने --- मेरा मतलब है कि मैंने जल्दी में ---।

माधव : तुमने जल्दी में सोचा कि इसे खा डाला जाय। (फिर हँसकर) बहुत अच्छा किया। बनी हुई चीज़ को कोई तो इस्तेमाल होना ही चाहिए। और तुम गोपाल, तुम ये छिलके जेब में क्यों भरते हो ? बाहर जाकर इन्हें नाली में डाल दो। आगे से डिब्बे में भरकर बाहर ले जाने की ज़रूरत नहीं --- ।" [११]

अंडे के हलुए को श्याम द्वारा पुलटिस कहे जाने से हास्य की जो सृष्टि हुई

है वह सराहनीय है। इसमें भाषा अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। रीता कुमार माथुर के शब्दों में स्वीकार किया जाय तो यह है कि— " एकांकी के संवाद संक्षिप्त व सारगर्भित हैं। उनमें मनुष्य के अवचेतन को उघाड़ने की अपूर्व क्षमता है। मध्यवर्गीय परिवार अपने गुण - दोषों के साथ रंगमंच पर साकार हो जाता है।"१२ " मैं ? मैं भैया - - - यह मेरे लिए - - - मेरे लिए मामी ने पुलटिस बनायी थी - - - " में श्याम की द्विधाग्रस्त मनःस्थिति सजीव हो जाती है। " खूब ! तो आजकल पुलटिस खाने के काम भी आने लगी। भला यह तो बताओ कि किस चीज की पुलटिस थी ? जिस चीज़ के यह छिलके हैं, उसी की या - - - ? " में हास्य मिश्रित व्यंग्य है। " बनी हुई चीज़ का कोई तो इस्तेमाल होना चाहिए " में संस्कृति एवं मूल्यों के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्य है, जो यथार्थ को उजागर करता है। मूल्यों के प्रति अतिरिक्त जागरूकता रचनाकार की सामाजिक भूमिका के प्रति ईमानदारी को व्यक्त करता है। इसका प्रमुख कारण है कि वह सामाजिक यथार्थ को कितना अनुभव करता है और उससे कहाँ तक संवेदित होता है। कथनी, करनी के भेद के कारण व्यक्ति जटिल परिस्थितियों से गुजर रहा है। संघर्ष के तन्तुजाल में फँसने का मूल कारण उसकी यह प्रवृत्ति रही है। ऐसे में व्यक्ति की निर्णयात्मक क्षमता अवरुद्ध हो गई है और वह द्विधाग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है— " भैया, थी तो यह पुलटिस ही, मगर जल्दी में मैंने - - - मेरा मतलब है कि मैंने जल्दी में - - - ।" ऐसे में रचनाकार चिन्तित है इस द्विधाग्रस्त मनःस्थिति और संघर्षमय जीवन से मुक्ति की तलाश के लिए— " और तुम गोपाल, तुम ये छिलके जेब में क्यों भरते हो ? बाहर जाकर इन्हें नाली में डाल दो। आगे से डिब्बे में भरकर बाहर ले जाने की जरूरत नहीं - - - ।" मुक्ति तभी मिल सकती है संघर्षों से, जब समाज में मूल्यों की निश्चितता हो। मूल्यों के नव निर्माण के लिए सर्वप्रथम सामाजिकता एवं संगठन की आवश्यकता है, इसलिए रचनाकार अपने अन्तिम संवाद द्वारा पात्रों को बाह्याडम्बरों की बेड़ी से मुक्त कर परिवार में खुले रूप से प्रेम और सौहार्द्र का संचार करता है। अतः हास्य द्वारा यथार्थ के विभिन्न स्तरों का प्रेक्षकों को संस्पर्श कराना उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा का सशक्त प्रमाण है। पहले नये वर्ग में नये मूल्यों की दबी - दबी ललक और दूसरे पुराने वर्ग में सब कुछ देख सुनकर यथार्थ को निगल जाने की जो मानसिकता बन चुकी है, एक सीमा के बाद उसे

यथार्थ की ठोस ज़मीन पर समस्त सम्भावनाओं एवं हिम्मत के साथ अवतरित किया गया है नाटक के अन्त में—

`माधव : भैया सब जानते हैं, राजा। वे यह भी जानते हैं कि तुम्हारे बायें हाथ की उंगलियाँ किस तरह पीली हुई हैं। यह भी जानते हैं कि श्याम बाबू का दूध कमरे में क्यों जाता है। और यह भी जानते हैं कि उनके सो जाने पर उनकी बीकी मोमबत्ती जलाकर कौन - सी किताब पढ़ा करती है।

-- -- -- --

गोपाल : भैया, अब आपसे क्या छिपाना है, आप तो सब कुछ जानते हैं। मगर देखिये, अम्माँ से नहीं कहियेगा। अम्मा को पता चल गया तो बस किसी की खैर नहीं - - - ।

माधव : अम्मा से न कहूँ? (हँसकर) तुम समझते हो कि अम्मां यह सब नहीं जानतीं?

श्याम और गोपाल : एं। अम्माँ भी जानती हैं?

माधव : क्यों नहीं जानतीं? अम्माँ तो शायद मेरी वे बातें भी जानती हैं जो मैं समझता हूँ कि वे नहीं जानतीं। (हँसकर) आज से छिलके नाली में डाल दिया करो, इनके लिए डिब्बा रखने की ज़रूरत नहीं। - - - और जहाँ तक अम्माँ का सवाल है अम्माँ इन्हें नाली में पड़े हुए भी नहीं देखेंगी।` १२

आधुनिक रचनाकार की प्रथम शर्त है—उस अन्तर्धारा को पहचानना, जिससे समाज में संघर्ष एवं अन्तर्विरोध है। `भैया ----- करती हैं`— प्रतिष्ठित सामाजिक यथार्थ है। `एं। अम्माँ भी जानती हैं, में अत्यधिक आश्चर्य है। चोरियों का अप्रत्याशित खुल जाना इसी तरह के आश्चर्य को जन्म देता है। उस कटु यथार्थ से यह अन्दाज सहज लग जाता है कि सब कुछ बड़ी तेजी से लामता रहा है, उनमें स्थिरता नहीं। इनके विरोध में व्यक्ति कुछ न कर शान्त भाव से सह रहा है तो यह कायरता है। विरोध मात्र लड़ाई द्वारा नहीं हो सकता। समझौता और

संगठन ये दो हथियार हैं नव - निर्माण के। नये समाज के लिए सबको अपना - अपना नजरिया बदलना होगा------` जहाँ तक अम्माँ का सवाल है, अम्माँ इन्हें नाली में पड़े हुए भी नहीं देखेंगी।` यही अपने समाज के, अपने वतन के, अपने दौर के प्रति सच्चा और ईमानदारी कर्तव्य है।

॥ स न्द र्भ ॥

१- मोहन राकेश : अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ-१२
२- - वही - पृष्ठ-१४
३- - वही - पृष्ठ-१५
४- - वही - पृष्ठ-१५
५- - वही - पृष्ठ-१७
६- तिलक राज शर्मा : अपने नाटकों के दायरे में : मोहन राकेश : पृष्ठ-२०
७- मोहन राकेश : अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक : पृष्ठ-१७
८- - वही - पृष्ठ-२२
९- - वही - पृष्ठ-२४
१०- - वही - पृष्ठ-२६
११- - वही - पृष्ठ-३४
१२- डा० रीता कुमार माथुर : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में : पृष्ठ-३२०-३२१
१३- मोहन राकेश : अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा तथा बीज नाटक : पृष्ठ-३४-३५

।। विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज ।।

' अपाहिज ' शब्द अपने शरीर के जिस स्थूल अर्थ का बोध कराता है— ' तीन अपाहिज ' (सन् १९६३) में यह जीवन की निष्क्रियता का पर्याय बन गया है— क्योंकि तभी समकालीन जीवन के तनाव और घात - प्रतिघातों का अहसास सम्भव बन पाता है। इसका नवीन प्रयोग देश की विलासी मनोवृत्ति और निष्क्रियता की सूक्ष्म अभिव्यंजना के लिए किया गया है, जिसमें किसी पर न तो व्यक्तिगत आक्षेप है, न स्वयं को उससे अलग सच्चा और ईमानदार मानने की प्रवृत्ति, बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों पर आलोचना का कड़ा प्रहार है। ' तीन अपाहिज ' में नाटक की नवीन सम्भावनाओं के तमाम द्वार खुल जाते हैं।

' तीन अपाहिज ' नाटक की प्रमुख विशेषता है— अपने संक्षिप्त आकार में बोलचाल का विस्तार। " अनुभूतियों के इस घेराव में कोई एक अनुभव नहीं है, पर एक व्यापक अनुभवजन्य संवेदना है, जिसे घुमा - फिराकर लेखक विभिन्न प्रकार से किन्तु उत्तेजनाहीन रूप में अभिव्यक्त करता है। व्यापकता के कारण इस संवेदना का विशेष सम्बन्ध शहरों के निम्न वर्ग से है, जिनकी चेतना संवेदना का सरोकार रोजमर्रा के सन्दर्भों, स्थितियों और तनावों से होता है। "[1] देश एवं समाज की विसंगत स्थिति, अशान्त वातावरण और उन सबके बीच मानव जीवन की निष्क्रियता के संश्लिष्ट एवं जटिल रूप को एक साथ ठंडी भाषा में व्यक्त करना आम रचनाकार के वश की बात नहीं। ' तीन अपाहिज ' का कोई भी संवाद ऐसा नहीं जिसमें अतिरंजना, भावुकता, रूमानियत, परम्परित एवं आलंकारिक भाषा का बोझ हो। उदाहरण के रूप में किसी भी संवाद को लिया जा सकता है—

' गल्लू : तो जाने की क्या जरूरत है, यहीं से सुन लो।

कल्लू : यहीं से।

गल्लू : हाँ यहीं से। गुलब्बो जब रशीदन को डाँटती है तो यहाँ साफ़ सुनाई पड़ता है।

कल्लू : वह भाषण है, डाँट नहीं है।

गल्लू : सुनने में सब एक से होते हैं। फ़र्क़ मानो तो है, न मानो

तो नहीं ।' २

सक्रिय कर्म से बचने का उपाय भाषण के अलावा और क्या हो सकता है ? एक भाषण ही आज की सत्ता के पास ऐसा विकल्प है जिसके माध्यम से स्वर्णिम भविष्य का लालच देकर आवाज को बन्द किया जा सकता है। वह नहीं जानती कि समकालीन जनता भाषण को डाँट (' सुनने ------- नहीं ') से अधिक नहीं समझती । समझने के बावजूद निष्क्रिय है यह दूसरी बात है। ' तो जाने की क्या जरूरत है, यहीं से सुन लो ' समकालीन अव्यवस्था और विसंगति का विरोध निष्क्रियता द्वारा करना कोई माने नहीं रखता । ' यहीं से ' वाक्य आश्चर्य का बोध कराता है, जिसकी स्थिति पहले (' तो --- लो ') वाक्य से विरोधात्मक है। भाषण की सार्थकता यथास्थान सुनने में है। जहाँ से गलत का विरोध किया जा सकता है। दोनों के बीच से अर्थ का दूसरा रूप जो प्रस्फुटित होता है वह यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जो अव्यवस्था दिनोंदिन बढ़ती जा रही है उसका निदान सक्रियता और त्याग द्वारा किया जा सकता है। वाक्य का कोई भी कोण अर्थ की दृष्टि से निष्क्रिय नहीं है। इसकी महत्ता गुणात्मक तब हो जाती है जब भाषा सामान्य जन जीवन से जुड़ी हो । रचनाकार की इस प्रवृत्ति को डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने पहचाना है, बिना पक्षपात के— ' भाषा के स्तर पर विपिन बेहद सपाट होने की कोशिश करते हैं और यही है उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि क्योंकि ' हरकत ' का व्यापार इस प्रसंग पर ऊँचे डग भरता है।' ३

बोलचाल की शब्दावली का असीम प्रयोग भुवनेश्वर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल जैसे अनेक रचनाकारों ने किया है, किन्तु इनकी नाट्यभाषा में क्रोध, आक्रोश एवं विरोध की गर्माहट है, ठंडापन नहीं । यदि भुवनेश्वर की नाट्यभाषा का मिज़ाज ठंडा रहा होता तो वह सीमातीत सफलता प्राप्त करते । विपिन अग्रवाल ने भुवनेश्वर की कमी को पहचाना और अपने नाटकों में उसका रंचमात्र संस्पर्श नहीं होने दिया । ' तीन अपाहिज ' के प्रस्तुत उद्धरण में जीवन की थकान और निष्क्रियता के साथ जैसे भाषा भी निष्क्रिय हो गई है, परन्तु शारीरिक तौर पर, अर्थ समृद्धि की दृष्टि से नहीं । एक - एक शब्द की गहराई में डूबने पर सर्जनात्मक अर्थ-मणि की प्राप्ति होती है।

जीवन जितना निष्क्रिय है भाषा उतना ही सक्रिय। बोलचाल की शब्दावली में प्रवाह की शर्त को रचनाकार ने अस्वीकार नहीं किया है। यदि भाषा सक्रिय है तो उसमें अर्थ के विभिन्न स्तरों का प्रवाह है। 'तीन अपाहिज' में संवादों की शुरुआत बड़ी साधारण ढंग से होती है, किन्तु वह नदी की लहर के सदृश अर्थ की परतों को विभिन्न दिशा में प्रवाहित करके रचनाकार के वक्तव्य तक पहुँचा देता है—

'खल्लू : हम कब आज़ाद हुए ?
कल्लू : वही टिल्लू की उम्र समझ लो।
खल्लू : कोई दस साल का होगा ; कुछ ऊपर।
कल्लू : और क्या।
खल्लू : तो आज़ाद अभी बच्चा है। हम बच्चा कैसे बन सकते हैं।
गल्लू : आज़ाद बच्चा नहीं, देश है।
खल्लू : देश बच्चा कैसे बन सकता है।
कल्लू : अपनी किस्मत से।' ४

खल्लू का साधारण प्रश्न 'हम आज़ाद कब हुए' हमें आज के गतिहीन जीवन का अहसास कराता है। आज़ादी मिलना महत्वपूर्ण बात है, पर उसके बाद दस वर्षों का समाप्त होना बहुत सामान्य बात है—जैसे बच्चे की उम्र, समय व्यतीत होने की पहचान जिसके शरीर द्वारा होती है। 'तो आज़ाद अभी बच्चा है। हम बच्चा कैसे बन सकते हैं' आज़ादी हमारे देश का एक ऐतिहासिक मोड़ है, जिसके साथ भारतीयों की समस्त आशायें एवं आकांक्षायें जुड़ी थीं। स्वातन्त्र्योत्तर परिस्थिति और अधिक जटिल होती गई। परिवर्तन के नाम पर निराशा हाथ लगी। काल के विकराल जाल में सभी आशायें एवं आकांक्षायें प्रतिक्षिप्त हो गईं। जो था वह भी नहीं रहा। रचनाकार के शब्दों में— 'हम जो थे वह बने भी हैं और उसमें विश्वास भी नहीं करते। हर चुनौती के मौके पर स्वार्थ को दरी के नीचे दबा देते हैं। हम अप्रामाणिक और झूठे पड़ते जा रहे हैं। आत्मविश्वास खो बैठे हैं। भविष्य से डरते हैं। बार-बार चेतावनी देते हैं कि अभी हमारे दरवाजे पर भविष्य ने नहीं खटखटाया है। उसे अभी मत बुलाओ। रुको। अभी भविष्य उधार लिया हुआ लगता है। पचास साल बाद शायद ऐसा नहीं होगा। इस प्रकार

हम यह तो मानते हैं कि पचास साल बाद हमारी नियति वही है, पर अभी नहीं। इसलिए उधर जाने से रोकते हैं, पहाड़ के साथ रुकने को बैठ जाने को, निष्क्रियता को चुनते हैं।"[५] स्वातन्त्र्योत्तर भारत की समस्त समस्यायें स्वतन्त्रता से पल्लवित हुई हैं इसलिए उससे जुड़ी हुई हैं। आशाओं का लुटना और उसकी निराशा में परिणत होने की पीड़ा प्रत्येक नागरिक को है। चाहे लल्लू हों या कल्लू "देश बच्चा कैसे बन सकता है — अपनी किस्मत से "— में स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारतीय मनःस्थिति का सजीव चित्रण है। देश का बच्चा बनना उसकी बाल्य प्रवृत्ति का प्रतीक है जिसके भागीदार सभी व्यक्ति हैं— कमोवेश रूप में, इसलिए दायित्व भी सामूहिक है। "अपनी किस्मत से" वाक्य मनोवैज्ञानिक है। आज व्यक्ति को अपने आप पर विश्वास नहीं है, तो कर्म पर विश्वास कैसे हो सकता है? अन्त में हारकर वह सब कुछ किस्मत पर थोप देता है।

स्वतन्त्रतापूर्व विरोध की स्थिति खुलेआम थी, स्वाभाविक थी, और तब की बातें इतनी चोट नहीं करती थीं, मन पर। सभी अंग्रेजों के आधीन थे। उनके अस्तित्व को इनकार किया जा चुका था, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद की सामाजिक जड़ता और व्यवस्था की अमानुषिकता सत्ता के उत्तरदायित्वहीन रवैये के कारण निष्पन्न हुई है। ऐसे में तीव्र गति से बढ़ती हुई सामाजिक विसंगतियों का प्रभाव सामाजिक चेतना पर अपने क्रूर रूप में पड़ता है और यहीं से अन्तर्विरोध की विभिन्न डालियाँ पनपती हैं—

"गल्लू : हम लोग जब मिलकर बैठते हैं तो लड़ते क्यों हैं?

लल्लू : क्योंकि हम आज़ाद हैं, हि, हि, हि - - - । (अपने किये मज़ाक पर कुछ ही खुश होता है, पर औरों को गम्भीर देखकर सहसा हँसी रोक लेता है)।"[६]

रचनाकार की दृष्टि यहाँ समकालीन जीवन के विविध रूपों, उनके बिखराव और छोटे - मोटे पाखण्डों पर अलग - अलग न होकर उनके संश्लिष्ट रूप पर है, क्योंकि यह उसकी सीमा है— नाटक के सूक्ष्म आकार को देखते हुए। कहने भर के लिए देश आज़ाद है, एक है, किन्तु इसके बाद का संघर्ष आज़ादी के स्थूल अर्थ का

अहसास कराता है— 'क्योंकि हम आज़ाद हैं, ही, ही, ही - - - ।' यहाँ तीखे व्यंग्य का उभार पात्रों की सर्जनात्मक क्षमता में बाधक हो सकता था, किन्तु रचनाकार की दृष्टि अन्त में बड़ी सावधानी से अर्थ गाम्भीर्य पर केन्द्रित हो जाती है। इस व्यंग्य का उद्देश्य हास्य मात्र तक सीमित नहीं है और न तो सामूहिक दोषारोपण की शैली है। रचनाकार इस दोष में अलग नहीं, शामिल है। व्यंग्य मिश्रित हास्य योजना के बीच से आत्मालोचन शैली के सूक्ष्म और सार्थक मार्ग की तलाश की जाती है— सहसा गम्भीर होकर। डॉ० चतुर्वेदी ने इस नाटक की विशेषताओं को बड़ी गहनता से पहचाना है— " 'तीन अपाहिज' शीर्षक नाटक में अपेक्षया संक्षिप्त आकार में सारे देश की थकान और निष्क्रियता को बड़े सूक्ष्म ढंग से व्यंजित किया गया है, जिसमें परस्पर या सामूहिक दोषारोपण नहीं, सच्चे और निरावेग आत्मालोचन का स्वर सुनाई पड़ता है।"[७] भुवनेश्वर की नाट्यभाषा में अनुभूति का तीखापन भले ही है, किन्तु आत्मालोचन की प्रवृत्ति उनमें नहीं है।

'तीन अपाहिज' नाटक के सजीव चित्रण में द्वन्द्वात्मक शैली का उपयोग किया गया है। इस द्वन्द्व की भाषा में किसी प्रकार का आक्रोश और तीखापन नहीं है, बल्कि अनुभूति का निरावेग स्वर है। यहाँ आक्रमण का तेवर नहीं है, जितना सामाजिक समस्याओं की जटिलता को समझने की सक्रिय कोशिश। कल्लू, लल्लू और गल्लू तीनों एक दूसरे के दोस्त हैं। यह दोस्ती स्वातन्त्र्योत्तर कालीन एकता का प्रतीक है। पात्रों के बाह्य द्वन्द्व में देश का अन्तर्द्वन्द्व व्याप्त है। यह द्वन्द्वात्मक शैली नाटक को प्रभावशाली बनाने के साथ - साथ उसमें घटित घटनाओं के प्रति विश्वास जगाकर समकालीन विसंगतियों का अहसास सच्चे अर्थों में कराती है। वास्तव में समाज और जीवन के अन्तर्विरोधों का चित्रण करने के लिए इस शैली का नाटक से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। इसलिए आधुनिक नाटककारों ने इसे अनिवार्य शर्त माना है—

'गल्लू : तुम मेरी जगह बैठ गये हो।
लल्लू : और तुम मेरी।
गल्लू : तो उठो।
लल्लू : क्यों ?

गल्लू : जगह बदलो ।

सल्लू : हाँ, बदलो (पर उठता कोई नहीं ।)

कल्लू : मैं उधर दूसरी ओर आके बैठ जाऊँ तो तुम लोग अपनी - अपनी जगह पर हो जाओगे । ` ८

समकालीन समाज में उत्तरदायित्व को न समझने की पीड़ा है और यही विसंगतियों के मूल में रहा है । गल्लू और सल्लू का संवाद ` तुम मेरी जगह बैठ गये हो ` ` और तुम मेरी ` समकालीन व्यवस्था की स्थिति को चरितार्थ करता है । दोनों दूसरे के कर्तव्य को जानते हैं, किन्तु अपने कर्तव्य को नहीं । ` हाँ बदलो(पर उठता कोई नहीं ( ) यदि व्यक्ति अपने कर्तव्य को महसूस कर उसका पालन करे तो समकालीन समस्याओं का निराकरण अधिक से अधिक हो सकता है यह चिन्ता आज के सन्दर्भ में रचनाकार की प्रमुख है । ` मैं उधर दूसरी ओर आकर बैठ जाऊँ तो तुम लोग अपनी - अपनी जगह पर हो जाओगे ` यह कल्लू द्वारा कथित संवाद रचनाकार के समझौतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है । ` तीन अपाहिज ` में ठंडे और निरावेग स्वर द्वारा भाषा के इस रूपान्तरण ने नये नाटक की संवेदना को नये ढंग से संचालित किया है ।

स्वतन्त्रता के पूर्व सब कुछ गलत ही गलत था, जिससे जनता साक्षात्कार करती थी, किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् समकालीन परिस्थितियों ने अजीब पशोपेश और भ्रम में डाल दिया है, जिसके बारे में एक निश्चित निर्णयात्मक दृष्टिकोण नहीं है—

` गल्लू : फिर ग़लत हो गया ।

सल्लू : सही क्या था ? (दोनों कल्लू की ओर देखते हैं ।)त्र

कल्लू : जो पहले था वह अब नहीं है । न सही, न ग़लत ।

गल्लू : न सही, न ग़लत । (दुहराता है, मानो समझने का प्रयत्न कर रहा हो ।)

सल्लू : तो अब क्या है ? (दोनों कल्लू की ओर देखते हैं ।)

कल्लू : जो है । ` ९

समकालीन जीवन की विसंगतियों का अंकन आधुनिक रचनाकारों ने अपने-अपने ढंग से किया है। वस्तु के इस नये यथार्थ रूप को उद्घाटित करने के लिए नाटकीय स्थिति और उसके भाषिकविधान का विसंगत रूप कम महत्त्वपूर्ण नहीं, पर समकालीन जीवन का विसंगत होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे सामाजिक जीवन में सम्बन्धों की स्थिति, व्यवहार का रूप एवं मूल्यों की स्थिति अनिश्चित हो गई है और उनके बाह्य रूप के आधार पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आज की स्थिति है— रचनाकार के शब्दों में— ' न सही, न गलत। ' अतः विसंगत भाषा द्वारा आज की विसंगतियों की गहराई तक पहुँचा जा सकता है। ' जो है। ' में सामाजिक यथार्थ का व्यापक रूप समाहित है। अतः रचनाकार ने समसामयिक यथार्थ— भ्रष्टाचार, विकृतियाँ, कुरूपतायें, संस्थाओं का यन्त्रीकरण, अमानवीकरण, उद्देश्यहीनता, कुंठा— आदि के प्रति तटस्थ भाव से चिन्तन किया है। आक्रोश के तीखेपन से अलग होकर यह चिन्तन अधिक श्लाघ्य बन पड़ा है। इसके मूल में जो मनोवैज्ञानिक कारण है उसका विश्लेषण डॉ० रघुवंश ने किया है— ' आक्रोश के साथ तटस्थ होने की बात बेमानी है और तटस्थता के बिना वैज्ञानिक दृष्टि का विकसित होना सम्भव नहीं है। ' १०

यदि रचनाकार ने तनावपूर्ण एवं अन्तर्विरोधग्रस्त प्रसंगों को और अधिक विस्तार से व्यंजित किया होता तो शायद यह नाटक अत्यधिक प्रभावशाली बना होता, किन्तु इसके मूल में उसकी सीमा रही है। नाटक के दायरे के अनुसार उसकी सफलता एवं असफलता देखी जा सकती है। कथा प्रवाह में आकर्षण है, जो प्रेक्षक को बाँधकर समसामयिक विसंगतियों को समझने के लिए विवश करता है, पर बेचैन नहीं।

' बल्लू : लाओ।

गल्लू : (थैली बाँधते हुए) क्या ?

बल्लू : चने, और क्या।

गल्लू : क्या करोगे ?

खल्लू : क्या करेंगे ।

गल्लू : हाँ । (शरीर में तनाव आ जाता है ।)

खल्लू : (हारकर) खायेंगे ।

गल्लू : (उत्तर सुनकर शिथिल हो जाता है ।) तुम्हारा मतलब है दोस्त की गैरहाज़िरी में हम उसका माल उड़ायेंगे ।` ११

स्वार्थों की पूर्ति हेतु एक दूसरे से आगे बढ़ने की ललक में सामाजिक रिश्ते विकृत होते जा रहे हैं । जो बाह्य रूप में एक दूसरे के दोस्त हैं ; उनके अन्दर भी उसे लूटने की इच्छा है— ` तुम्हारा मतलब है दोस्त की गैरहाज़िरी में हम उसका माल उड़ायेंगे ` । समकालीन व्यक्तियों की मनोवृत्ति है, जिसको नाटककार तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखता है और गल्लू के संवाद में इस दृष्टि की पुष्टि होती है । यहीं आत्मालोचन का नवीन स्वर मुखरित होता है । क्या ? प्रश्न के उत्तर में व्यक्त ` बने, और क्या ` संवाद में तीव्र स्वर है । थैली बांधना, शरीर में तनाव आना, शिथिल होना आदि हरकत की भाषा है, जिसने सर्जनात्मक अर्थ को द्विगुणित किया है ।

` तीन अपाहिज ` नाटक की भाषा अनुभव सम्प्रेषण का विश्वसनीय और प्रमाणीकृत रूप प्रस्तुत करती है । वह न तो साहित्यिक हिन्दी है और न ठेठ हिन्दी । विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच भाषा सम्प्रेषण का रूप जैसा होना चाहिए वैसा है । जो जितना प्रयास करता है, उसके लिए उतनी ही अर्थ की असीमित सम्भावनायें हैं । ऐसे में रचनाकार का मौन हो तो, भाषा हो तो, या हरकत हो तो, सब में प्रेक्षक अर्थ की सक्रिय धारा को प्राप्त कर लेता है । प्रस्तुत उद्धरण में मौन की मुखर प्रवृत्ति को देखा जा सकता है—

` खल्लू : पर कद्दू गाली नहीं है ।

गल्लू : जब एकता को जाती है तो है ।

खल्लू : क्या जाती है ?

गल्लू : एकता । (खल्लू न समझने का सिर हिलाता है ।)

कल्लू : (जरा खाँसकर) यानी हम सब एक हैं ।)

खल्लू : (उंगली उठाकर बैठे लोगों को गिनने लगता है) एक, दो,---

कल्लू : खल्लू ! (खल्लू का गिनना बीच ही में रुक जाता है) गिनती में एक नहीं भावना में ।

खल्लू : भावना में ? कल्लू तुम फिर - - - ।

गल्लू : इसमें क्या मुश्किल है । समझते कुछ हो नहीं । जा की रही भावना जैसी - - - । अपनी राष्ट्रभाषा का शब्द है ।' १२

खल्लू के संवाद में एक, दो--- के बाद का मौन आज की एकता पर व्यंग्य बाण है । खल्लू एक सामान्य व्यक्ति है जो अर्थ की गहराई को समझ नहीं पाता है । वह 'एकता' शब्द के बाह्य रूप को समझने का प्रयास करता है । जब देखने में सब एक दूसरे से अलग हैं तो एक कैसे हो सकते हैं ? पर सच माना जाय तो सामाजिक बिखराव ही एकता की भावना को विलुप्त करता है । 'गिनती में नहीं भावना में' समकालीन सन्दर्भ में बहुत ऊँचा आदर्श है, जो खल्लू जैसे अनेक लोगों के लिए असह्य हो जाता है । ऐसे में उसका स्वर तेज हो जाता है--- 'भावना में ? कल्लू, तुम फिर - - -' । में जहाँ समसामयिक यथार्थ का आग्रह है, वहीं शब्दों के सरल प्रयोग का अनुरोध है । 'भावना' जैसे शब्द का उच्चारण सरल (शब्द) नहीं है, इसलिए रचनाकार कुछ पल के लिए चिन्तित है और उसे 'रामचरितमानस' जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ की पंक्ति द्वारा समझाने का प्रयास करता है--- 'जा की रही भावना जैसी ।' कद्दू में आधुनिक जीवन की निष्क्रियता व्यंजित है । 'जब एकता की जाती है तो है' निष्क्रिय व्यक्ति अल्प संख्या में नहीं है, बल्कि उनका योग अधिक संख्या में है । इस योग की व्यंजना कद्दू द्वारा की जा रही है । '(ज़रा खाँसकर) यानी हम सब एक हैं' खाँसने के बाद बात को व्यक्त करना जैसे जबर्दस्ती बात को निकालने की कोशिश है । 'हम सब एक हैं' में व्यंग्य की भंगिमा है, जिसमें सब एक जैसे आलस्ययुक्त एवं निष्क्रिय हैं ।' एकता ! एकता का रूप यहाँ पारम्परिक नहीं है इसलिए वह आश्चर्य उत्पन्न करती है । विसंगत परिस्थितियों में गुणात्मक योग देने वाले व्यक्तियों की एकता को कद्दू बिम्बित करता है तो गाली है । साधारण से साधारण वस्तु में भी रचनाकार समतलीय अर्थ को त्यागकर उसकी गहराई में से सशक्त अर्थ निकालता है । यह

समसामयिक सतु साहित्य की आवश्यकता है और यहाँ वह निष्क्रिय व्यक्तियों (हम सब एक हैं।) से स्वयं को अलग करता है।

'तीन अपाहिज की भाषा को अधिक शक्तिशाली बनाने में हरकत की भाषा का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है, जिसका श्रवणेन्द्रिय की अपेक्षा चाक्षुष संवेदनों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इसीलिए नाटक की उपयोगिता उसके अभिनेय होने में मानी गई है, क्योंकि तभी उसके दोनों रूपों (श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरेन्द्रिय) को ग्रहण किया जा सकता है।' किसी शब्द के शाब्दिक अर्थ को बिना मन ही मन उच्चारण किये या सुने, देखने भर की प्रेरणा से तत्काल समझा जा सकता है -[13] यह मन्तव्य नाटक की भाषा के उस सन्दर्भ में ही व्यक्त किया गया है। भारतेन्दु और प्रसाद के बाद इधर के नये नाटकों में आधुनिकता की नयी सीढ़ी के सूत्रपात में हरकत की भाषा का अमिट प्रभाव है। इस सम्बन्ध में भुवनेश्वर अग्रणी हैं, किन्तु हरकत के सक्रिय प्रयोग के कारण विपिन अग्रवाल पीछे नहीं हैं। प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है, शब्दों की भाषा की धारा के साथ हरकत की अर्थ-धारा कैसे प्रवाहित होती है—

'कल्लू : हाँ और लड़ाई का टूटा पहिया फिर कभी नहीं जुड़ता।

सल्लू : वह रुकवा नहीं जाता, हि, हि, हि - - - ।

(कल्लू नाराज होकर उसकी ओर देखता है। सल्लू सहसा चुप हो जाता है।)

गल्लू : शाम हो गई।

(तीनों आँखों पर हाथ की छाया कर दूर एक ओर देखते हैं, मानों उधर शाम हो।)

कल्लू :
सल्लू } हाँ शाम हो गई।

गल्लू : (उठकर मंच के सामने वाले भाग में एक ओर जाता है। झुककर ज़मीन से चुटकी भर धूल उठाकर उड़ाता है।) हवा चल रही है।

सल्लू : (उठकर गल्लू के पास जाता है। उसकी नक़ल करता हुआ धूल उठाकर उड़ाता है।) हवा चल रही है।' [14]

कल्लू का नाराज होकर लल्लू की तरफ देखना और सहसा उस (लल्लू) का चुप हो जाना, सामाजिक विसंगत यथार्थ की तरफ ध्यान आकृष्ट करता है। गल्लू द्वारा `शाम` होने का बोध कराने पर, कल्लू और लल्लू को तो विश्वास नहीं होता है, किन्तु खुद गल्लू को भी अपनी बात पर विश्वास नहीं होता है। बात पर विश्वास करने के लिए तीनों एक साथ प्रयास करते हैं— `तीनों ------- हाँ`— यह मानव - मन की बड़ी अजीब स्थिति है। आज व्यक्ति को अपने आप पर विश्वास नहीं रहा, तो दूसरों की बात पर कैसे विश्वास हो सकता है? चाहे वह जितना अभीष्ट क्यों न हो। `शाम` शब्द का यहाँ विस्तृत अर्थ है— मानव संस्कृति, सभ्यता एवं मूल्यों के ह्रास का यहाँ सन्ध्या काल है। यदि व्यक्ति कर्तव्य के प्रति सजग नहीं होगा तो इस सन्ध्या की परिणति रात्रि हो सकती है। गल्लू (उठकर मंच के सामने वाले भाग में एक ओर जाता है। झुककर ज़मीन से चुटकी भर धूल उठाकर उड़ाता है।)— इस हरकत की भाषा में बड़ी गहरी अर्थ-व्यंजना है, जिसकी सम्पूर्णता को शब्द भाषा द्वारा प्रभावशाली रूप से नहीं रूपायित किया जा सकता था। व्यक्ति भौतिकता की अन्धी दौड़ में सम्मिलित होता जा रहा है, और सामाजिक व्यवस्था दिन - प्रतिदिन विसंगत स्थिति का अहसास गहरा करती जा रही है। इसकी वायु कम होने के बजाय तेज होती जा रही है। विडम्बना यह है कि व्यक्ति इस जटिल यथार्थ को देख रहा है, महसूस कर रहा है, किन्तु अलग नहीं हो पा रहा। ऐसे में यदि एकता है तो संस्कृति एवं मूल्यों के पारम्परिक रूप को पतनोन्मुख करने में। तभी एकता का अर्थ हास्यास्पद हो गया है— `वह एकता नहीं जानता, हि, हि, हि - - - ।` हास्य - योजना स्थूल अर्थ - संगति मात्र की प्रतीति नहीं कराती है, बल्कि समसामयिकता का गहन बोध कराती है। वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने सोद्देश्य हास्य को विस्तार से व्यक्त किया— `कहा गया है कि एब्सर्ड नाटककार करुण प्रहसन अथवा हास्यपूर्ण त्रासदी की सहायता से मनुष्य को उसके वास्तविक चेहरे का आभास देता है। प्रहसन की चीनी में अहसास की गोलियाँ देकर एब्सर्ड नाटककार प्रेक्षक से विसंगत को स्वीकार करने का अनुरोध करता है। एब्सर्ड मंच इस विश्वव्यापी स्वतः स्फूर्त आन्दोलन का एक अंग है जिसमें जीवन की अपरिहार्य विडम्बनाओं तथा उसकी निरर्थकता से क्षुब्ध मनुष्य की असहाय स्थिति का चित्रण ही प्रधान

उद्देश्य है। "[१५] शब्द भाषा और हरकत भाषा दोनों का संयुक्त रूप, सम्पूर्ण अर्थ-सम्पदा को सम्प्रेषित करता है। रचनाकार का मन्तव्य — "ज़रूरत पड़ने पर मुद्रा (हरकत) और संवाद (भाषा) को आपस में पिरोया जा सकता है, उनका आमना - सामना कराया जा सकता है "[१६] सिद्धान्त मात्र बनकर नहीं रह गया, बल्कि 'तीन अपाहिज' में इसका सशक्त प्रयोग किया गया है। डुग्गीवाला, भुनभुने वाली ('ताँबे के कीड़े') की तरह है, जिसका आगमन किसी विशेष प्रयोजन के लिए होता है— प्रश्न उत्पन्न करने के लिए, वातावरण में तनाव लाने के लिए, व्यंग्य एवं समसामयिक स्थितियों की आलोचना के लिए प्रस्तुत उद्धरण द्वारा इस चरित्र को समझने में अधिक सहायता मिलती है—

'वह पूछता है : "माचिस है ?" प्रश्न सुनकर दोनों फिर सीधे बैठ जाते हैं। वह कंधे उचकाकर बीड़ी जेब में वापस डालता है।'[१७]

पात्र के पास प्रश्न है, किन्तु उस प्रश्न का उत्तर किसी के पास नहीं है। "माचिस है ?" प्रश्न यहाँ बहुअर्थी है— पहला अभिधात्मक और दूसरा सामाजिक समस्याओं को समाप्त करने का उपाय। प्रश्नात्मक वाक्य की मुद्रा आज की तमाम उन समस्याओं पर सोचने के लिए विवश करती है, जिनसे मानव समाज एवं संस्कृति त्रस्त है। उत्तर के अभाव में प्रश्न फिर उसी के पास चला जाता है, जिसके मस्तिष्क से उपजता है— 'वह कंधे उचकाकर बीड़ी जेब में वापस डालता है। इस तरह हरकत और भाषा का सुसंगत सामन्जस्य कम ही देखने को मिलता है।

'तीन अपाहिज' की भाषा इतनी ठोस एवं क्षिप्र है कि कहीं उसका रूप शिथिल होकर प्रेक्षक के लिए बोझिल नहीं बन पाया है। रचनाकार की प्रकृति यहाँ मितव्ययी है, जिसमें आद्योपान्त अधिक से अधिक अर्थ - व्यंजना की छटपटाहट है—

'गल्लू : नक़ल बुरी चीज़ है।
सल्लू : तो कल्लू वैसी भाषा क्यों बोलता है ?
गल्लू : उसकी मर्ज़ी। अब हम आज़ाद हैं।
सल्लू : वाक़।'[१८]

' नकल बुरी चीज़ है ' वाक्य में समकालीन घुटनपूर्ण परिवेश की आलोचना है, जिसकी धुरी नकल पर टिकी हुई है। स्वतन्त्रता पूर्व परिवर्तन की जितनी आशायें थीं, स्वतन्त्रता के बाद भी आशायें बनकर रह गईं। सब अंग्रेज द्वारा बनाये मार्ग का अनुसरण करने लगे। नकल करने की प्रवृत्ति ने समाज को समस्याओं से आच्छादित कर दिया। पहली पंक्ति में उपदेश वृत्ति है। ' उसकी मर्ज़ी। अब हम आज़ाद हैं ' में व्यंग्य है। आज़ादी के बाद स्थिति सुधरनी चाहिए, क्योंकि आज़ादी के पहले (परतन्त्र) व्यक्तियों की यही आकांक्षा थी, जबकि आज की परिस्थिति ठीक विपरीत है। जैसे आज़ादी का अर्थ हो गया है— सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र, गलत सही का विवेक बिना किये। अतः ऐसा महसूस होने लगा है जैसे समकालीन विसंगतियों में आज़ादी का प्रेरक महत्त्व है। ' ख़ाक ' शब्द में गल्लू के कथन (' उसकी - - - हैं ') को अस्वीकारने की भरपूर कोशिश है। आज़ादी के बाद भी व्यक्ति सुखी नहीं है, तो उस आज़ादी का क्या अर्थ है। प्रस्तुत उद्धरण में अर्थ के कई धरातलों का स्पर्श बड़ी क्षिप्र गति से होता है।

' तीन अपाहिज ' की शब्दावली में अर्थ का बहुआयामी स्तर है इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु संवादों के बीच की रिक्ति सर्जनात्मक अर्थ से आप्लावित है। संवादों के बीच अन्तराल में कुंठाओं की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उसमें सामाजिक विघटन के मार्मिक चित्र उकेरे गये हैं। प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य है—

' लल्लू : ओ भई दोस्त के लिए क्या नहीं करना पड़ता।
गल्लू : नहीं तो दोस्ती से फ़ायदा क्या।' १६

पहली पंक्ति की लय में व्यंग्य की स्थिति है। ' क्या ' में लय का आरोह है, जिसमें अर्थ-विस्तार समाविष्ट है। बड़प्पन की इच्छा की संतुष्टि होने पर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अपना अहसान थोपता है। दोनों संवाद के बीच से अर्थ का जो उत्स प्रवाहित होता है वह यह कि — स्वतन्त्रता जैसे कुछ सीमित कार्यों को करने के लिए मिली है, जिससे भ्रष्टाचार अबाध गति से बढ़ता है। दूसरे का धन और अधिकार— चाहे वह दोस्त क्यों न हो— अवसर पाते ही परोपकार की ओट में छीन लेना चाहता है। ' नहीं तो दोस्ती से फ़ायदा क्या।' में समकालीन

व्यक्तियों की मनोवृत्ति है। दोस्त हो या शासक सबका अन्ततः एक उद्देश्य है— शोषण।

एब्सर्ड नाटक में नाटककार की चिन्ता चरित्र की विशिष्टता की ओर न होकर सर्जनात्मक भाषा पर पूर्णतया केन्द्रित हो जाती है, जिसमें शब्दों को चमकाने की ललक नहीं। डॉ० गिरीशकुमार माथुर ने इस स्थिति को व्यक्त किया— "विसंगत नाटकों में नायक अनायक अर्थात् आवारा, अपराधी, बूढ़ा, कैदी और अपाहिज होता है। विसंगत नाट्य परम्परा की भाँति नाटककार का ध्यान कथ्य व चरित्र की विशिष्टता की ओर न होकर संवादों पर है, जहाँ परिवेश के विसंगत बोध को नाट्यात्मक शब्दों से प्रभावशाली रूप में मूर्त किया गया है।" २० "तीन अपाहिज" में वस्तु, प्रत्यय-बोध और रचनाकार का अनुभव सबका सब भाषिक है और उसी स्तर पर क्रियाशील होता है। इस आयामात्मक अनुभव में आधुनिक युग का व्यापक जीवन संश्लिष्ट है। जैसे उनकी घटनायें, स्थितियाँ एवं पात्र सामान्य हैं, वैसे उनकी भाषा भी उसी स्तर से ग्रहण की गई है। आज की आवश्यकता को देखते हुए रचनात्मक ईमानदारी है कि साधारण से साधारण वस्तुओं के समतलीय रूप में जटिल रूप की तलाश और उनका विसंगत रूप— विधान से संयोजन। "तीन अपाहिज" की भाषा में इस आवश्यकता को महसूस किया गया है और उसका संगत प्रयोग है।

"तीन अपाहिज" में महाभारतकालीन चरित्र का स्मरण आदर्श स्थापित करने के लिए नहीं किया गया है। जहाँ प्रसाद में आदर्श चरित्र की ओर प्रेक्षक का ध्यान आकृष्ट करके कर्तव्य की ओर उन्मुख करने की प्रवृत्ति है, वहीं विपिन अग्रवाल ने ऐसे चरित्र का प्रयोग विसंगत और काल्पनिक छद्म के यथार्थ रूप को व्यंजित करने के लिए किया है—

"सल्लू : क्या नाम लिया तुमने ?
गल्लू : अभिमन्यू।
सल्लू : तुम जानते हो उसे, बड़ा अजीब नाम है।
गल्लू : अभिमन्यू महाभारत में था, लड़ाई में उसका पहिया टूटा था।
सल्लू : अच्छा, लड़ाई में क्या पहिया टूट जाता है ? (कल्लू की

ओर देखता है ।)

कल्लू : हाँ, और लड़ाई का टूटा पहिया फिर कभी नहीं जुड़ता ।` २१

` बड़ा अजीब नाम है ` में समकालीन विसंगति की झलक है, जिसमें सब कुछ अजीब है । उसका मूल्यांकन करके सही गलत के किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता । ` अजीब ` का प्रयोग आश्चर्य उत्पन्न करने के लिए किया गया है और उससे नासमझ की स्थिति भी जुड़ी हुई है । ` लड़ाई में क्या पहिया टूट जाता है ` मानव की जड़ बुद्धि को व्यंजित करता है । पहिया का टूटना मूल्यों के ह्रास की स्थिति है । वैज्ञानिक दृष्टि से शब्दों के सही प्रयोग के कारण रचनाकार अन्य यथार्थवादी नाटककार— भुवनेश्वर, राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल से अपना अलग अस्तित्व स्थापित करता है । ` पहिया टूटा ` में यान्त्रिकता और यथार्थ के बीच सामन्जस्य उपस्थित किया गया है, जिसके द्वारा शब्द - संघटन में परिवर्तन हुआ है । ` हाँ और लड़ाई का टूटा पहिया फिर कभी नहीं जुड़ता ` इस अन्तिम संवाद के द्वारा रचनाकार समसामयिक परिवेश और महाभारतकाल की स्थिति को बड़ी कलात्मकता के साथ जोड़ देता है । इस तरह स्वातन्त्र्योत्तर कालीन पीड़ा एक अन्य रूप में साकार हो उठती है । स्वतन्त्रता के पहले और बाद में मूल्यों और संस्कृति की जो क्षति हुई थी, उसका रूप आज (ज्यों का त्यों) मन को कहीं अधिक ठेस पहुँचाता है । ` कभी नहीं जुड़ता ` में भविष्य के प्रति उदासीनता व्यक्त की गई है । पूरा का पूरा बिम्ब आज के जटिल परिवेश को सजीव रूप में पेश करता है ।

` तीन अपाहिज ` में बिम्ब की भाषा कहीं दूसरी जगह से नहीं आई है, बल्कि साधारण पात्र की साधारण शब्दावली के बीच से बिम्ब पुष्पित हो जाता है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में— " यों नये कवि में बोलचाल और बिम्ब एक दूसरे से निकट रूप में जुड़े रहते हैं, तब बिम्ब— प्रक्रिया अधिक सहज हो जाती है " —२२ बिम्ब के सहज रूप को समझा जा सकता है । बिम्ब के लिए साइकिल से लेकर, पहिया, चना, थैली, कद्दू तक कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं है । रचनाकार इस विश्वास को दृढ़ करता है कि रचनात्मक प्रतिभा साधारण से साधारण वस्तुओं में से अर्थ ढूँढ़ लेती है । ऐसी सर्जनात्मक प्रतिमा को प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता

है—

\+ + + +

उधर से एक युवक अस्त-व्यस्त, हाथ में पुरानी साइकिल लिए हुए, जिसके पिछले पहिये में बिल्कुल हवा नहीं है, आता है। इन लोगों को देखकर रुक जाता है।)

युवक : यहाँ कहीं पन्चर की दूकान है। ` २३

पुरानी साइकिल का बिम्ब सामाजिक विघटन को बिम्बित करता है, जो बिल्कुल पन्चर हो गई है। पहिये में हवा न होना, प्रगति की अवरुद्ध स्थिति है। भुवनेश्वर ने भी साइकिल का बिम्ब प्रस्तुत किया, किन्तु आज उसका चरम रूप है। इससे अधिक इस साइकिल की स्थिति नहीं बिगड़ सकती। युवक के अस्त - व्यस्त रूप में अस्त - व्यस्त समाज रूपायित हो उठता है। ` यहाँ कहीं पन्चर की दूकान है ` में पीड़ित मानव का कारुणिक अंकन है और यहां रचनाकार भुवनेश्वर की दिशा की झलक देता है— एक सीमा तक।

साधारण से साधारण वर्णन में बिम्ब - रूपायन की सक्रिय कोशिश है। भाषा के इस रचना - विधान में सामान्य एवं साधारण जीवन की अर्थवत्ता सामाजिक विसंगतियों के साथ एकाकार हो उठती है—

` कल्लू : हाँ— मेरी एक थैली गिर - - - (उसकी नज़र ज़मीन पर पड़ी थैली पर पड़ती है। उसे उठाकर देखता है।) लाता है चने सब गिर गये।

खल्लू : कहाँ ? (इधर - उधर देखते हुए।)

कल्लू : यहीं कहीं। शायद ज़मीन पर।

गल्लू : ज़मीन पर।

कल्लू : हाँ, ज़मीन पर।

गल्लू : (खुश होकर, मानो कोई बहुत अच्छा विचार आ गया हो।) तब तो यहाँ चने की फ़सल उग आयेगी।

खल्लू : तुमने बहुत बड़ा काम किया है।

गल्लू : तुम्हारे लिए आराम हराम है। ` २४

सामान्य जन जीवन से व्यापक स्तर पर जुड़े ऐसे बिम्ब में अर्थ की लहर नहीं, बल्कि अर्थ का स्रोत शान्तिपूर्वक गतिशील होता है। व्यक्ति अपने इष्ट लोगों द्वारा बड़ी निर्ममता से ठगा जाता है, किन्तु समझ नहीं पाता।

।। स न्द र्भ ।।

१- डॉ० भूपेन्द्र कलसी : स्वातन्त्र्योत्तरकालीन नाटक : पृष्ठ - ३०५

२- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - १५

३- डॉ० सत्यव्रत सिन्हा : नवरंग : पृष्ठ - २०

४- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - १६

५- - वही - लोटन की भूमिका : पृष्ठ - १० - ११

६- - वही - तीन अपाहिज : पृष्ठ - १३

७- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - १६

८- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - १६

९- - वही - पृष्ठ - २०

१०- डॉ० रघुवंश : समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता : पृष्ठ - ४६

११- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - २१

१२- - वही - पृष्ठ - १७

१३- आई०ए० रिचर्ड्स : (अनु०- निर्मला जैन) नयी समीक्षा के प्रतिमान (नि० कविता का विश्लेषण) पृष्ठ - ८०

१४- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - १८ - १६

१५- वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता : नटरंग अंक - ४१ - १९८३ पृष्ठ - ६१

१६- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू : पृष्ठ - ६८

१७- - वही - तीन अपाहिज : पृष्ठ - १४

१८- - वही - पृष्ठ - १२

१९- - वही - पृष्ठ - २३

२०- (श्रीमती) डा० रीताकुमार : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : पृष्ठ - ५३

२१- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अपाहिज : पृष्ठ - १६

२२- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : नयी कविताएँ : एक साक्ष्य : पृष्ठ - १२२

२३- डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : तीन अध्याय : पृष्ठ - १५

२४- - वही - पृष्ठ - २४

२५- श्रीराम वर्मा : नया प्रतीक अंक - ५ मई १९७८ (नि० शब्द और दूसरे माध्यम : संक्रमण एवं विस्तार : पृष्ठ - ६८

।। भीष्म साहनी : हानूश ।।

नये नाटककार में सृजनात्मकता के नये क्षितिज की ओर बढ़ने की उत्कट आकांक्षा है, प्रतियोगितात्मक दौड़ है और सशक्त क्षमता भी । इसके मूल में है कालान्तर में सामाजिक संकट का परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप, जिसके कारण नयेपन की आस्था उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है । नये नाटक को स्फूर्ति दी है भीष्म साहनी के नाटक ` हानूश ` (सन् १६७७) ने । पूँजीवादी व्यवस्था सम्पूर्ण शक्तियों सहित अपने अहम की रक्षा के लिए जिस छल-छद्म का सहारा लेकर एक संघर्षरत कलाकार— जो ऐसी व्यवस्था को संतुष्ट करने में लगा है— का शोषण कर रही है ` हानूश ` इसका जीता - जागता उदाहरण है ।

बोलचाल की शब्दावली में सहज संवाद होते हुए भी भीष्म साहनी का अनुभव संसार यथार्थ के ऊपरी सतह का संस्पर्श नहीं करता । वे श्रम से जुड़े हुए साधनहीन मानवीय जिजीविषा और व्यवस्था के बीच से अपने सर्जन का स्रोत निकालते हैं । ` हानूश ` नाटक में एक (मध्य) वर्ग विशेष के अनुकूल व्यवस्थित धारणा यदि मिलती है तो अन्तर्विरोधों एवं समसामयिक सामाजिक सन्दर्भों के संश्लेषण में । शोषक एवं शोषित की वर्गगत भूमिका रचनाकार की चेतना को उद्भासित करती हैं । इन शोषक एवं शोषित वर्गों के आधार पर समकालीन जगत का निर्मम सत्य रचनाकार ने अपनी चेतना में आत्मसात् किया है, जिसमें तमाम विकृत सन्दर्भ गतिशील हो उठे हैं । सामाजिक अन्तर्विरोध का एक रूप बोलचाल की शब्दावली में बिम्बित हुआ है—

` जान : एक घड़ी बनाने में उसे सतरह बरस लग गये - - -

टाबर : यह मैं सुन चुका हूँ । पहली घड़ी बनाना मुश्किल होता है । पहली घड़ी बन जाये तो दूसरी घड़ी बनाने में आधा वक्त भी नहीं लगता । हम उससे कहेंगे, जो घड़ी बनाओ, आधा मुनाफा तुम्हारा आधा नगरपालिका का ।

जान : नगरपालिका को इसमें क्यों लाते हो ? हम तीन - चार आदमी मिलकर घड़ीसाजों की एक जमात बना लेते हैं और हानूश के साथ मुआहदा कर लेते हैं ।

टाबर : यह भी ठीक है। नगरपालिका को इसमें लाये ही नहीं। लेकिन नगरपालिका के जरिये हमें चुंगी वगैरा की सहूलियतें मिल जायेंगी।`[१]

बोलचाल की लय में लिखे हुए संवाद इतिवृत्तात्मक अर्थ - सम्प्रेषण नहीं करते, बल्कि उनमें अनुभव की एक आन्तरिक लय है, जिसमें घुलकर वे सूक्ष्म तार्किकता में परिवर्तित हो जाते हैं। भौतिकतावादी समाज में कला की उपयोगिता अर्थ तक सीमित रह जाती है। ऐसे समाज में कला धन प्राप्त करने का स्रोत है न कि सामाजिक परिवर्तन की शक्ति—` हम उससे कहेंगे, जो घड़ी बनाओ, आधा मुनाफा तुम्हारा आधा नगरपालिका का। जान, टाबर जैसे अनेक कूटनीतिज्ञ कलाकार को सहयोग देने में भले पीछे रहें, किन्तु शोषण में पीछे नहीं। ` नगरपालिका को इसमें क्यों लाते हो ? हम तीन चार आदमी मिलकर घड़ीसाजों की एक जमात बना लेते हैं और हानूश के साथ मुआइदा कर लेते हैं — में समझौतावादी राजनीतिज्ञों की स्वार्थी वृत्ति है, जिसमें मानवता समाप्त हो गई है। यह समसामयिक समाज की सच्चाई है। ` मुआइदा ` उर्दू शब्द है, जिसमें पर्याप्त अर्थ सम्पदा है।

` हानूश ` नाटक इस बोध को बराबर जागृत करता है कि समाज के भीतर छोटे - छोटे अन्तर्विरोध, अमानवीय व्यवहारों को सहते चले जाने के नियतिवाद और एक गहन उदासी में जो अनुभव बन रहे हैं उनके मूल में एक साधन सम्पन्न सामन्त वर्ग है। जिस अनुभव को रचनाकार आत्मसात् करता है उसे उसी तात्कालिकता से सर्जन कर, समसामयिक सामाजिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। शब्दों के संतत प्रयोग में भाषा की सहजता और प्रवाह देखा जा सकता है—

` गौर किया जायेगा। तुम दस्तकार लोग इतने उतावले क्यों हो रहे हो ? नगरपालिका पर घड़ी लगाने में भी उतावले, और अब दरबार में नुमाइन्दगी के लिए भी उतावले। हर बात वक्त माँगती है। हम गौर करेंगे।

सहसा क्रुद्ध हो उठते हैं

किसकी इजाज़त से तुमने यहाँ पर घड़ी को लगा दिया है ? हमें इसकी इत्तला क्यों नहीं दी गयी ? दस्तकार हमसे छिपकर काम करने लगे हैं। यह हमारी रियासत है। यहाँ हमारा हुक्म चलता है, हमारी इजाज़त के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता। दस्तकार सरकश हो रहे हैं। हम इसकी इजाज़त नहीं देंगे।`[२]

इसमें पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था में मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन की स्थिति को रेखांकित किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जनता को उपेक्षित समझा जाता है— चाहे वह कलाकार हो या अकर्मण्य। यदि उसे प्रचार और कार्य की सहमति मिलती है तो सामन्ती आचार संहिता के कटघरे के अन्दर। हानूश के विसंगतिपूर्ण जीवन से यह समझा जा सकता है— "दस्तकार हमसे छिपकर काम करने लगे हैं। यह हमारी रियासत है।" सत्ता सामन्ती शिकंजे की मजबूती का अहसास जनता को बार - बार कराती है, जिसमें साँस लेना भी दूभर है— "यहाँ हमारा हुक्म चलता है, हमारी इजाज़त के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता।" दूसरा अहम् मुद्दा इस उद्धरण का यह है कि व्यापक अनुभवों के होते हुए भी रचनाकार सत्ता से जुड़कर सामाजिक यथार्थ को व्यक्त नहीं कर सकता। आपात्काल के दौरान- जब सबकी जुबान पर ताले लगे हुए थे—का यह यथार्थ रूप है। रचनाकार इस समाज से अलग नहीं, पर सच्चा रचनाकार संघर्षशील होता है और रास्ते में आयी बाधाओं को साफ करता चलता है। भारतेन्दु, प्रसाद, राकेश जैसे रचनाकार प्रमाण हैं, जिनके रचनात्मक मार्ग में व्यवस्था की अमानवीयता कभी भी बाधक नहीं बनी। "गौर", "नुमाइन्दगी," "इजाज़त," "सरकश" जैसी शब्दावली अर्थ प्रवाह की वृद्धि करती है न कि उसे अवरुद्ध।

संकट ग्रस्त जीवन झेलती जनता समय - समय पर व्यवस्था को पुरस्कार और प्रतिष्ठा का सुअवसर देकर सम्मानित करती है—

"हुज़ूर, यह घड़ी मैंने बनायी है, महाराज्य के राज्य की शान बढ़ाने के लिए, महाराज्य के कदमों पर अपनी नाचीज़ ईजाद भेंट करने के लिए, महाराज की इस राजधानी की रौनक बढ़ाने के लिए। - - -" [२]

पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था और साधनहीन जनता के बीच का टकराव "हानूश" में आद्योपान्त है, जिसमें किसी की अपनी स्वतन्त्र अस्मिता नहीं। रचनाकार की सबसे पहली लड़ाई व्यवस्था से होती है स्वतन्त्र लेखन के सन्दर्भ में। तभी उसके महद्म् उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। यह कथ्य घटना - प्रवाह को पुष्ट करता चलता है।

कलाकार जहाँ अपनी कला द्वारा समाज को नयी दिशा देना चाहता है,वहीं अनेक चुनौतियाँ उत्पन्न कर लेता है और व्यवस्था की आँख की किरकिरी बन जाता है। क्रान्तिकारी संवेदना के मूल्यों पर ही कला का जीवन टिका होता है। यहाँ कला संघर्ष को जन्म देती है—

`तुमने घड़ी तो बनायी है, मगर माफ करना, इन नये - नये आविष्कारों में यह बहुत बड़ी बुराई है कि इनसे मन की अशान्ति बढ़ती है। झगड़े उठ खड़े होते हैं।` ४

धार्मिक वर्ग घड़ी के बन जाने पर खुश नहीं है, क्योंकि नये आविष्कार से ईश्वर की सत्ता में लोग सन्देह न पैदा करने लगें इससे वह बराबर भयभीत है। समसामयिक व्यक्ति की संवेदना दिन - प्रतिदिन धार- विहीन होती जा रही है और समाज रिश्तों से निर्लिप्त। व्यक्ति का अकेलापन, निराशा, आन्तरिक और बाह्य संघर्षों में निरन्तर वृद्धि और उससे जूझने के बीच हतोत्साहित प्रवृत्ति— इन सभी स्थितियों के तनाव के कारण रचनाकार की प्रकृति संघर्षशील होती है। संघर्ष उसका अपना होता है, किन्तु परोक्ष में। इस संघर्ष से उत्पन्न तनाव, विरोधाभास सशक्त भाषा से जुड़कर प्रभावित करता है, सन्तुलित करता है और गलत कार्यों के प्रति आक्रोश पैदा करता है। `हानूश` नाटक यदि प्रभावशाली बन पड़ा है, तो अपनी द्वन्द्वात्मक शैली के कारण। यह शैली संवादों की विश्वसनीयता को कम नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। चूँकि समकालीन रचनात्मक धरातल में ऐसी मानसिकता को उत्साहित किया जाता रहा है, जो संघर्षशील है, इसलिए भीष्म साहनी का कटु अनुभव सर्जन - क्षेत्र में लक्षित होता है। `हानूश` में द्वन्द्व की मुद्रा तीन रूपों में है— व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक। व्यक्तिगत स्तर पर एक कलाकार की हतोत्साहित भावना का द्वन्द्व मुखर है, पारिवारिक स्तर पर आर्थिक विपन्नता से संत्रस्त एक कलाकार के पारिवारिक तनावों का चित्रण है, सामाजिक स्तर पर सत्ता और जनता की लड़ाई है। हानूश का संघर्ष एक कलाकार के जीवन का शाश्वत संघर्ष है—

`मैं बाजार में तालों के बारे में ही बात करने जा रहा था जब रास्ते में

बूढ़ा लोहार मिल गया और नयी कमानी दिखाने अपने साथ ले गया । आप चिन्ता नहीं कीजिए भाई साहिब, तालों की बिक्री का इन्तजाम मैं कर लूँगा । मैं आज ही कुछ ताले बेच आऊँगा । जब तक बिकेंगे नहीं, घर नहीं लौटूँगा । पर आप कहीं से घड़ी के लिए माली इमदाद का इन्तज़ाम ज़रूर करवा दीजिए । मैं यहाँ तक पहुँचकर इस काम को कैसे छोड़ दूँ ।` ५

यहाँ व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव और कर्म का द्वन्द्व उपस्थित है—`मैं आज ही कुछ ताले बेच आऊँगा । जब तक बिकेंगे नहीं, घर नहीं लौटूँगा । पर आप कहीं से घड़ी के लिए माली इमदाद का इन्तज़ाम ज़रूर करवा दीजिए ।` एक कलाकार की आर्थिक समस्या का दुखानुभूतिपूर्ण अंकन है, पर एक की समस्या न बनकर पूरे मध्यवर्ग की बन जाती है । `मैं यहाँ तक पहुँचकर इस काम को कैसे छोड़ दूँ ?` में तनाव है ।

`हानूश` नाटक में जीवन है और उसका आरोह, अवरोह, किन्तु उसमें संगीत की कोमलता नहीं । जीवन में संघर्ष है, तो उसके विषादन्त की तीव्र अनुभूति भी । `हानूश` में संघर्ष है और उसकी शाश्वतता का दबाव भयावह रूप के साथ-साथ जीवन की कठोरता सम्प्रेषित करता है । जीवन कठिन और संघर्षपूर्ण है और उसका रूप इतना विकृत और भयावह है कि जीवन की कोमलतायें नष्ट होती जा रही हैं इसका कटु अनुभव यहां होता है ।

`मेरा बेटा सर्दी में ठिठुरकर मर गया । जाड़े के दिनों में सारा वक्त खाँसता रहता था । घर में इतना ईंधन भी नहीं था कि मैं कमरा गर्म रख सकूँ । हमसायों से लकड़ी की खपच्चियाँ माँग - माँगकर आग जलाती रही ।

† † † †

छः महीने तक मैं बच्चे को छाती से लगाये घूमती रही । किधर गया मेरा मासूम बेटा ? मैं इसकी घड़ी को क्या करूँ ? क्या मैं इससे कुछ अपने लिए माँगती हूँ ? मैंने अपने लिए कभी इससे जेवर माँगा है या कपड़ा माँगा है ? पर कौन माँ अपने बच्चों को अपनी आँखों के सामने ठिठुरता देख सकती है ?` ६

यह मध्यमवर्गीय जीवन का ऐसा कटु यथार्थ है, जो मन को उद्विग्न कर देता है। `मेरा बेटा सर्दी में ठिठुर कर मर गया ` गरीबी का विकराल रूप है। ` ठिठुर ` ठेठ शब्द है, जो स्थिति को बिम्बांकित करता है। यहाँ ` मर ` शब्द एक बार आया है, किन्तु उसका भयावह रूप शुरू से अन्त तक छाया रहता है। ऐसी टूटी - फूटी गृहस्थी जहाँ सर्दी से ठिठुरते बच्चे के कमरे को गर्म करने के लिए ईंधन भी नहीं है फिर दवा और भोजन का बन्दोबस्त हो सकना कहाँ तक सम्भव है? एकतरह से देखा जाय तो इनका जीवन निम्नवर्ग से भी बदतर है, क्योंकि निम्नवर्ग में चीज माँगने से प्रतिष्ठा पर किसी तरह की आँच नहीं आती। वहाँ प्रतिष्ठा नहीं इसलिए कुप्रभाव पड़ने का कोई प्रश्न नहीं। ` हमसायों से लकड़ी की सपचियाँ माँग - माँगकर आग जलाती रही ` गरीबी का रूप कितना क्रूर हो सकता है यह इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसमें मध्यमवर्गीय परिवार की आर्थिक दशा, माँ के वात्सल्य की मार्मिक स्मृतियों के सहारे बिम्बित होती है। ` छः महीने तक मैं बच्चे को छाती से लगाये घूमती रही ` यहाँ माँ और बेटे के सम्बन्ध का कारुणिक बिम्ब है और ` किधर गया मेरा मासूम बेटा ?` में माँ का बेटे के लिए विलाप। निःस्वार्थ समर्पण यदि है, तो यहाँ। ` मैं इसकी घड़ी को क्या करूँ ? क्या मैं इससे अपने लिए कुछ माँगती हूँ ? मैंने अपने लिए कभी इससे ज़ेवर माँगा है या कपड़ा माँगा है ?` इस पंक्ति की भाषा पहले की पंक्तियों की अपेक्षा अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है, जिसमें खीझ है, क्योंकि घड़ी (का निर्णायक कानून) बेटे को गोद से छीन लेने के लिए उत्तरदायी है। बेटे को खो देने की पीड़ा माँ के मन को एकदम खोखला कर देती है, ऐसी पीड़ा वह फिर - फिर स्वीकार नहीं कर सकती। यह दहशत उसके मन को अधिक बेचैन कर देती है। ` पर कौन माँ अपने बच्चों को अपनी आँखों के सामने ठिठुरता देख सकती है ?` इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण जीवन और क्या हो सकता है? सम्बन्धों में दरार अभाव की प्रबल शक्ति के कारण है, जिसमें स्वातन्त्र्योत्तर बाह्य शक्ति भी शामिल है। इतना अभावमय जीवन स्वतन्त्रता के बाद है इसलिए मन को अधिक ठेस पहुँचता है। माँ अपने ऊपर बड़ा से बड़ा कष्ट झेल सकती है, किन्तु मासूम बच्चे के कोमल हृदय पर दुःखों की चोट उसके लिए असह्य हो जाता है। इसमें सम्बन्धों की मार्मिकता है, पवित्रता है, जिसके आगे सभी रिश्ते तुच्छ हैं।

'हानूश' नाटक में इस बात का बराबर बोध होता है कि इस समाज के भीतर बर्बरता, सब कुछ सहते चले जाने के निरर्थकबोध और एक गहन उदासी के मूल में साधन सम्पन्न सधा है। मानवीय प्रताड़ना के यथार्थ उद्घाटन से अधिक रचनाकार की खीझ उस मध्यमवर्ग के प्रति है, जो अत्याचार के चक्र की धुरी को समझता है और रोष प्रकट करता है, पर फिर पहले की तरह सब कुछ कार्यान्वित होने लगता है। अमानवीयता के इस बाह्य और स्थूल रूप से अधिक भयानक यह समझौतावादी दृष्टि है। यहाँ एकतरफ अवसाद, कटुता और क्रोध है, तो दूसरी तरफ सहनशील प्रकृति की विवशता—

'कात्या : चाल रही हो या नहीं रही हो। हम गरीब लोग बादशाहों से टक्कर नहीं ले सकते हैं। हमारी बिसात ही क्या है?

एमिल : बादशाह सलामत ने नगरपालिका की माँगें मंजूर कर लीं और घटा भी बता दिया, उधर हानूश को अन्धा बनाकर गिरजेवालों को भी खुश कर दिया।

कात्या : मैं हमेशा कहती रही, देखो हानूश, अपनी चादर देखकर पैर फैलाओ। नहीं तो, बड़े लोगों की लड़ाई में तुम कुचले जाओगे।

एमिल : वह न भी पड़ता तो भी कुचला जाता।

कात्या : क्यों कुचला जाता? क्या तुम कुचले गये हो? क्या बूढ़ा लोहार कुचला गया है? क्या हानूश का बड़ा भाई कुचला गया है?

एमिल : या तो तुम कहो कात्या, कि हानूश घड़ी ही नहीं बनाता। घड़ी बनाने का काम हाथ में ही नहीं लेता। कुफ़्लसाज था, कुफ़्लसाज ही बना रहता। लेकिन जो लोग कोई नया काम करेंगे, उन्हें तरह-तरह की जोखिमें तो उठानी ही पड़ेंगी। हानूश को अन्धा ही इसलिए किया गया कि महाराज, सौदागरों और गिरजेवालों के बीच अपनी ताकत को बनाये रखें।' ७

रचनाकार यदि सत्ता के अमानुषिक रूप को व्यक्त करता है, तो दबे सताये लोगों की पीड़ा से मुख नहीं मोड़ता। सत्ता के इस अमानुषिक व्यवहार के प्रति घृणा की दृष्टि से देखा गया है न कि प्रशंसात्मक दृष्टि से। जनता सत्ता की

राजनीतिक चाल को उभार रही है—

" बादशाह सलामत ने नगरपालिका की मांगें भी मंजूर कर लीं और घता भी बता दिया, उधर हानूश को अन्धा बनाकर गिरजेवालों को भी खुश कर दिया।" किसी भी तन्त्र और स्थितियों का विभक्त रूप होता है— मुख्य और गौण। इन स्थितियों को किसी के साथ शामिल करके वह अपनी दृष्टि को निष्पक्ष बनाना चाहता है— अपनी साख बनाने के लिए। राजा द्वारा हानूश को दरबारी बनाया जाना और दूसरी तरफ सजा देना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। दरबारी बनाकर और सजा देकर राजा व्यापारी वर्ग, धार्मिक वर्ग दोनों को खुश करता है। स्वतन्त्रता के बाद समस्त आशाओं एवं आकांक्षाओं के समाप्त हो जाने की चिन्ता हर जागरूक व्यक्ति को होती है— चाहे वह साधारण व्यक्ति हो या कलाकार। आज़ादी से जोड़कर देखने पर इसी कारण आधुनिकता का रंग अधिक गहरा लगने लगता है। मध्यकाल में मानवता का संहार अधिक हुआ इसमें कोई सन्देह नहीं। इस सन्दर्भ में नरनारायण राय की दृष्टि असंगत नहीं— " जीवन के अनुभवों को विभिन्न स्तरों पर भोगने वाले हानूश का जीवन सत्य एक कलाकार का जीवन सत्य बन जाता है, जिसका वैचारिक मूल्य भूत, भविष्य और वर्तमान — त्रिकाल में समान महत्त्व रखता है।[302] जनता यदि सत्ता से टकरा नहीं पाती तो गरीबी के कारण— हम गरीब लोग बादशाहों से टक्कर नहीं ले सकते हैं। हमारी बिसात ही क्या है?" " बिसात " शब्द में गरीबी के साथ - साथ शोषित जन का असंगठित रूप प्रतिपाद्य है। यहाँ रचनाकार का जूझना शोषित — पीड़ित वर्गों की शक्तियों के पुनर्गठन के लिए है। शोषक के अमानवीय रुख के प्रति शोषित जब सक्रिय नहीं हो पाता तो अपने ऊपर दोषारोपण में उसकी खीझ और निराशा व्यंजित होती है—
" मैं हमेशा कहती रही, देखो हानूश, अपनी चादर देखकर पैर फैलाओ। नहीं तो बड़े लोगों की लड़ाई में तुम कुचले जाओगे।" " चादर देखकर पैर फैलाने " वाली कहावत यदि सटीक है, तो शोषित वर्ग के लिए। शोषक के लिए नहीं, क्योंकि लड़ाई होती है बड़े लोगों में, पर आँच आती है छोटे लोगों पर। यह आज का कटु यथार्थ रूप है, जिसको देखा गया है, अनुभव किया गया है और सक्रिय चिन्तन किया गया है। उद्विग्नता की स्थिति में प्रश्नवाचक वाक्यों की अधिकता और

स्वाभाविक बन जाती है— 'क्या कुचला जाता ? क्या तुम कुचले गये हो ? क्या बूढ़ा लोहार कुचला गया है ? क्या हानूश का बड़ा भाई कुचला गया है ?' एक के बाद एक प्रश्नवाचक वाक्यों में खीझ क्रमशः तीव्र होती जाती है। 'लेकिन जो लोग कोई नया काम करेंगे, उन्हें तरह - तरह की जोखिमें तो उठानी ही पड़ेंगी—' रचनाकार यदि सच्चा है, तो पूरे समाज में छाये आतंक से निरपेक्ष नहीं रह सकता। यद्यपि वह समझता है कि यह कोई सरल कार्य नहीं, बल्कि जोखिम का कार्य है, पर उसे कोई परवाह नहीं।

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भों की जानकारी के बिना 'हानूश' में निहित स्तरात्मक बोध नहीं हो सकता, जिसमें हानूश जैसे सफल कलाकार को पुरस्कृत किया जाता है— एक तरफ अन्धा और दूसरी तरफ दरबारी बनाकर। यहाँ व्यक्ति कोरा भाग्यवादी नहीं, बल्कि संघर्ष और कठिन परिश्रम से जूझने के बाद जब पीड़ा पाता है, तब स्वयं को भाग्य के हवाले कर देता है। यह विडम्बना नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ?

'कात्या : एक दिन तो मरना ही है, आगे क्या और पीछे क्या। परदेस में मरने से अपने घर में मरना अच्छा है। और फिर - - -

एमिल : फिर क्या, कात्या ?

कात्या : अब हानूश राजदरबारी है, दरबार में उसकी इज्जत है। अच्छा खाता है, अच्छा पहनता है। घर तो बना हुआ है।

एमिल : कात्या, क्या तुम नहीं देख पातीं, हर बार जब दरबार लगता है तो वह दरबार में जाने से इन्कार कर देता है ? वह बौखला उठता है, उसे रातों नींद नहीं आती। और तुम तरह - तरह के वास्ते डालकर उसे दरबार में भेजती हो।

कात्या : धीरे - धीरे उसका मन ठिकाने आ जायेगा। किस्मत के साथ कोई कितनी देर तक लड़ सकता है, एक दिन तो झुकना ही पड़ता है।'[६]

रचनाकार यथार्थ दुनिया से निस्पृह नहीं। आज के समय में संघर्ष का रूप,

जो दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, उसे विचलित करता है। संघर्ष करते - करते जब व्यक्ति ऊब जाता है, तब जीवन और मृत्यु में कोई खास अन्तर लक्षित नहीं होता— ' एक दिन तो मरना ही है, आगे क्या और पीछे क्या ?' जन्मभूमि से अलग मृत्यु हो यह स्वीकार नहीं— ' परदेस में मरने से अपने घर में मरना अच्छा है'— इसमें देशप्रेम की भावना से रचनाकार आप्लावित है, क्योंकि ' परदेस ' की अपेक्षा ' अपने घर ' में लय की तीव्रता है। तद्भव शब्द की सार्थकता ' परदेस ' शब्द में देखी जा सकती है। ऐसे तमाम तद्भव शब्दों का सशक्त प्रयोग भारतेन्दु के ' अन्धेर नगरी ' में हुआ है— ' बसिये ऐसे देस नहिं, कनक वृष्टि जो होय। रहिये तो दुख पाइये प्रान दीजिए रोय ' १० अस्मिता की स्वायत्तता और व्यवस्था की क्रूरता के तनाव (क्षोभ) में जो सर्जनात्मक भाषा प्रसूत होती है, वह जटिल जीवन को आत्मसात् करके, किये गये अनुभव का परिणाम है। इस बात का अहसास रचनाकार ने स्वयं करवाया है— ' यह नाटक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, न ही इसका अभिप्राय घड़ियों के आविष्कार की कहानी कहना है। कथानक के दो - एक तथ्यों को छोड़कर लगभग सभी कुछ ही काल्पनिक है। नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास मात्र है।' ११ ये पंक्तियाँ अभिधात्मक हैं, पर अर्थ के विस्तार को सम्प्रेषित करने में पीछे नहीं— ' कात्या, क्या तुम नहीं देख पातीं, हर बार जब दरबार लगता है तो वह दरबार में जाने से इन्कार कर देता है ? वह बौखला उठता है, उसे रातों नींद नहीं आती। और तुम तरह - तरह के वास्ते डालकर उसे दरबार में भेजती हो।' जहाँ स्वतन्त्रता नहीं वहाँ भौतिकता मिट्टी के समान है। एक स्तर पर रचनाकार आज के समाज में भौतिकता के चकाचौंध के पीछे भागते लोगों की आलोचना कर जाता है। पूँजीवादी सामन्तशाही के पीछे कोई जबर्दस्ती दूसरों को ठेलता है स्वार्थवश तो ऐसी पंक्ति एक हथियार की तरह चोट करती है— ' और तुम तरह - तरह के वास्ते डालकर उसे दरबार में भेजती हो।' भाग्यवादी दृष्टि यहाँ अधिक स्पष्ट हो जाती है— ' धीरे-धीरे उसका मन ठिकाने आ जायेगा। किस्मत के साथ कोई कितनी देर लड़ सकता है, एक दिन तो झुकना ही पड़ता है।' भ्रष्टाचार और अमानवीयता को यदि

बढ़ावा देती है, तो भाग्यवादी दृष्टि, जिसमें सब कुछ सहकर व्यक्ति सामान्य हो जाता है और फिर उसके साथ चलने लगता है। रचनाकार भी अपनी किस्मत आजमा रहा है रचना द्वारा। सत्साहित्य से भटक गये राहगीर शिक्षा नहीं ग्रहण करते तो किस्मत का दोष है।

मध्यमवर्गीय जीवन का संक्रमण तमाम परेशानियों के ढेर से गुजर रहा है। समस्याओं का रूप दिन - पर - दिन विराट् होता जा रहा है। व्यक्ति सभी वस्तुओं से वंचित होता जा रहा है। यदि मिल रहा है तो समस्याओं का जाल, जिसमें वह छटपटा रहा है। ऐसे में कलाकार की स्थिति अधिक संकटग्रस्त है। कहीं वह गृहस्थी की छोटी - मोटी समस्याओं से जूझ रहा है, तो कहीं व्यवस्था की अन्धी दृष्टि से। हानूश घड़ी बनाने के पहले पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं से जूझता है, तो घड़ी बनाने के बाद सत्ता की अन्धी दृष्टि को सह रहा है। हानूश का व्यक्तित्व कई स्तरों पर विभाजित हो गया है—

'कात्या, कभी - कभी ऐसा ज़रूर होता है, मुझ पर जुनून - सा चढ़ जाता है। हर बार जब घड़ी बजती है तो मुझे लगता है, मेरे अन्धेपन का मज़ाक उड़ा रही है, जब बजती है तो लगता है सभी लोग हँसने लगे हैं, बादशाह अपने महल में, लाट पादरी अपने गिरजे में हँस रहा है। सभी हँस रहे हैं। और मुझपर एक अजीब पागलपन छाने लगता है।

थोड़ा रुककर

पर कभी - कभी, तुमसे क्या कहूँ, मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरी आँखें लौट आयी हैं, जैसे चारों ओर रोशनी छिटकी हुई है और मैं सब कुछ देख पा रहा हूँ, और मुझे लगता है जैसे मेरे हाथ फिर से घड़ी बनाने में लगे हुए हैं, और वह ऐसी घड़ी जो हर बार बजने पर मानो कह रही है कि हानूश न तो अन्धा हुआ है, न मरा है - - -' १२

हानूश घड़ी बनाता है (समाज को नयी चीज देने की) विभिन्न आशायें लेकर, किन्तु घड़ी बनाने के बाद ही उसका सब कुछ उजड़ जाता है— ' हर बार

जब घड़ी बजती है तो मुझे लगता है, मेरे अन्धेपन का मजाक उड़ा रही है। ' उसमें पूँजीवादी 'व्यवस्था' के अन्धेपन, जहाँ बुद्धि और विवेक का नामोनिशान नहीं, और कलाकार का संघर्ष है—' जब बजती है तो लगता है सभी लोग हँसने लगे हैं, बादशाह अपने महल में, लाट पादरी अपने गिरजे में हँस रहा है '— देखा जाय तो व्यवस्था की अपनी एक अलग दुनिया है, जिसकी प्रकृति है दूसरों को शोषित कर अपना पेट भरना। ' सभी हँस रहे हैं ' में इसी दुनिया के प्रति संकेत है। संघर्षों के विभिन्न स्तरों के बावजूद कलाकार का एक अपना संसार है, जिसमें वह समाज के यथार्थ का अनुभव करता है, चिन्तन करता है और उसे एक नया आयाम देता है। सत्ता ने हानूश को अन्धा भले कर दिया हो, पर रचनात्मक संसार में उसे कोई शक्ति पराजित नहीं कर सकती। रचनाकार के अन्दर विवेक की रोशनी है और उसके अन्दर चिन्ता है उस रोशनी को प्रसारित करने की। जैसा कि एक जिम्मेदार रचनाकार का दायित्व हुआ करता है। यदि वह अपने कर्म के प्रति सच्चा है तो कोई बाधा उसे रोक नहीं सकती— ' मुझे लगता है जैसे मेरे हाथ फिर से घड़ी बनाने में लगे हुए हैं, और वह ऐसी घड़ी जो हर बार बजने पर मानो कह रही है हानूश न तो अन्धा हुआ है, न मरा है - - - ' सच्चा रचनाकार अपनी रचना से हमेशा जिन्दा रहता है और समाज का मार्ग निर्देशन करता है। ' हानूश ' नाटक को रचनाकार ने अधिक से अधिक वाचाल बनाया है। उसके पास शब्दों की भरमार है। यथार्थ के अंकन में शब्द चाहे जितने खर्च हों, कोई चिन्ता नहीं, चिन्ता है तो अपनी बात सम्प्रेषित करने की।

वास्तविकता का चित्रण स्थिति गाम्भीर्य के कारण मर्म पर अधिक चोट करता है। ऐसे में गोविन्द चातक की अवधारणा में आरोप अधिक झलकता है— ' यहाँ तक कि सफल माना जाने वाला नाटक ' हानूश ' भी घड़ी के आविष्कर्ता के उत्साह और सत्ता के सामने उसकी त्रासद नियति की कहानी कहता लगता है। वस्तुतः अपनी औपन्यासिक वृत्ति के कारण भीष्म साहनी नाट्य स्थितियाँ, विसंगतियाँ, द्वन्द्वों और संकट के सघन क्षणों को नाटकीय ढंग से पकड़ने की क्षमता नहीं प्रकट कर पाते। '[१३] कथा तो पन्द्रहवीं शताब्दी के एक चैक लोहार की है ही, जो पहली मीनार घड़ी बनाने के साथ - साथ गरीबी की क्रूरता और सत्ता

की आकांक्षा को झेलता है। सत्ता द्वारा उसकी आँखें इसलिए निकलवा दी जाती हैं कि दूसरी घड़ी द्वारा यह किसी अन्य राज्य को गौरव प्रदान न करे जो इस राज्य को प्रदान किया है। इस घटना के अतिरिक्त कुछ है, जिसकी अनुगूँज एक दहशत के रूप में अवतरित होती है— 'हानूश' में। यह बात बराबर मन को विचलित करती है कि सत्ता के चंगुल में फँसा मानव क्या कभी मुक्ति पायेगा? उनके साथ कभी न्याय हो सकेगा? क्या ऐसी स्थितियों में जकड़े विभक्त वर्ग की छटपटाहट, तिलमिलाहट निराशा बनकर रह जायेगी? आखिर उसका आक्रोश सक्रियता की शक्ल अख्तियार क्यों नहीं करता? इसके लिए रचनाकार आगाह करता है, चुस्त करता है— शोषित एवं पीड़ित लोगों को। अतः 'हानूश' घटना प्रधान नाटक है इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन घटना में नाटकीय तीखेपन की अनन्त सम्भावनाएँ हैं।

कलाकार की वैयक्तिक पीड़ा को सामाजिक सन्दर्भ कहीं अधिक उलझा देते हैं। घड़ी के आविष्कार में हानूश को गिरजाघर और नगरपालिका वालों द्वारा जितनी मदद नहीं मिलती, उससे कहीं अधिक यातनापूर्ण जिन्दगी। स्तरात्मक अर्थ पर, नाटक के आर - पार देखने पर सब कुछ अव्यवस्थित नहीं हो जाता? प्रशासन के समक्ष किसी भी वास्तविकता, प्रामाणिक तथ्य और सत्य को स्थापित करने में बहुत बड़ी कीमत नहीं चुकानी पड़ती? इस पीड़ा की कठोरता कुछ कम हो जाती है, एक नया आविष्कारक और सिद्धान्त पालक बनने में। इसीलिए 'हानूश' सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देता है— 'जेकब चला गया ताकि घड़ी का भेद ज़िन्दा रह सके, और यही सबसे बड़ी बात है।' १४

'हानूश' में संघर्ष स्फीति है आज की मुद्रा स्फीति को देखते हुए। पर मुद्रा स्फीति की तरह वह खोखली नहीं। भाषा सक्षम है, किन्तु हरकत का तीखापन हतप्रभ। हरकत है, किन्तु अन्य नाटकों ('आधे अधूरे,' 'व्यक्तिगत,' 'तीन अपाहिज,') की तरह नहीं। इसके मूल में सम्भवतः आतंक रहा है। इसमें पात्र यथार्थ से इतने भयभीत एवं त्रस्त रहते हैं कि कुछ विशेष हरकत (जो स्वाभाविक है) के अतिरिक्त अधिक साहस नहीं कर पाते। संघर्ष के तीखेपन और यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति के समक्ष ये बातें गौण हो जाती हैं। इस सन्दर्भ से उद्भूत शंका

का समाधान हो जाता है। इन शब्दों में— ' संघर्ष - बिन्दु से शुरुवात की यह विशेषता भीष्म साहनी की अधिकांश कहानियों के साथ भी रही है, लेकिन नाटकों में यह विशेषता और अधिक कारगर है, हो सकती है। ' १५

हर घटना के पीछे तमाम सामाजिक विसंगतियां होती हैं, तब सत्य का रूप अधिक जटिल हो जाता है। इन सभी बारीकियों की सूक्ष्म पकड़ रचना को सशक्त बनाती है। हानूश को सजा देने का राज दोनों वर्गों (व्यापारी और धार्मिक) को खुश करना है। अविनाश चन्द्र के शब्दों में— ' उस दौर के बादशाह के लिए ऐसा करने की मजबूरी भी थी। कारण नाटक की घटनायें जिस मध्यकाल में घटती हैं, वह सामन्ती व्यवस्था के ह्रास के साथ ही एक नये व्यापारी वर्ग के उदय का काल था। '१६ ' हानूश ' में यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है शैवचैक के संवाद में—

' मुझे इस बात का बड़ा अफसोस है कि तुम टालमटोल की बातें कर रहे हो। अगर इस वक्त तुमने कमज़ोरी दिखाई और घड़ी को हाथ से जाने दिया तो लाट पादरी और सामन्त मिलकर तुम्हारी हस्ती को ही नेस्त - ओ - नाबूद कर देंगे। ' १७

व्यापारी वर्ग शुरू में ही अपने अस्तित्व के प्रति सतर्क है— ' लाट पादरी और सामन्त मिलकर तुम्हारी हस्ती को ही नेस्त - ओ - नाबूद कर देंगे। ' ' नेस्त - ओ - नाबूद ' उर्दू शब्द अर्थ की सम्पूर्णता को सम्प्रेषित करता है। सामाजिक विसंगतियों को बिना चकाचौंध, उसके यथार्थ पक्ष को लिया गया है— ' हानूश ' में।

व्यापारी वर्ग हमेशा भौतिकता को महत्व देता है जितना वह सोचता समझता है भौतिक इच्छाओं की पूर्ति मात्र के लिए। यदि एक तरफ धार्मिक वर्ग राजनीति करता है, तो दूसरी तरफ व्यापारी वर्ग। व्यापारियों की यह राजनीतिक दक्षता प्रारम्भिक काल में ही सामने आ जाती है—

' जार्ज : हानूश की एक जवान बेटी है, है न ?

जान : हाँ है, आगे कहो ।

जार्ज : उसका व्याह टावर के बेटे के साथ करवा दो ।

जान : फिर ? इससे क्या होगा ?

टावर : कुफ़ुलसाज की बेटी के साथ ?

जार्ज : टावर, अब वह कुफ़ुलसाज नहीं है, अब वह बहुत बड़ा घड़ीसाज है । दरबारी बनने वाला है ।

जान : फिर क्या होगा ? इससे क्या होगा ?

जार्ज : हानूश फिर घड़ीसाज़ों की जमात में शामिल हो जायेगा । वह फिर अपने पादरी भाई की भी न सुनेगा, वह अपनी बेटी की, और अपने दामाद की सुनेगा ।

जान : बड़ी दूर की कौड़ी फेंकी है जार्ज ।

जार्ज : तुम्हीं तो कहते हो कि व्यापारी को दूर की सोचनी चाहिए । और मैं तो आज से सौ साल बाद की भी सोच सकता हूँ । तब न गिरजे होंगे, न राजे होंगे । चारों ओर व्यापारी ही व्यापारी होंगे । तब सभी की बेटियाँ व्यापारियों से व्याही जा चुकी होंगी । हर बात में व्यापारियों की, पैसे वालों की चलेगी ।` १८

व्यापारियों का आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति विशेष आकर्षण है— ऐसे में वह परम्परा से निकलना चाहता है, तो अपनी उन्हीं आवश्यकताओं के तहत । तभी वह कहता है— ` अब वह कुफ़ुलसाज नहीं है, अब वह बहुत बड़ा घड़ीसाज है ।` ` फिर क्या होगा ? इससे क्या होगा ` में कार्य— कारण का सम्बन्ध है, यही कारण है कि दोनों वाक्य एक से होते हुए भी अर्थ - सम्प्रति में बाधक नहीं, बल्कि सहायक हैं । ` तब न गिरजे होंगे, न राजे होंगे । चारों ओर व्यापारी ही व्यापारी होंगे`। में भविष्य के प्रति आशावान दृष्टि व्यक्त की गई है । ` तब सब की बेटियाँ व्यापारियों से व्याही जा चुकी होंगी ` में तत्कालीन व्यापारियों की राजनीति के साथ - साथ व्यंग्य की तीक्ष्णता है । ` हानूश ` की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है, प्रस्तुत पंक्तियों में—` बिना राजनीतिक भाषणबाजी के यह मेहनतकश और सत्ताधारी के रिश्ते को और उसमें

निहित शोषण की बुनियादी प्रकृति को सामने लाता है, साथ ही वर्ग की एकता के भाव को रेखांकित करता है।"[१९] प्रस्तुत उद्धरण में व्यापारी वर्ग की मजबूत नींव सामने आती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'दूर की कौड़ी फेंकना' कहावत नाटक में अर्थ का सन्निवेश करती है।

नाटककार ने मध्ययुगीन परिवेश को दूषित करने वाले संघर्ष के विभिन्न स्तरों को मूल रूप में उठाया है— (हानूश) प्रमुख पात्र द्वारा। पारिवारिक और सामाजिक स्थिति उससे अलग नहीं, संश्लिष्ट है। विज्ञान जहाँ एक तरफ उपयोगी होता है, वहीं दूसरी तरफ उसमें समकालीन सामाजिक जड़ता की प्रवृत्ति को हटाने की क्षमता। यही कारण है कि 'हानूश' में प्रणीत यथार्थ का जटिल रूप अधिक विश्वसनीय बन सका है। इस गहन अनुभव के अंकन में कहीं आधुनिक संवेदना का आश्रय नाटक की भाषा को सर्जनात्मक बनाता है, तो कहीं व्यंग्य का तीखापन। हानूश की माँगे हुए कपड़ों द्वारा दरबार में जाने की खुशी अर्थ के कई स्तरों का मार्मिक संस्पर्श करती है—

'कात्या : भगवान चाहेंगे तो अब तुम्हें अपने कपड़े भी नसीब हो जायेंगे।
हानूश : कैसा है बिटिया? अच्छा है ना।
यान्का : बहुत अच्छा है।
हानूश : बढ़िया कपड़ों की अपनी ही शान है।

ऐंठकर घूमता है और आईने में अपना अक्स देखता है। मैं अब समझ सकता हूँ कि दरबारी लोग क्यों ऐंठ-ऐंठकर चलते हैं? क्योंकि उन्होंने बढ़िया कपड़े पहन रखे होते हैं।

कात्या : नहीं जी, क्योंकि वे दरबारी होते हैं।
हानूश : और क्यों उन्होंने अपने घरों में बड़े-बड़े आइने लगा रखे होते हैं ताकि उनमें आते-जाते वे अपनी पोशाक देख सकें।'[२०]

एक लम्बे अर्से के संघर्ष के बाद व्यक्ति को जो कुछ सफलता मिलती है, उसका जीवन में कितना महत्वपूर्ण स्थान होता है, इसका वर्णन करने की अपेक्षा, अनुभव किया जा सकता है। इस खुशी में रचनात्मक कार्य का श्रेय तो शामिल है ही, पर

अभावमय जीवन की पूर्णता को ढँकने में छोटी - छोटी चीजें कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। टुकड़े - टुकड़े जीवन जीता हानूश कुछ क्षण के लिए (माँगे हुए कपड़ों से) भाव - विभोर होकर दरबारी को महत्त्व न देकर कपड़ों को महत्त्व देने लगता है और सामन्ती व्यवस्था के कुकर्मों के मूल में उनका कपड़ा उसे दिखाई पड़ता है— ' मैं अब समझ सकता हूँ कि दरबारी लोग क्यों ऐंठ - ऐंठकर चलते हैं ? क्योंकि उन्होंने बढ़िया कपड़े पहन रखे होते हैं।' इससे यह स्पष्ट है कि रचनाकार की मनोवैज्ञानिक पकड़ गहरी है। कात्या भी अनुभव के जटिल रूपों से जुड़ी है, किन्तु सत्य को एक बार में व्यक्त कर देती है— ' नहीं जी, क्योंकि वे दरबारी होते हैं।' व्यंग्य की तीक्ष्णता हानूश के कथन में है— ' और क्यों उन्होंने अपने घरों में बड़े - बड़े आइने लगा रखे होते हैं, ताकि उनमें आते - जाते अपनी पोशाक देख सकें ' दरबारी का अस्तित्व राजा से है। राजा के विरोध में वह कुछ कार्य नहीं कर सकता। सामन्ती व्यवस्था में दरबारी राजा का पूरक है। अतः दरबारी की क्रूरता का विस्तार राजा में देखा जा सकता है। ' आइना ' प्रतीक है सामन्ती व्यवस्था का, और ' पोशाक ' उसके कुकर्मों के विस्तार की खोल है। दोनों प्रतीकों (' आइना,' 'पोशाक ') से संश्लिष्ट अर्थ अधिक पारदर्शी बना है। ऊपर की तीन पंक्तियाँ ऊपर से देखने में अनर्गल लगती हैं, लेकिन इससे पारिवारिक वातावरण संवेदनात्मक स्तर पर मुखर हुआ है। ' भगवान चाहेंगे तो अब तुम्हें अपने कपड़े भी नसीब हो जायेंगे ' ऐसा लगता है इस पंक्ति को निकाल देने से अर्थ में कोई अन्तर न पड़ता, देखा जाय तो इसके बिना अर्थ अधूरा लगता। ' कैसा है बिटिया ? अच्छा है ना ! हानूश के इस प्रश्न पर यान्का का संक्षिप्त उत्तर ' बहुत अच्छा ' पारिवारिक वातावरण को पूर्णता प्रदान करता है।

जटिल यथार्थ का चित्रण जहाँ नाटक को गम्भीर बना देता है, वहीं छोटे - छोटे नोंक - झोंक और मजाक द्वारा उसे सहज बनाने की कोशिश की गई है— कुछ क्षण के लिए। किशोरावस्था में कदम रखती यान्का और जेकब का प्रेम, और उसकी सहेलियों का मजाक वातावरण को स्वाभाविक और सहज बनाता है—

खिड़की की आवाज : नहीं, नहीं चलो हमारे साथ। मैं भी तुम्हारे साथ लौट आऊँगी और दोनों मिलकर माँ की मदद कर देंगी। आ जाओ।

जल्दी करो – अच्छा ! अब समझी, तुम क्यों नहीं आना चाहती । वह तुम्हारे पीछे कौन खड़ा है ? माँ का बहाना बनाती हो ?

† † † † †

यान्का : घूमकर

तुम खिड़की के पास क्यों चले आए, जी ? तुम मर्द लोग कितने बेवकूफ होते हो । मेरे पीछे खिड़की में से झाँकने की क्या जरूरत थी ?

जेकब : अच्छी बात है, तो मैं जा रहा हूँ ।

यान्का : बिगड़ गये ? एक तो भूल करते हो, उस पर झिड़की भी लाते हो । हाय, हाय ।" २१

एक तरह के परिवेश में एक तरह की जिन्दगी व्यतीत करते लोगों को परिवर्तन पर सहसा विश्वास नहीं होता । उन्हें समझाना बहुत मुश्किल होता है— परम्परा में जकड़े लोगों की तरह । मोठी निरक्षर जनता का विज्ञान के प्रति अविश्वास प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है—

" दूसरा : अन्दर कोई है नहीं तो बजती कैसे है ?

हानूश : अपने - आप बजती है ।

दूसरा : हमें बेवकूफ मत बनाओ दोस्त, हम सब जानते हैं । उसके अन्दर आदमी बैठा है । दिन भर वहाँ बैठा रहता होगा, रात में सरक जाता होगा, यही है ना ?

हानूश : उसके अन्दर कमानियाँ लगी हैं, जो एकबार चला दो तो अपने - आप चलती रहती हैं ।

दूसरा : यह किस्सा किसी दूसरे को सुनाना । मेरा चाचा गिरजे का घड़ियाल बजाता है । वह रस्सी खींचता है तो घड़ियाल बजता है । रस्सी खींचना बन्द कर दे तो घड़ियाल बन्द हो जाता है ।" २२

ऐसी जनता, जिसने हमेशा गरीबी की मार खाई है, सामन्ती व्यवस्था से मिली यन्त्रणा की पीड़ा को सहा है, उसे कैसे विश्वास हो सकता है कि घड़ी अपने-आप बजती है । सामाजिक विसंगतियों के मूल में जैसे कुछ विशेष वर्ग है, उसी तरह

घड़ी के अन्दर है ऐसा सोचना प्रकृतिजन्य है। ` अन्दर कोई है नहीं तो यह बनती कैसे है ?` ऐसा प्रश्न पूछने पर भी वह स्वयं को अधिक चालाक समझता है और कहता है— ` हमें बेवकूफ मत बनाओ दोस्त, हम सब जानते हैं। उसके अन्दर आदमी बैठा है।` ऐसी जनता, जिसे घड़ियाल (घंटा) और घड़ी में कोई फर्क दृष्टिगोचर न हो वह सामाजिक विसंगतियों को कैसे समझ सकता है ? यह प्रश्न बेचैन करता है, किन्तु रचनाकार को विश्वास है कि कभी - न - कभी वह दिन आयेगा, जब ऐसी भोली जनता विरोधियों के खिलाफ उठ खड़ी होगी `— वही आदमी जिसे हम पिलपिला समझते हैं, वक्त आने पर चट्टान की तरह खड़ा हो जाता है, और जिसे हम सूरमा समझते हैं, वक्त आने पर भाग खड़े होते हैं।` २३

यदि संवादों को समझने में किसी तरह की जल्दबाजी न की जाय, गहराई से समझा जाय तो ऊपर से सतही लगते संवादों में भी यथार्थ की कटुता का सन्निवेश है। ऐसी स्थिति में अविनाश चन्द्र के कथन में जहाँ एक तरफ नाटक की गम्भीर परख झलकती है, वहीं दूसरी तरफ परख की अनिश्चय वृत्ति भी—` इस प्रकार के संवादों का यदि तात्त्विक विश्लेषण किया जाय, कई जगह की विवरणात्मकता भी सार्थक लगती है। लेकिन इसके बाद भी ` हानूश ` भाषा-संरचना के स्तर पर संक्षिप्तता और संयम की माँग करता है।` २४ इस कथन में फिर उन्हें शायद अपनी भूल सुधारने की जरूरत महसूस होती है— ` हानूश की बुनावट में फैलाव है, जिसका कारण भी ऊपर बताया गया है, लेकिन बिखराव जैसी कोई बात नहीं है। बल्कि ` हानूश ` में कथा और शिल्प की जैसी अन्विति दिखाई पड़ती है, उसे हिन्दी नाटक के लिए अनूठा ही कहा जायेगा।` २५

यदि कलाकार को रचनात्मक-कर्म के साथ - साथ अपने अस्तित्व को नकारना पड़ता है— ` चलिए साहिब, मैं आपके साथ चलूँगा। मैं आपके पीछे - पीछे, एक वफादार कुत्ते की तरह, आपके कदमों में लोटता हुआ चलूँगा। - - - क्योंकि मैंने एक दिन घड़ी बनायी थी—२६ तो इसके मूल में परतन्त्रता है। सत्ता के साथ (हानूश जैसा) कलाकार रहकर अपने रचनात्मक उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर

सकता । सामाजिक यथार्थ की तह उकेरने के साथ नाटककार ने यह बहुत बड़ी बात कही है । भीष्म साहनी द्वारा रचना के महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्मों का उठाया जाना, सामाजिक संघर्ष को सर्जनात्मक भाषा देना, उसके लिए चिन्ता, सहानुभूति और कलाकारों के साथ हुई ज्यादती के प्रति सद्भाव की अभिव्यक्ति सही और साहसी कदम है इसमें सन्देह नहीं ।

॥ स न्द र्भ ॥

१- भीष्म साहनी : हानूश : द्वितीय अंक : पहला दृश्य : पृष्ठ - ३७-३८

२- - वही - तीसरा दृश्य : पृष्ठ - ६६

३- - वही -

४- - वही - द्वितीय अंक : दूसरा दृश्य : पृष्ठ - ५५

५- - वही - प्रथम अंक - पृष्ठ - १३

६- - वही - पृष्ठ - ३

७- - वही - तृतीय अंक : पहला दृश्य : पृष्ठ - ७३ - ७४

८- नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक : पृष्ठ - २८३

९- भीष्म साहनी : हानूश : तृतीत अंक : पहला दृश्य : पृष्ठ - ७७

१०- सं० शिवप्रसाद मिश्र : भारतेन्दु ग्रन्थावली : प्रथम खण्ड : पृष्ठ - १७३

११- भीष्म साहनी : हानूश : दो शब्द : पृष्ठ - १

१२- -वही- तृतीय अंक : पहला दृश्य : पृष्ठ - ८३-८४

१३- गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय- संरचना : पृष्ठ - ६३

१४- भीष्म साहनी : हानूश : तृतीय अंक : दूसरा दृश्य : पृष्ठ-१०२

१५- सं० नामवर सिंह : आलोचना : अंक-६६ जुलाई - सितम्बर १९८३ : पृ०-९८

१६- - वही - पृष्ठ-९५

१७- भीष्म साहनी : हानूश : द्वितीय अंक : पहला दृश्य : पृष्ठ-४१

१८- - वही - पृष्ठ-४०-४१

१९- दिनमान १९ मार्च १९७७, चुनाव विशेषांक : पृष्ठ - ५४

२०- भीष्म साहनी : हानूश : द्वितीय अंक : दूसरा दृश्य : पृष्ठ -४६-४७

२१- - वही - पृष्ठ -४४

२२- - वही - पृष्ठ-५१-५२

२३- - वही - द्वितीय अंक: पहला दृश्य : पृष्ठ - ४०

२४- सं० नामवर सिंह : आलोचना : अंक ६६ जुलाई-सितम्बर १९८३, पृ०-९८-९९

२५- - वही - पृष्ठ-९९

२६- भीष्म साहनी : हानूश : तृतीय अंक : पहला दृश्य : पृष्ठ - ९०

।। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी ।।

मानव जीवन को अर्थहीन बनाने वाली समस्यायें, जो स्वयं उसी द्वारा निर्मित हैं और उन अर्थ - सन्दर्भों के नये निर्माण में सर्जनात्मक चिन्तन यदि कहीं मिलता है तो ` बकरी ` (सन् १९७४) में। अर्थ - सन्दर्भ की नवीनता के लिए परम्परागत मान्यताओं को चाहे आधार रूप में ग्रहण करना पड़ा हो या पूर्णतया अलग, इसमें आधुनिक नाटककारों को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। मूल बात है अर्थ निर्माण द्वारा उद्देश्य की पूर्ति, जो साहित्य और जीवन दोनों से सम्पृक्त है। ` बकरी ` में स्वाधीनता के बाद की सामाजिक और राजनीतिक कठोरता का अहसास मात्र नहीं, बल्कि उसके प्रति असाधारण खीझ और सार्थक जीवन की तलाश है।

समकालीन जीवन को जड़ बनाने में जिन खतरनाक स्थितियों का मुख्य योगदान है, उनसे उबरने के लिए सर्जनात्मक व्यक्तित्व की सुरक्षा आधुनिक नाटककार की सबसे बड़ी चुनौती है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व रचनात्मक क्षेत्र में स्वतन्त्र होगा। तभी दायित्व का निर्वाह सम्भव है। रचनाकार के शब्दों में " अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मिलती नहीं ली जाती है। वह माँगी नहीं जाती उसके लिए लड़ा जाता है। रचनाकार के जीवन में यही एक लड़ाई है जो सर्वाधिक मूल्यवान है। यह उसके अस्तित्व की लड़ाई है। यह नहीं है तो वह नहीं है और न ही उसकी रचना है।"[१] ` बकरी ` के आरम्भ (भूमिका दृश्य) में अनुभव की तीव्रता और उद्वेग का रूपायन नट के मंगलाचरण द्वारा हुआ है। उसकी विद्रोही प्रकृति नये मार्ग का अन्वेषण कर लेती है— मंगलाचरण और समकालीन राजनीतिक सन्दर्भ की सम्पृक्ति द्वारा—

` सदा भवानी दाहिने सम्मुख रहें गणेश
पाँच देव रक्षा करें, ब्रह्मा, विष्णु, महेश।
पाँच देव सम पाँच दल, लिए ढोंग की रेख
जिनके कारण हो गया देश आज परदेश। `[२]

यहाँ मंगलाचरण का पारम्परिक रूप उतना मुखर नहीं है, जितना समसामयिक राजनीतिक सन्दर्भ का प्रबलतर रूप। 'पाँच देव सम पाँच दल, ली ढोंग की रैस' में समकालीन विघटन की स्थिति की तीव्रता समग्रता से सम्प्रेषित हुई है। दो भाव - स्थितियों को आमने - सामने रखकर समानता रूपायित करना और परिणाम की ओर ध्यान आकृष्ट करना नये नाटक की विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें सामर्थ्य शक्ति का उदय है। 'पादेस' तद्भव शब्द है, जिसकी मूल प्रकृति सार्वजनीन और व्यापक है। कुल मिलाकर ये पंक्तियाँ तुकात्मक और इतिवृत्तात्मक अधिक लगती हैं, किन्तु अर्थ प्रेषण में कम नहीं।

नये नाटक में उदात्त चरित्र, उदात्त घटनाओं का प्रत्याहार है। 'स्कन्दगुप्त' और 'पहला राजा' में उदात्त नायक हैं, जिसके कारण उनमें उदात्त भाषा का समाहार है। उदात्त जीवन का चित्रण कलाकार के लिए बहुत सरल नहीं, किन्तु उतना कठिन भी नहीं जितना सामान्य जीवन। 'आधे अधूरे' और 'व्यक्तिगत' नाटक लीक से हटकर हैं, क्योंकि उनमें उदात्त नायक, नाटक की एक विशिष्ट प्रणाली का बहिष्कार कर दिया गया। पर ऐसे नाटक समाज के मध्यवर्ग पर विशेष रूप से केन्द्रित हैं। इस समय ऐसे मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित बहुत से नाटक लिखे गये, जिसने दूसरी लीक का सूत्रपात किया। सर्वेश्वर का नाटक 'बकरी' इन सभी नाटकों से अलग अपना प्रभावशाली रूप प्रतिस्थापित करता है, क्योंकि इसमें सामान्य ग्रामीण जीवन की सामान्य घटनाओं और स्थितियों की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। इससे सम्बन्धित शंका का समाधान नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ में कर दिया है—' यह नाटक न लिखा जाता : (१) यदि हिन्दी में कोई ऐसा नाटक होता जिसमें जनचेतना को लोकभाषा और लोकरूपों के माध्यम से सामाजिक अन्याय के साथ जोड़ने का एक नया व्याकरण देखने को मिलता। (२) यदि हिन्दी के तथाकथित श्रेष्ठ नाटक बड़े प्रेक्षागृहों, भारी तामझाम और विद्वत् प्रेक्षक समाज के मुहताज न होते। (३) यदि हिन्दी के नाटककार यशः प्रार्थी न होकर आम आदमी की पीड़ा, आम आदमी की ज़बान में आम आदमी के बीच ले जाना हिन्दी रंगमंच के लिए आज अनिवार्य मानते।' [३]

औसत जीवन के औसत अनुभव की समग्रता को चित्रित करने के लिए नाटककार कृतसंकल्प है, इसलिए बोलचाल की शब्दावली का व्यापक प्रयोग कर वह अतिरंजित भाषा से बाल - बाल बचना चाहता है। जीवन के जिस क्षेत्र को नाटक में लिया गया है उसी की दुनिया से नाटक की भाषा बनती है। संश्लिष्ट एवं जटिल जीवन के उद्घाटन के लिए भाषा की जटिलता जहाँ आवश्यक है वहीं इसका कुछ अंश देखने को मिलता है और जहाँ आवश्यक नहीं वहाँ वह सीधी भाषा की भाव-धारा में प्रेक्षक को आप्लावित कर देना चाहता है। नट एवं नटी के संवाद में भाषा की अतिरंजना पर गहरा व्यंग्य द्रष्टव्य है—

' नट : गठी हुई चीज़ ? समझा नहीं। मतलब कहीं खरी सही बात दबा छिपाकर कहने से तो - - -

नटी : हाँ - हाँ, यही मतलब है। इनकी भाषा में इसके लिए वह क्या शब्द है ? कलात्मक - - - सुरुचिसंपन्न।

नटी : कलात्मक यानी डब्बे में डब्बा ?' ४

सही बात को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करना उतना बुरा नहीं है, जितना छिपाना। तभी तो नये नाटककार का मुख्य ध्येय है— यथार्थ के प्रच्छिप्त पर्तों का उद्घाटन। ' डब्बे में डब्बा ' भाषा की क्लिष्टता पर व्यंग्य है।

' बकरी ' में ' जिसकी लाठी उसकी भैंस ' वाली कहावत पूर्णतया चरितार्थ हुई है। धर्मभीरु और अशिक्षित जनता भाग्य के आधीन होकर नेता वर्ग की क्रूरता का शिकार बन गई है। स्वाधीनता के बाद सामाजिक अन्याय अपनी सीमा लाँघ चुका है। धर्मभीरु और भाग्यवादी जनता की जीविका की एकमात्र सहायक बकरी — जिसके दूध से बच्चे रोटी खाकर पलते हैं— का नेताओं द्वारा छीना जाना, और उसे धन प्राप्त करने का विभिन्न स्रोत बनाना अन्याय का चरम रूप है। आम जनता के जीवन का इससे बड़ा उपहास शायद नहीं हो सकता। जीवन का उपहास तो है ही, साथ - साथ इसमें धर्म, संस्कृति के पारम्परिक मूल्यों का खण्डन भी कम नहीं है। नेताओं की स्वार्थलिप्सा प्रस्तुत उद्धरण में साकार हुई है—

"दुर्जन : कर्मवीर। अब इनके पास कुछ नहीं है। भुक्ख हैं साले।

कर्मवीर: फिर भी काफी चढ़ावा आ गया।

दुर्जन : हाँ, सो तो ठीक है। पर कुछ और उपाय भी - - -

कर्मवीर : ठीक कहते हो दुर्जनसिंह।

सत्यवीर: उपाय बहुतेरे हैं, बस बकरी बनी रहे।

कर्मवीर : जैसे ?

सत्यवीर: मैं बकरीवाद पर भाषण देने विदेश जाता हूँ। बकरीवाद का प्रचार करूँगा।

दुर्जन : शाबाश। बहुत अच्छा विचार है। बकरीवाद और विश्व-शान्ति। मानवता को आगे बढ़ाने का विचार। सारा विश्व हमारा है।"[५]

पूरा का पूरा संवाद नाटकीय वातावरण को बड़ी गम्भीरता से मुखर करता है और इसका कटु अहसास कराता है कि छोटी - मोटी वस्तु में भी स्वार्थी मनोवृत्ति के लोग स्वार्थपूर्ति के विभिन्न तरीके ढूँढ लेते हैं, और उसके साथ किस प्रकार तमाम विकृतियों का पनपना शुरू हो जाता है। इतना ही नहीं धर्म एवं संस्कृति की बनावटी ओट में स्वार्थपूर्ति कर वह उसे और खोखला बनाता है। भोली - भाली जनता ऐसे वाग्जाडम्बर पर विश्वास करके स्वयं को उन ठगों के हाथों सौंप देती है। "फिर भी काफी चढ़ावा आ गया" - जनता के भोलेपन को व्यंजित करता है। जनता की सरलता ने उसकी बुद्धि को कुछ पहले से जड़ कर दिया है और कुछ तो वह स्वयं बनी है, जिसके मूल में उसकी धर्मभीरु प्रकृति है। षड्यन्त्रकारी नेताओं ने जैसे देश को उसके धर्म एवं संस्कृति, दर्शन सहित पतन के गर्त में गिराने का ठेका ले लिया हो— "मानवता को आगे बढ़ाने का विचार। सारा विश्व हमारा है"— में इसी की व्यंजना है। "भुक्ख" ठेठ शब्द है, जिसमें ग्रामीण जनता की दयनीय स्थिति साकार हुई है। यहाँ अनुभव जटिल है, किन्तु उसकी भाषा नहीं। भाषा के विधान में उलझाव नहीं। अनुभव की जटिलता और उसका वैविध्य साधारण बोलचाल में जितना सम्प्रेषित होता है उतना किसी अन्य रूप में नहीं।

"बकरी" की कथा - वस्तु जैसे मध्यवर्गीय कटघरे से बना है, वैसे उसकी

भाषा साज - सज्जा के किसी रूप में प्रतिबद्ध नहीं । यहीं से उसकी आधुनिकता की शुरुआत होती है ।

नेमिनारायण राय की अवधारणा इस सन्दर्भ में सराहनीय है— " आज जब नाटक सम्बन्धी प्रयोग और उनकी रंगमंचीय स्थितियाँ एक ओर शैलीगत मान-दण्डों और आम आदमी की रोजमर्रे की पीड़ा से कटा ऊँचे तबके की व्यक्तिनिष्ठ ओढ़ी हुई घुटन में कैद होते जा रहे हैं तो दूसरी ओर खरीदी हुई बौद्धिकता का खिलौना भी बनते चले जा रहे हैं । ऐसी स्थिति में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की ' बकरी ' एक सुखद राहत देने वाले आश्चर्य का कारण बनती है । "[६]

एक ओर राजनीतिक भ्रष्टाचार और दूसरी ओर प्राकृतिक कोप के बीच पिसता आम आदमी आखिर कब तक सीधा बनकर तनाव से मुक्त रह सकता है ? नेताओं में धन प्राप्त करने की लालसा ' बकरी ' का केन्द्रबिन्दु है जहाँ से मानव मूल्यों का स्खलन प्रारम्भ होता है और इससे भयानक विकृतियाँ जन्म लेती हैं । ' बकरी शान्ति प्रतिष्ठान, ' ' बकरी संस्थान, ' ' बकरी सेवा संघ, ' ' बकरी मण्डल ' जैसी संस्थाओं के नाम पर गाँव वालों का शोषण आज की व्यवस्था का क्रूर सत्य है, जो एक स्तर पर मानव मूल्यों के पतन का मुख्य कारण राजनीति है इससे अवगत कराता है, तो दूसरे स्तर पर उसे दूर करने का उपाय । जयदेव तनेजा के शब्दों में यह स्वीकार किया जा सकता है कि— " दुष्ट राजनीति,आडम्बर-पूर्ण थोथे धर्म से गँठजोड़ करके आम आदमी के शोषण की ऐसी मजबूत, क्रूर और अभेद्य व्यवस्था करती है कि जनता स्वयं को बकरी बनाकर खुद - ब - खुद अपनी बलि देने को आतुर हो उठती है— यह नाटक इसी विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण करता है । "[७] ' बकरी '— जिसमें आज के यथार्थ की सशक्त अभिव्यंजना है— में एक तरफ नेता वर्ग की उग्र मनःस्थिति है तो दूसरी तरफ किसानों की कोमल और निश्छल प्रकृति । पर उन किसानों में युवावर्ग (विपती और युवक) है जो अन्याय का विरोध कर समकालीन समाज में नयी चेतना का प्रसार करता है । नाटक में आद्योपान्त नेताओं का अन्तर्द्वन्द्व और किसानों का आपसी तनाव तथा किसान और नेता का एक दूसरे के प्रति संघर्ष है ।

स्वार्थ और धन लिप्सा की पूर्ति के लिए नेता वर्ग में जो तनाव है उसका संकेत प्रस्तुत उद्धरण में मिलता है—

`सिपाही : ढाई साल की छुट्टी हुई समझो। लेकिन ठाकुर, वो औरत छूटते ही फिर आएगी। जेल के सींखचों में भी `मेरी बकरी, मेरी बकरी चीख रही थी।

दर्जन : ढाई साल। बहुत होते हैं। उसके बाद हमें बकरी की जरूरत? क्यों सत्यवीर?

सत्यवीर : दो साल में घर भर न जो पाए वो है उल्लू,

कर्मवीर : इससे है अच्छा डूब मरे पानी भर चुल्लू,

दुर्जन : हम मर्द के बच्चे हैं नहीं कोई निठल्लू,

सिपाही : सर्दी में हैं कालीन तो गर्मी में हैं कुल्लू।` ८

नेता वर्ग का षड्यन्त्र यहाँ निर्मम सत्य को उभारता है। यदि नेतावर्ग ईमानदार नहीं है, तो सत्य से सामना भी नहीं कर पाता है। यह विशेष कारण है जिससे वह विपती को जेल में डाल देता है — `ढाई साल की छुट्टी समझो—` और कुछ दिन के लिए आश्वस्त हो लेता है। `लेकिन ठाकुर, वो औरत छूटते ही फिर आएगी` में सत्य से बचने की प्रवृत्ति है। `जेल के सींखचों में भी `मेरी बकरी, मेरी बकरी` चीख रही थी` वाक्य के मूल में रचनाकार की शोषक के प्रति अजस्र सहानुभूति रही है। `बकरी` के सारे संघर्ष का जड़ नेताओं की `दो साल में घर भर न जो पाए वो है उल्लू` यह भौतिक लक्ष्य है। जिसके अन्दर मानवीय गुण हैं वह सही माने में व्यक्ति है। ऐसा व्यक्ति जहां सत्य और ईमानदारी को जीवन का लक्ष्य मानता है, वहीं पाखण्डी अन्याय और भौतिकता की अन्धी दौड़ में आगे बढ़ने को जीवन का पुरुषार्थ मानता है—`इससे अच्छा डूब मरे पानी भर चुल्लू, हम मर्द के बच्चे हैं नहीं कोई निठल्लू—` आज सही माने में जो पुरुषार्थ है उसका मायने बदल गया है। `व्यक्तिगत` के `वह` का कथन` में अमानव बना तो सिर्फ मानव बने रहने के लिए `६ की तरह। नीचे की पंक्ति `सर्दी- - - - - - कुल्लू` ऊपर की तीनों तुकान्त पंक्तियाँ

का साथ देती है। चारों तुकान्त पंक्तियों में इतिवृत्तात्मक अर्थ सीधे सम्प्रेषित होता है। व्यंग्यात्मक अर्थ में यदि कुछ बाधक लगता है, तो रचनाकार का तुकान्तप्रिय होना।

शोषक वर्ग जहाँ शोषण के निमित्त तरह - तरह के हथकण्डे अपनाने में परेशान है, वहीं शोषित अपनी सरलता एवं सच्चाई के कारण संघर्षमय जीवन व्यतीत कर रहा है। जो व्यक्ति अत्यधिक सीधा होता है उसे दूसरे के छल और कपट में सहसा विश्वास नहीं होता। ऐसे में भारतीयों के अन्दर संस्कार का जो तह जमा हुआ है वह कहीं अधिक बाधक है— सामाजिक अन्याय का विरोध करने में। प्रस्तुत उद्धरण ग्रामीण व्यक्तियों के भोलेपन को पूरी सच्चाई से सम्प्रेषित करता है—

" दूसरा ग्रामीण : ई लोग का भगवानो से बड़े हैं ?

युवक : हाँ, तबाही में भगवान से भी बड़े हैं।

एक ग्रामीण : तो इनहू के पूजो भैया, जल मा रहि के मगर से बैर ?

युवक : हाँ पूजो, पर जूते से।

दूसरा ग्रामीण : ई गरम खून है बच्चा जो चकराय रहा है। जो बड़ा बन के आया वह बड़ा बन के रहेगा।

युवक : कोई छोटा - बड़ा बनके नहीं आया। सब बराबर बन के आए।

एक ग्रामीण : ए बेटा, एक ही खेत में न सब धान एक - सा होत है, न एक बाली में सब दाना एक - सा।

युवक : लेकिन धान के खेत में सब धान ही होता है।

दूसरा ग्रामीण : खर पतवार भी होत है बेटा।

युवक : (तमतमाकर) हम खर पतवार नहीं हैं। हम भी इनसान हैं। " १०

ग्रामीण जीवन की प्रकृति की विचित्रता के अंकन के लिए रचनाकार ने लोकभाषा का सुसंगत प्रयोग कर अर्थ की धारा को प्रवाहित किया है। कोई भी चीज़

एक सीमा तक ठीक होती है, जब उसका दायरा असीमित हो जाता है तब उसका रूप कुरूप हो जाता है। ग्रामीण जीवन जितना सरल है उतना ही भयभीत । समस्याओं के अम्बार से वह नहीं घबराता, जितना संघर्ष से। ` ई लोग भगवानों से बड़े हैं— ` में किसानों के जीवन की सरलता व्यंजित होती है, जिसमें किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं। ` हाँ पूजो, पर बूते से ` में आज के युवा वर्ग की मन:स्थिति मुखर हुई है और यही रचनाकार का मुख्य उद्देश्य है। अन्याय के दमन का एक मात्र उपाय है— संघर्ष। यह यदि सम्भव है तो युवा वर्ग द्वारा। व्यक्ति के अन्दर वर्ग भेद की जो भावना गहराई से जम चुकी है, वह आसानी से नहीं निकल सकती और यह उसके शोषण का एक कारण बन गया है— ` तो हमहू के पूजो मैया, जल मा रहि के मगर से बैर ?` धान का बिम्ब शोषक और शोषित का अन्तर, समाज की अव्यवस्था शोषित जीवन की सरलता और उसमें परिव्याप्त भय के संश्लिष्ट अर्थ को एक साथ मूर्त करता है, किन्तु वहीं समता स्थापित करने के लिए इस बिम्ब को अन्य रूप में मोड़ देना— ` लेकिन धान के खेत में सब धान ही होता है ` रचनाकार की प्रखर प्रतिभा का परिचायक है। ` हम सर पत्थर नहीं हैं। हम भी इनसान हैं ` में आक्रोश की गर्माहट है। यही रचना का मूल कथन है— इनसान को इनसान मह्सूस कराना और मानवता का संचार करना।

शोषक और शोषित दोनों वर्गों के (अलग - अलग) संघर्ष की परिणति एक भिन्न रूप में होती है और यही ` बकरी ` की उपलब्धि है—

` सिपाही : वोट की तोड़फोड़ कोई तोड़फोड़ नहीं ?

युवक : झूठ है। हमने अपने भीतर तोड़फोड़ की, वह भी पूरी नहीं। बाहर कुछ नहीं किया।

सिपाही : यह राष्ट्रद्रोह है।

कर्मवीर : इसकी सजा के लिए मुकद्दमा भी जरूरी नहीं, जानता है ?

युवक : जानता हूँ। आप बकरी की पूजा इसलिए कराते हो ताकि सब बकरी बन जाएँ। मैं बकरी नहीं हूँ। किसी की बकरी नहीं बनूँगा।

सिपाही : नहीं साले तू भेड़िया है।` ११

" तोड़फोड़ " शब्द पिछले " इनसान " का पूरक कर्म है। दोनों ने रचनाकार के व्यक्तित्व को निरूपित किया है। जो ईमानदार रचनाकार है वह सबसे पहले अपने आपसे संघर्ष करता है और तब सर्जना करता है। " तोड़फोड़ " जहाँ अधूरेपन का प्रतीक है, वहीं उसमें रचनात्मक संघर्ष की अनन्त सम्भावना है, क्योंकि टूटी फूटी वस्तु को प्रेक्षक जोड़ता है— कल्पना के माध्यम से। " तोड़फोड़ " में एक ओर सर्जक का व्यक्तित्व है, तो दूसरी ओर शोषित शक्ति का प्रतिरूप।
" झूठ- - - - - - - किया " में यदि करुण भावना है, तो सम्भावना भी कम नहीं है— जीवन और रचना की तरह। गहराई से विचार करें तो पायेंगे कि शहरी वातावरण में रहकर रचनाकार गाँव की स्मृतियों के चटपटे रूप को प्रस्तुत नहीं करता (जैसा कि आम तौर पर होता है) वरन् रागात्मक भाषा में वह सामान्य जीवन के विशेष रूप को प्रस्तुत करता है। व्यक्ति साधारण है, किन्तु उसकी यथार्थ स्थितियों की व्यंजना असाधारण है। इस असाधारणता का मुख्य कारण किसी एक पहलू को गौरवान्वित करना, गरीबी, उन्हें विशिष्ट बनाने की थोथी प्रक्रिया या उनके यथार्थ और कुरूप जीवन को दबाकर कलात्मक पक्ष को उजागर करना नहीं है। उन्हें ऐसे यथार्थ परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, अनुभव किया गया है, जिसमें शोषक द्वारा उनका शिकार किया जा रहा है। यह साधारण से ऊपर इसलिए भी है कि साधारण जीवन का निर्वाह करने के लिए भिन्न - भिन्न विशेष स्थितियों का सहारा लिया गया है— कभी अत्यधिक सहनशील बनकर, कभी भाग्यवादी बनकर, तो कभी अकेले प्रतिरोध करके— इन सबसे कलाकार की पैनी दृष्टि इनकार नहीं करती, वरन् इन्हें सूक्ष्मता से पकड़ती है। विनीता अग्रवाल का कथन इस सन्दर्भ में अविस्मरणीय है— " तीनों व्यक्तियों द्वारा एक गाँव की निर्दोष औरत की बकरी हड़पने, वापस माँगने पर उसे व्यवस्था की मदद से भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत जेल में बन्द करने से नाटक की गहराव पारों और राजनीतिक भ्रष्टाचार और पीड़ा फेलते हुए आम आदमी को बिल्कुल बेलौस होकर उभारती है। एक बड़ी बात यह है कि यह आम आदमी किसी नाटकीय रूमानियत के साथ उपस्थित नहीं है।"[12] नवचेतना का संघर्ष " बकरी " में अधिकतम सीमा का संस्पर्श कर चुका है। इसके लिए आवश्यक है, अधिकतम स्वतन्त्र अस्तित्व का होना। " मैं

बकरी नहीं हूँ। किसी की बकरी नहीं बनूँगा—' में स्वतन्त्र अस्तित्व की चिन्ता व्यापक स्तर पर है।

' बकरी ' में मौन की मुखर प्रवृत्ति प्रेक्षकों के लिए गहन अर्थमणि की तलाश की गुंजाइश छोड़ती है। नाटक में जितना पात्रों के संवाद का महत्त्व होता है उतना मौन का भी। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ ली जा सकती हैं, जिनमें मौन का मुखर रूप विद्यमान है—

' युवक : यह सब बेकार का नाटक है, फरेब।

सिपाही : नाटक है? और यह नाटक कम्पनी तेरे बाप खोल गये हैं। तेरे हिसाब से यहाँ सब चूतिये बसते हैं? दुनिया का सबसे बड़ा जीवनतन्त्र है बकरा।

युवक : और सबसे बड़ा शिकार भी। पैसा और ताकत जिसके पास है - - -

कर्मवीर : जानते हो, यह बकरी मैया का आदेश है।

युवक : जानता हूँ बकरी भी आप हैं, मैया भी आप हैं, आदेश भी आप।' १३

आज के भौतिकतावादी समाज में सब कुछ पैसा और ताकत पर टिका हुआ है— चाहे वह मानवीय रिश्ते हों, न्याय हों, या धर्म। पैसा और ताकत न्याय को क्या, धर्म एवं संस्कृति के रूप को परिवर्तित कर सकते हैं (दिखावटी ही सही)। ' बकरी ' का ' बकरी शान्ति प्रतिष्ठान, ' ' बकरी सेवा संघ, ' ' बकरी मण्डल ' जैसे संस्थान बाह्याडम्बर धर्म की आड़ में जन सामान्य का शोषण सामान्य हो गया है। ' पैसा और धन जिसके पास है - - - ' के बाद मौन में जो बात प्रक्षिप्त है वह यही (उपर्युक्त) है। जन सामान्य की चिन्ता का शिकार बनने की सम्भावना अधिक है ' बकरी ' के रचनाकार में। इसके अतिरिक्त यथार्थ में अपने उत्तरदायित्व को वहन करने का उत्साह, जीवन की घटनाओं को देखने की सक्रिय दृष्टि, बचाने की कोशिश और आडम्बर के प्रति वितृष्णा की ऐसी शक्ति मौजूद है, जो उसे खतरों की सम्भावनाओं से बचा लेती है। ' तेरे हिसाब से यहां सब चूतिये बसते हैं ' में ' चूतिए ' शब्द अशिष्ट है, किन्तु जिसके दिल में दया नहीं है, उदारता नहीं है, मानवता है ही नहीं तो वह शिष्टाचार का शब्द कहाँ से ढूंढेगा?

अत: भाषा पात्र की मन:स्थिति के अनुकूल है।

प्रेषणीयता आधुनिक नाटक का विशेष गुण है, कहीं मौन द्वारा तो कहीं हरकत द्वारा। जितना शब्दों में गम्भीर अर्थ सम्प्रेषण की समस्या है उतना हरकत में भी। `बकरी` में हरकत की भाषा का बहुत अधिक प्रयोग नहीं किया गया है (`ऊसर,` `ताँबे के कीड़े,` `तीन अपाहिज` की तरह) किन्तु जितना भी प्रयोग हुआ है वह भाषा की अर्थवत्ता में सहयोग प्रदान करता है—

`ग्रामीणों का मुँह लटकाये मंच पर प्रवेश। सब चुपचाप आकर खड़े हो जाते हैं`।

विपती : (कातर दृष्टि से देखती है। कोई उससे आँख नहीं मिलाता।) तुम सब कसाई हो।

पहला ग्रामीण : अब, दुख न करो। दूसरा बकरी के जतन कीन्ह जाई।

विपती : खवैय्या कम हैं? उहौ कौनो खाय लेई।` १४

मुँह लटकाने में ग्रामीणों का पराजय भाव छिपा हुआ है। `विपती का कातर दृष्टि से देखना ग्रामीण जीवन को अपनी हार का अहसास करवाना है। `कोई उससे आँख नहीं मिलाता—` अन्त में ग्रामीण को अपने शोषण में की गई गलती - अत्यधिक सहनशीलता, भाग्यवादिता (जो परोक्ष में अपने शोषण का कारण बन रहा है) का कटु अनुभव होता है। `अब, दुख न करो। दूसरा बकरी के जतन कीन्ह जाई` में पश्चाताप का भाव है। `खवैय्या कम हैं? उहौ कौनो खाय लेई—` पंक्ति में शोषक वर्ग की तरफ संकेत है। अत: यहाँ जीवन का विस्तारपरक चित्रण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है—चाहे वह मध्यवर्गीय हो या औसत वर्गीय या अन्य— जितना अनुभव की सम्पूर्णता। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के कथन से आधुनिक रचनाकार और रचना दोनों को समझने में मदद मिलती है—

" वे विशिष्ट अनुभव के अंकन के लिए विशिष्ट जीवन का प्रत्याहार करके साधारण, औसत जीवन से अपनी वस्तु चुनते हैं। इस तरह वे मानव जीवन के किन्हीं विशिष्ट महिमामय पक्षों को महत्त्व न देकर, समूचे जीवन की ही प्रक्रिया को

सार्थकता देते हैं। उनके लिए जीवन श्रृंगार, युद्ध या वीरत्व के अनुभव के बाद भी स्थगित नहीं होता। इस सामान्य जीवन की पहचान नये लेखकों की रचना-प्रक्रिया का विशिष्ट अंग है, जो समकालीन समाजवादी और जनतान्त्रिक पद्धतियों में निश्चय ही अधिक प्रगतिशील और तात्त्विक दृष्टि है।' १५

सर्वेश्वर की जो सबसे बड़ी विशेषता लक्षित होती है वह है— यथार्थ स्थितियों से साक्षात्कार। ऐसा यथार्थ जिसमें नाटककार तमाशबीन मात्र नहीं बना है, उसे सह रहा है, अनुभूति की कसौटी पर कस रहा है और सर्जन कर रहा है। वह यथार्थ में अपने रचनात्मक उद्देश्य को पहचान रहा है और पूरा कर रहा है। वह अपनी जिम्मेदारी औसत वर्गीय जीवन को आधार मानकर यदि पूरी कर रहा है तो पूर्ण रूप से सक्रिय होकर। यह सक्रियता संवादों की भिन्नता और ठोस रूप में देखी जा सकती है—

'अब भी कुछ समझे आप लोग? आप लोगों ने बकरी को देवी माना। बाढ़ में सारा गाँव बह जाने दिया पर आसरम को नहीं डूबने दिया। गाँव की जमीन खोद-खोदकर आसरम की जमीन ऊँची करते रहे। सूखा पड़ा, खुद भूखे रहे, घर का अनाज आसरम को दे आए। आसरम में दावतें उड़ती रहीं, खुद भूखों मरते रहे। फिर उन्हीं लुटेरों को कंधों पर बैठाकर देश की बागडोर थमा आए। अब भी कुछ समझे आप लोग?' १६

यहाँ सीधे-सीधे संघर्ष की प्रेरणा देने के बजाय रचनाकार सर्वप्रथम यथार्थ स्थितियों को उकेरकर ग्रामीण किसानों की उस मानसिकता को तैयार करने का उद्यम करता है, जो शोषण के चक्र में पिसे जाने का आदी हो गया है— अपनी अत्यधिक सहनशील एवं सहज प्रकृति के कारण। अन्तःसाक्ष्य और बहिस्साक्ष्य दोनों से स्पष्ट है कि तत्कालीन स्थितियों के प्रति उनमें विरोध का स्वर अधिक है आक्रोश की अपेक्षा। ऐसी सजग दृष्टि जीवन-स्थितियों की द्वन्द्वात्मकता को उसी रूप में व्यक्त करती है, कभी विस्मृत नहीं करती। 'आसरम' लोक भाषा का शब्द है, जो अशिक्षित, कम शिक्षित किसान के अनुकूल है। पूरी की पूरी

पंक्तियाँ शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति जगाती हैं, परम्परा से अनुप्रेरणा लेकर। इस सन्दर्भ में नाटककार का विचार स्मरणीय है— " शब्द को पहचानने की और फिर संवाद की स्थिति बनाये रखने की ताकत मुझे परम्परा से मिलती है और फिर उस ताकत के सहारे इनसान पर आस्था और उसकी मुक्ति का प्रयत्न मेरा इतिहास - बोध है। इस तरह मैं क्यों लिखता हूँ और आगे क्यों लिखूँ इसका जवाब मुझे दे दिया जाता है मेरी उस चेतना के द्वारा जो कभी मरी नहीं है।" १७

यदि कहना मानवीय वृत्ति है तो न कहना भी। शब्दों में अर्थ आसानी से प्रकट हो जाता है, किन्तु मौन रहकर मनोभाव को प्रकट करने की प्रगाढ़ता उससे अधिक महत्त्व रखती है। आधुनिक नाटक की स्थिति यही है। जहाँ संवादों में तर्कनात्मक अर्थ की चिन्ता है वहीं संवादों के अन्तराल में भी। " बकरी " नाटक में इस स्थिति का बहिष्कार नहीं—

" कर्मवीर : चुने जाते ही हम तुम्हारे गाँव की सड़क पक्की करा देंगे। सड़क पर पानी नहीं भरेगा।

युवक : (स्वगत) सब यही करते हैं।

ग्रामीण : और घर में बरसात ?

कर्मवीर : उद्यम करो घर में भी नहीं भरेगा। अच्छा भाइयों, जय-हिन्द। हमें दूसरी सभा में जाना है।" १८

इसमें राजनीति के बाह्य परिवेश का यथार्थ नहीं वरन् उसके अन्तर्जगत का यथार्थ है, जिसमें नेताओं के शोषण-चक्र में पिसे जाते हुए व्यक्ति की वेदना और खीझ है। " चुने जाते ही हम तुम्हारे गाँव की सड़क पक्की करा देंगे। सड़क पर पानी नहीं भरेगा " में यथार्थ का बाह्य परिवेश है, जिसमें नेताओं का कोरा आश्वासन और परिवेश को चकाचौंध करने की प्रवृत्ति प्रबल है। अंतर्मन में स्वार्थ-लिप्सा है। उस स्वार्थ की पूर्ति होते ही झूठा आश्वासन ताख पर रख दिया जायेगा। इस आश्वासन में भी सत्य से साक्षात्कार की हिम्मत नहीं है। यही कारण है कि घर से अधिक चिन्ता सड़क की है। " सब यही करते हैं " और " सड़क पर पानी नहीं भरेगा " के बीच रचनाकार ने इस यथार्थ के संश्लिष्ट और

विविध रूप को व्यंजित किया है। यहाँ स्वगत का नया रूप है, जिसकी अभि-व्यक्ति मंच पर सभी पात्रों के बीच हुई है। भारतेन्दु और प्रसाद के पात्र स्वगत तब बोलते हैं जब मंच पर अकेले रहते हैं, किन्तु यहाँ की स्थिति अलग है।

नये नाटककार के समक्ष चुनौतियों का विभिन्न रूप है। नाट्य साहित्य में प्रचलित अब तक के सीमित अनुभव के दायरे से निकलकर उसके समग्र रूप को लेना और दूसरी तरफ संश्लिष्ट और तनावपूर्ण समकालीन जीवन को उसी संश्लिष्टता के साथ चित्रित करना। यदि अनुभव जटिल है तो उसकी अमिव्यंजना भी जटिल होगी, पर सरल भाषा में। दूसरी रचना समस्या से जूझने की सक्रिय कोशिश ` बकरी ` में है। लोकसम्पृक्ति के भाव के साथ कलात्मकता का दायित्व वहन करना और आधुनिक संवेदना में स्थापित करना एक जटिल कार्य है— रचनाकार के लिए, किन्तु इसकी व्यंजना अपनी भाषा में ` बकरी ` में हुई है। इसमें वस्तु और शिल्प का सामन्जस्य है, जो रचनाकार की विशेष उपलब्धि है।

` बकरी ` के रचनाकार ने अपनी नियुक्ति आक्रामकता को समग्रता में उद्घाटित किया है। युवक शोषित वर्ग का बुद्धिजीवी पात्र है जो आज के क्रूर यथार्थ, व्यवस्था की चालाकियों, नेताओं की कूटनीतियों और विसंगतियों से संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ता है। नाटककार नाटक में सामाजिक समस्याओं का जिक्र मात्र नहीं करता, बल्कि वह उन समस्याओं से रचनात्मक स्तर पर लड़ता है, जिनसे सामाजिक विसंगतियों के चक्र को बल मिलता है। अतः सामाजिक विसंगतियों के प्रति छटपटाहट, बेचैनी, गुस्सा, आक्रोश में उसकी सही चिन्ता मुखर हुई है—

` युवक : फिर चुप क्यों रहे ? कहा क्यों नहीं कि बकरी विपती की है उसे दे दी जाए। विपती बेचारी पहले रोती - चिल्लाती जा रही थी। रास्ते में मैंने - - -

दूसरा ग्रामीण : अरे। भगवान के नांव ले लिहिन तो काव करित ? कहिन, बकरी माता है, देवी है, देवी का मान होवे के चाहीं, अब हम का कहित देवी के मान न होय ?

युवक : हमारा ही जूता हमारे ही सिर ?

एक ग्रामीण : अरे अब कौन प्रपंच करें, ऊ कहिन देवी हैं हम मान लिहा।

युवक : प्रपंच उन्होंने किया या आपने ?

दूसरा ग्रामीण : उनका प्रपंच ऊ जानें, भगवान जानें। भगवान उनका देखि हैं।

युवक : भगवान, भगवान। बस उसी की वजह से यह हालत है हमारी।

औरत : अब भगवान के न गरिआवो। - - - "१६

" कहाँ " में जिस वातावरण का चित्रण किया गया है वह सौन्दर्य के द्वारा चक्षुरेन्द्रिय को तृप्त करने के लिए नहीं और न तो रचनाकार को गाँव के प्रति भावुक दृष्टि के कारण। इसके विपरीत " कहाँ " में उन अभावों का, उपेक्षित जीवन का, उसकी पीड़ा का चित्रांकन है, जो ग्रामीण जन जीवन में प्रतिघटित हो रहा है— फिर - - - - - मैं - - - ।" नाटक का उत्स भी वहीं से प्रवाहित होता है। आस्तिक होना उतना बुरा नहीं है, जितना अतिरिक्त आस्तिकता से उत्पन्न भक्तिशील रूप— " भगवान के नांव से जिनि तो काव करित।" अपनी आस्तिक प्रकृति के कारण व्यक्ति शोषण के विभिन्न रूप को जैसे एकदम निष्क्रिय होकर भोग रहा है और न्याय के लिए पूर्णतया ईश्वर पर आश्रित है— " उनका प्रपंच ऊ जानें, भगवान जानें। भगवान उनका देखिहैं।" " भगवान, भगवान। बस उसी की वजह से यह हालत है हमारी "— में अतिरिक्त आस्तिकता से उपजी रचनाकार की खीझ है। वह नहीं चाहता कि आम जनता आस्तिक होकर सब कुछ को निर्विरोध फेलती जाये और सामाजिक विसंगतियाँ विकसित हों। यदि विसंगतियों से समाज को मुक्त करना है, तो उसका डटकर विरोध एक मात्र रास्ता है। ऐसा नहीं होता इसलिए समकालीन सामाजिक स्थिति के प्रति खिन्नता व्यक्त की गई है, जो नाजायज नहीं है। सामाजिक अन्याय को वह तमाशबीन बनकर नहीं देखता, उसे उसे बेचैनी होती है— संवेदनशील रचनाकार की तरह। " हमारा ही जूता हमारे ही सिर " कहावत में ग्रामवासियों की दयनीय स्थिति मुखरित हुई है और नाटक जीवन्त बना है।

बिना अतिरंजना, सत्य जितना संश्लिष्ट और गहन होगा, उसे अंकित करने

वाला रूप भी सृजन की विविध प्रक्रियाओं के बीच से कायान्तरित होगा, पर होगा वह जीवन का यथार्थ पक्ष । ` बकरी ` में प्रयुक्त पद्य - भाषा में नयी कविता का मिजाज है, जिसमें नाटकीय और बोलचाल के रूप का बराबर निर्वाह हुआ है । संस्कृत, पारसी और लोक सम्पृक्ति के मूल में ` बकरी ` एक राजनैतिक व्यंग्य नाटक है, इसलिए सबसे अधिक आकर्षित करता है इसका व्यंग्य रूप—

` मिमियाने में भी जिसके है
देवत्व की वाणी
उसकी रगों में होगा ही
अमरत्व का पानी ।
सहने को जोर जुल्म
जिसे राजी जानिए
वह गोश्त भला कैसे
उसे भाजी जानिए ` २०

गाँधीजी ने भारतीय संस्कृति के अन्तरंग और बहिरंग रूप को बदल दिया— नवीन अर्थ देकर और समकालीन सामाजिक प्रश्नों से जूझकर । सक्रिय प्रतिरोध और रचनात्मक कर्म गाँधी की मूल प्रकृति थी । पर काल के प्रवाह के साथ उसका नाजायज़ फायदा उठाया जाने लगा । ` बकरी ` इसका साक्षी है । नेतावर्ग उसमें सबसे अधिक शामिल है, जो हाथ पर हाथ रखकर शोषण से अपनी क्षुधा शान्त करने का आदी रहा है । ऐसे शोषकों के लिए संस्कृति एवं मूल्य सब कुछ मजाक हो गया है । ` बकरी ` ग्रामीण जनता की प्रतीक है । जहाँ स्वयं को भाग्य एवं भगवान के हवाले कर हर तरह की प्रताड़ना को सहा जा रहा है । इस शोषित समाज की अन्तर्वृत्ति है- निरी निष्क्रियता । ` सहने को जोर जुल्म । जिसे राजी जानिए, वह गोश्त भला कैसे । उसे भाजी जानिए `— में बकरी के साथ - साथ भारतवासियों का यथार्थ रूप है । एक महान कर्मयोगी जिसने तात्कालिक और कालातीत होने के साथ - साथ संस्कृति को उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ किया था, ऐसे प्रभावशाली चरित्र से (शोषक) समाज ने किस प्रकार प्रेरणा ग्रहण कर मानव मूल्यों का समूल नाश किया ? यह प्रश्न विचारणीय है । ऐसी स्थिति में

एक समाज के समकक्ष लोग एक दूसरे का यन्त्रवत शोषण और उन पर (कु) शासन कर रहे हैं, तो संस्कृति के जड़ से नाश होने के अतिरिक्त और कोई परिणाम नहीं दिखाई देता। यह बात तब और विचलित कर देती है जब सम्भावमिक खतरा किसी बाहरी व्यक्तियों द्वारा नहीं लाया गया है। महान मरित्र यदि भटके को रास्ता दिखाने में समर्थ नहीं हो पा रहा है जिससे आचित बने बनाये चक्रव्यूह से मुक्त हो सके तो निश्चय ही पुरातन संस्कृति की जाह रस (' यह गौरव मला कैसे। उसे भागी जानिए ') का रूप विराट् हो सकता है।

इस नाटक में प्रयुक्त काव्य भाषा में व्यंग्य की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता के दर्शन भी होते हैं, जो एक अर्थ देकर विलीन हो जाते हैं। इसके मूल में रचनाकार की लोकोन्मुखी वृत्ति हो सकती है। वक्तव्य में कविता होने की सम्भावना रहती है इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर उसके साथ जो अतिरिक्त प्रभाव रहता है वह है— कवि दृष्टि।

' बकरी को क्या पता था मज़ाक बनके रहेगी
अपने खिलाये फूलों से भी कुछ न कहेगी।
उसके ही खूं के रंग से इतराएगा गुलाब
दे उसकी मौत जाएगी हर दिल अजीज़ ख्वाब।' २१

इतिवृत्तात्मकता के अलावा इसमें संवेदना है, जो स्थिति की गम्भीरता को मार्मिक अभिव्यक्ति देती है। ' उसके - - - - - - - - ख्वाब ' में शोषक वर्ग पर व्यंग्य है। पूरी की पूरी पंक्तियों में वर्तमान की पीड़ा है, कराह है।

' बकरी ' में सबसे अधिक बात जो खटकती है वह है पुनरावृत्ति। बौद्धिक ऐय्याशी, प्रतीकों की जटिलता शिल्पगत चमत्कार और भाषा की कारीगरी ने इस नाटक की भाषा को सर्जनात्मक मुक्ति दी है, किन्तु पुनरावृत्ति ने नहीं। यह सही है कि पुनरावृत्ति में जनचेतना से निःसृत लोकभाषा की उन्मुक्तता है। विनीता अग्रवाल का कथन कुछ अंश तक अवश्य ठीक है—

' नाटक की प्रकृति ही ऐसी है कि शिल्पगत अभाव का आग्रह उसकी

उन्मुक्तता और भोलेपन पर अवांछित प्रभाव डाल सकता है।' २३ आज जब कि साहित्य में कम बोलकर अधिक अर्थवत्ता प्रेषित होने की बात हो रही है, तब शब्दों की अनावश्यक पुनरावृत्ति अस्वाभाविक अवश्य प्रतीत होती है, भले ही उसके मूल में लोकोन्मुखता हो रचनाकार की। इस सन्दर्भ के निर्देश के लिए प्रस्तुत उद्धरण पर्याप्त है—

' मुझे मिल गई मिल गई
मिल गई रे
मुझे मिल गई, मिल गई
मिल गई रे।' २३

' बकरी ' औसत जीवन का जीवन्त नाटक है इसलिए जन सामान्य की भाषा पर विशेष दृष्टि रही है रचनाकार की। प्रतीक का सटीक प्रयोग समूहगान में देखा जा सकता है—

' खेत न दाना
कूप न पानी
केकरे हुजूरे दरज करूँ
गांधी बाबा तोरे चरनन अरज करूँ
बकरी मैया तोरे चरनन अरज करूँ

† † † † †

उनके महलिया
सोना बरसे
जनम जनम का मैं करज करूँ ' २४

' बकरी ' शोषक वर्ग के लिए तमाम सिद्धियों की प्रतीक है। शोषक वर्ग की छोटी से छोटी आवश्यकताओं से लेकर बड़ी से बड़ी आवश्यकताओं तक, चाहे जीविका निर्वाह की हो या देश पर प्रभुत्व जमाने की, सभी की पूर्ति बकरी द्वारा

होती है, चाहे इसका कुप्रभाव परोक्ष रूप में पहले जन सामान्य पर ही क्यों न पड़ता हो। यहाँ बकरी को सम्बोधित किया गया है, किन्तु व्यंजना है– शोषक वर्ग पर। ऐसे में शोषित वर्ग की पीड़ा उभरती है, जो सामाजिक यथार्थ की गहरी अनुभूति का या यथार्थ के उत्तरोत्तर गहन होते रूपों की गहरी अभिज्ञता का परिणाम है। दोनों (शोषक और शोषित) का जीवन कितना विषम है इसका सहज अनुभव उद्धरण के प्रथम और द्वितीय चरण से हो जाता है। एक के लिए जीवन की गाड़ी को खींचने की समस्या है– ' खेत न दाना। कूप न पानी– ' तो दूसरे के जीवन में धन का अम्बार है– ' उनके महलिया। सोना बरसे।' ' जनम जनम का मैं करज कहूँ–' में पुनर्जन्म पर विश्वास है। शोषित वर्ग के लिए पुनर्जन्म कितना माने रखता है यह रचनाकार अच्छी तरह जानता है। असह्य पीड़ा में वह (शोषित) अपने मन को समझा भर लेता है। शोषित और पुनर्जन्म की सन्निधि में जिन अर्थों की अभिव्यंजना हुई है वह प्रेक्षक को काल चिन्ता के भँवर में छोड़ देती है। वाक्य श्रृंखला में जन सामान्य की जानी पहचानी लय है, जो अर्थ संगठन को शक्ति प्रदान करती है।

शासन जिसके ऊपर देश की सुरक्षा का भार है उसके स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिए समाज में तमाम विकृतियों को जन्म देते हैं और धर्मभीरु जनता की कमजोरी पहचानकर उसे अपनी दूषित राजनीति का शिकार बनाते हैं। ऐसे शासन में एक नेता के भाषण द्वारा समकालीन राजनीति की यथार्थ झाँकी मिलती है–

' यह धरती एक चारागाह है जिसकी घास जितना ही रौंदो उतना ही पनपती है। हमें यकीन है कि हम आप सब मिलकर इस हरियाली को खत्म नहीं होने देंगे। अपने - अपने चौपाये खुले छोड़ दीजिए। चरें, मस्त रहें। फिक्र की कोई बात नहीं।

\+ + + + +

' दो ही नियम हैं, दाँत तेज और मजबूत हों, घास हरी और कोमल हो, फिर

धरती चारागाह से ज्यादा कुछ नहीं हो पायेगी । शुरू कीजिए, इस जनता, इस चारागाह के नाम पर - - -' [२५]

यहाँ सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में एक ओर जीवन की जटिलता व्यक्त हो रही है, तो दूसरी ओर उससे मुक्ति पाने के लिए रचनाकार का व्यंग्य-बाण और खीझ भी । राजनीति के कारण समाज जितने तनावों से गुजर रहा है, उतनी दृढ़ता और वेग से रचनाकार ने अपने - आपको व्यक्त किया है । चारागाह, घास जैसे शब्दों द्वारा समकालीन यथार्थ की जटिलता का संश्लिष्ट बिम्बांकन है, जो सपाट कथन द्वारा सम्भव नहीं । ' अपने - अपने चौपाये खुले छोड़ दीजिए । चरें, मस्त रहें '- में शोषक या समकालीन नेतावर्ग की स्वार्थ - लिप्सा की तरफ गहरा व्यंग्य है । ' चरना ' क्रिया को जिस ढंग से यहां सन्दर्भित किया गया है उससे इन पंक्तियों की अर्थवत्ता जीवन्त हो उठती है । दूसरा उद्धरण आम लोगों के सामाजिक - राजनीतिक अनुभवों का निचोड़ पेश करता है । ' दो ही नियम हैं, दाँत तेज और मजबूत हों, घास हरी और कोमल हो, फिर धरती चारागाह से ज्यादा कुछ नहीं हो पायेगी '- बिम्ब शोषणमूलक व्यवस्था का पर्दाफ़ाश करता है । ' दाँत तेज और मजबूत हों ' में शोषक की तरफ रचनाकार का गम्भीर व्यंग्य है । ' घास हरी और कोमल हो-' में शोषित की तरफ संकेत है । यह सम्बोधन शैली में अभिव्यक्त भाषण है जैसा कि ' तीन - अपाहिज ' में प्रयुक्त भाषण है (' - - - अब हम आज़ाद हो गये हैं, गुलामी की जंजीरें हमने तोड़ डाली हैं - - - - - - ') । ' तीन अपाहिज ' का भाषण अल्पजीवी है, जबकि ' बकरी ' के अन्त में कर्मवीर का यह लम्बा वक्तव्य दीर्घजीवी है- इसका श्रेय इसमें प्रयुक्त बिम्ब - प्रक्रिया को है । सम्बोधन शैली वाला होते हुए भी यह पूरा संवाद भाषण के सतहीपन से अप्रयास बचा है । इन पंक्तियों में जीवन के एकदम ताजे अनुभव को सूत्रबद्ध किया गया है । अनुभव का बिम्ब में निरूपण प्रेक्षक को समसामयिक यथार्थ का बोध कराता है ।

' बकरी ' में रचनाकार ने कुछ ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे जटिल यथार्थ का वातावरण प्रतिबिम्बित हुआ है । यह सत्ता और शोषक

र्ग की कुदृष्टि का परिणाम है—

` गोली बोले धांय - धांय
जनता बोले कांय - कांय
नेता बोले मांय - मांय
हर गली में सांय - सांय ` २६

यों तो इन पंक्तियों में उक्तिआत्मक अर्थ सन्निहित है, किन्तु इसकी ध्वन्यात्मक सम्भावना ध्यान आकृष्ट करती है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। धांय-धांय, कांय कांय, मांय मांय शब्दावली समकालीन परिवेश को संश्लिष्ट रूप में सामने लाती है। ऐसे परिवेश में यदि शोषित जनता भयाक्रान्त है तो उसका सटीक शब्द भी रचनाकार के पास है—सांय सांय। अतः शब्दों के इस सुकांत और तुकान्त प्रयोग से शोषित और शोषक दोनों की जटिल स्थिति का आभास होता है।

शोषकों द्वारा जनता पर किये गये अत्याचार, तीखे सामाजिक अन्तर्विरोध और दुर्निवार आत्मसंघर्ष की व्यंजना के लिए विपिनकुमार अग्रवाल की ` ठण्डी भाषा ` (तीन अपाहिज ` में प्रयुक्त ) यदि एक मात्र सही भाषा जान पड़ी तो सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने इन यथार्थ अन्तर्विरोधों का चित्रण जीवन्त भंगिमाओं की ऊष्मा से युक्त भाषा में सम्भव किया। भाषा ठण्डी हो या ऊष्मा से युक्त यह एक बात है, पर उसकी सम्प्रेषण क्षमता कितनी है यह अधिक महत्वपूर्ण बात है। ` बकरी ` में जिस यथार्थ बोध की सर्जना की गई है वह रचनाकार को लोक जीवन के निकट अधिक से अधिक ले गया है, वहीं से उसने शिल्प, भाषा, लय ग्रहण की है। इस परख को और मजबूत करती है कविता नागपाल की विचार-धारा— ` बकरी का शिल्प लोचपूर्ण है। इसे नौटंकी और पारसी थियेटर के शैलीगत प्रवाह में बाँधा गया है। लेकिन जहाँ नौटंकी में साहसिक घटनाओं, पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों के अतिरंजित रूप आम जनता को संवेदित करते हैं, वहीं ` बकरी ` का विशेष कथ्य उसे पारम्परिक नौटंकी शैली से थोड़ा - सा हटाता हुआ एक तीखा सामाजिक व्यंग्य बना देता है। इस व्यंग्य को और भी तीखा बनाने के लिए नाटककार ने पारसी रंगमंच और पुरानी नौटंकी की लोकप्रिय

धुनों का उपयोग किया है, जिसके लिए भाषा की आम मुहावरेदारी और व्यात्मकता एक बुनियाद का काम करती है।' [२७] अतः आम जीवन, और लोकभाषा और लोक रूपों के माध्यम से सामाजिक अन्याय को प्रस्तुत करने की सुन्दर योजना रचनाकार की आधुनिक वृत्ति को पोषित करती है। 'बकरी' की सबसे बड़ी विशेषता है— सर्वग्राह्य होना। 'अन्धेर नगरी' की तरह यह जितना आम व्यक्ति के लिए उपयुक्त है उतना बौद्धिक वर्ग के लिए। सभी प्रेक्षकों को अपने-अपने ढंग से अर्थ-मणि तलाशने की गुंजाइश है 'बकरी' में। जैसे यह अपने रूप में स्वतन्त्र है वैसे अभिनय के लिए भी। दीर्घ प्रेक्षागृह, दृश्य सज्जा, जटिल प्रकाश व्यवस्था, अत्यधिक [illegible] आदि अभिनय की किसी विशेष परिधि में आबद्ध नहीं।

आम शोषित जनता बकरी की तरह पीड़ा सहन करती हुई यदि जीवन का रास्ता तय कर रही है, तो वहीं अपनी नियति नहीं मान बैठती। उसके अन्दर एक सीमा के बाद आशा की ज्योति प्रकाशित होती है, जिसकी परिणति इन्कलाब जिन्दाबाद के साथ होती है। सर्वेश्वर जैसा सृजनात्मक सम्पन्न रचनाकार यदि अपने लेखन के क्षेत्र में स्वतन्त्रता का पक्षधर है, तो सृजनात्मक उद्देश्य उससे अलग नहीं। यह उनकी आधुनिकता का सूचक है। सृजनात्मक शक्ति बकरी जैसी निर्विकार भाव से जीवन जीती जनता के अन्दर नवचेतना जागृत कर सकती है और समाज को नया रूप दे सकती है। अन्तिम गायन का संकेत इसी तरफ है—

'बहुत हो चुका अब हमारी है बारी,
बदल के रहेगी ये दुनिया तुम्हारी।' [२८]

ये पंक्तियाँ 'अन्धा युग' के अन्तिम समूहगायन (पर एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में। साहस में, स्वतन्त्रता में, नूतन सर्जन में') से मिलती है— रचनात्मक उद्देश्य की दृष्टि से। शोषक के अन्याय और दिन-दिन बढ़ते अत्याचार से भयाक्रान्त जिन्दगी, जो बद होती जा रही है और बकरी की (जो शोषकों द्वारा गाँधी जी की मानी हुई है) हिंसा के बाद 'बदल के रहेगी ये दुनिया तुम्हारी' आगामी नवीन समाज का प्रतीक है और इससे अलग अर्थ में रचनाकार की प्रामाणिक सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है।

।। सन्दर्भ ।।

१- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : पूर्वाग्रह (नि० अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता)पृ०-५

२- - वही - बकरी : भूमिका दृश्य : पृष्ठ - ६

३- - वही - पृष्ठ - ५

४- - वही - पृष्ठ - ११

५- - वही - पृष्ठ - ४०

६- सं० डा० नरनारायण राय : हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा : पृष्ठ-६८

७- जयदेव तनेजा : समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : पृष्ठ - २८

८- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - ४२

९- डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : व्यक्तिगत : नवां दृश्य : पृष्ठ - ६५

१०- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - ३५ - ३६

११- - वही - पृष्ठ - ४७ - ४८

१२- सं० - नरनारायण राय : हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा (नि० विनीता अग्रवाल : पृष्ठ - ६५

१३- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - ४६ - ४७

१४- - वही - पृष्ठ - ५६

१५- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां : पृष्ठ-७

१६- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - ५६

१७- - वही - आलोचना त्रैमासिक अप्रैल - जून एवं जुलाई - सितम्बर १९७९ : पृष्ठ - ६

१८- - वही - बकरी : पृष्ठ - ४६

१९- - वही - पृष्ठ - ३२ - ३३

२०- - वही - पृष्ठ - ५१

२१- - वही - पृष्ठ - ६०

२२- विनीता अग्रवाल (निबन्ध) हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा (सं० नरनारायण राय) पृष्ठ - १११

२३- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - १५

२४- - वही - पृष्ठ - ३६

२५- - वही - पृष्ठ - ६१

२६- - वही - पृष्ठ - ५०

२७- कविता नागपाल बकरी (निर्देशक की बात) पृष्ठ - ६ - ७

२८- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी : पृष्ठ - ६३

॥ सुरेन्द्र वर्मा : नायक खलनायक विदूषक ॥

रंगान्दोलन की नयी - नयी समस्याओं और जीवन की जटिल संवेदनाओं से सर्जनात्मक संघर्ष के कारण आधुनिक नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा प्रमुख कलाकार हैं। ` नायक खलनायक विदूषक ` (सन् १९७२) गुप्तकालीन इतिहास पर आधारित है, पर अन्य ऐतिहासिक नाटकों की तरह इसमें अतिवाद की उपेक्षा की गई है। सुरेन्द्र वर्मा की ऐतिहासिक दृष्टि न तो ऐतिहासिक चरित्र को प्रतिष्ठित कर सांस्कृतिक चेतना को जागृत करना है और न उस चरित्र का मनोविश्लेषण । ` नायक खलनायक विदूषक ` जैसा नाटक लिखने का उद्देश्य स्वयं नाटककार के शब्दों में— ` मैं आशावादी हूँ— अभी इस प्रकार के नाटक होने दीजिए— इससे जनता की रुचि का भी परिष्कार और संस्कार होगा। ` १

वास्तविक जीवन के बोलचाल के अनुरूप संवादों की संरचना ` नायक खलनायक विदूषक ` में मिलती है, जिससे नाटककार और प्रेक्षक का अन्तर मिट जाता है । यही गुणवत्ता नाटक की विशेष उपलब्धि बन जाती है—

` महामन्त्री : सब प्रबन्ध ठीक चल रहा है नाट्याचार्य ?

सूत्रधार : जी हाँ, महोदय ।

स्थापक : आप निश्चिन्त रहें ।

महामन्त्री : प्रेक्षकों प्रवेश में बैठने की क्या व्यवस्था है ?

सूत्रधार : वही- - - - श्वेत स्तम्भ के सामने ब्राह्मणजन, लाल स्तम्भ के निकट क्षत्रियवर्ग, पश्चिमोत्तर भाग में पीले स्तम्भ के पास वैश्य— समुदाय और उत्तर - पूर्व में नीले स्तम्भ के समीप शूद्रगण - - - ` २

बोलचाल की सामान्य शब्दावली रंगकर्मियों को प्रेक्षक समूह से अलग नहीं करती । नाटककार की रंगमंच - सम्बन्धी समकालीन गहन अनुभूति इस बोलचाल के लहजे में कैसे साकार हो रही है ।

अत्यन्त विषम परिस्थितियों के बीच कलाकार जीवन के सुख और संवेदना ` नायक खलनायक विदूषक ` में विद्यमान हैं— यह जीवन पारम्परिक रूप में पल्लवित

होता है— हर्ष— विषाद, आशा— निराशा के बीच से संक्रमित होकर। विदूषक हो या सूत्रधार कोई एक दूसरे से अलग नहीं हैं और न तो एक दूसरे के प्रति ईर्ष्यालु हैं। सभी एक सूत्र में आबद्ध हैं। यहाँ एक बेड़ी आत्मीय रिश्ते की तलाश है। रंगकर्मियों की नित्य नयी - नयी समस्याओं को झेलने की क्षमता उसके चरित्र की विशिष्टतम उपलब्धि है—

" आपने कोई नयी बात नहीं कही है— मैं भी यह जानता हूँ, लेकिन क्या करूँ। - - - - वह इतना लोकप्रिय है कि दर्शक दूसरे अंक तक उसकी प्रतीक्षा नहीं कर सकते — चिल्लाने लगते हैं, मुँह से गर्दभ की ध्वनियाँ निकालने लगते हैं। पहले अंक में मंगलाचरण के अलावा और कोई जगह नहीं, जहां उसे कुछ क्षणों के लिए मंच पर लाया जा सके। - - - " ३

" मैं भी यह जानता हूं, लेकिन क्या करूँ " में रचनाकार की विवशता मूर्त हो उठी है जो किसी एक की न होकर प्रत्येक रचनाकार की बन जाती है। " गर्दभ " संस्कृत शब्द है और यह भाषा की सर्जनात्मक क्षमता में अभिवृद्धि करता है। ऐसे में सुरेन्द्र वर्मा के नाटक पर आरोप लगाना असंगत है— " सुरेन्द्र के नाटकों में कथ्य की प्रधानता है। उन्होंने अपने विचारों के अभिव्यक्तिकरण पर ही विशेष बल दिया है। इसीलिए पात्रों के चरित्र उभर नहीं सके हैं। असाधारण पात्र भी साधारण बनकर रह गये हैं और उनकी स्वयं की विशिष्टताएँ दब सी गई हैं। " ४

" नायक खलनायक विदूषक " में रचनात्मक संघर्ष को आत्मसात् करने और अभिव्यंजित करने तथा उसे नये - नये रूपों में मुखर करने की छटपटाहट है। यह द्रष्टव्य है—

" कपिंजल : आज जो भी बात होगी, नाटक के पहले होगी। नाटक के बाद आप और आपका व्यवहार — दोनों बदल जाते हैं।

सूत्रधार : यह एकाएक तुम्हें क्या हो गया है ?

कपिंजल : एकाएक ? - - - - क्या पिछले इन मासों से मैं आपसे लगातार यह प्रार्थना नहीं करता आ रहा हूँ कि अब विदूषक की भूमिका में नहीं करना चाहता ? क्या पहले आपने यह नहीं कहा था कि आप इस बात पर विचार

करेंगे ? क्या बाद में आपने यह वचन नहीं दिया था कि आप मेरा अनुरोध स्वीकार कर लेंगे ?' ५

सर्जनात्मक तनाव के इन विविध रूपों को वास्तविक स्थितियों के सन्दर्भ में व्यंजित करने से पंक्तियाँ अधिक विश्वसनीय बन गई हैं। 'आज जो भी बात होगी, नाटक के बाद होगी। नाटक के बाद आप और आपका स्वभाव - दोनों बदल जाते हैं' — यह कलाकार के जीवन का क्रूर सत्य है, जिससे वह नित्य उलझता रहता है। 'अब विदूषक की भूमिका में नहीं करना चाहता ? क्या पहले आपने यह नहीं कहा था कि आप इस बात पर विचार करेंगे ?' ऐसे परिवेश में जहाँ एक कलाकार दूसरे को आधुनिक नेताओं की तरह झूठा आश्वासन देकर भ्रमित करना चाहता है वहाँ क्षीण मानवीयता के पक्ष में एक विकल्प के रूप में सशक्त हथियार का कार्य करती है। 'क्या आपने यह वचन नहीं दिया था कि आप मेरा अनुरोध स्वीकार कर लेंगे ?' यह पंक्ति संस्कारी मानसिकता में अन्तर्निहित नैतिक मूल्यों के प्रति विरक्ति भाव को नहीं जागृत करती, बल्कि लज्जित भाव को उपजाती है। इन पंक्तियों में द्वन्द्व और संघर्ष की जैसी व्यंजना सहज एवं सशक्त भाषा में हुई है वह थोपी न होकर आनुभूतिक स्तर पर वर्णित की गई है।

सर्जनात्मक तनाव की यह विशेष मनःस्थिति है, जिसमें जीवन की ऊब समाहित है और सभी को इस दशा से गुजरना पड़ता है चाहे वह कलाकार हो या सामान्य जन। ऐसे में भाषा आधुनिक संवेदना का विस्तृत रूप ग्रहण कर सकी है तो कोई आश्चर्य नहीं। यदि प्रेक्षक के अन्दर इस तनाव के प्रति सहानुभूति जागृत होती है तो इसका श्रेय उसकी सर्जनात्मक भाषा को है। इस सन्दर्भ में राजेन्द्र कुमार की अवधारणा संगत है— 'सुरेन्द्र के नाटक सही अर्थों में आज के नाटक हैं क्योंकि उनका हर पात्र समकालीन जीवनानुभव की साझेदारी में आज के मनुष्य के साथ है।' ६ 'नायक खलनायक विदूषक' का कुछ अंश प्रस्तुत है—

'एक कारण तो यही है कि इस पात्र से मैं बुरी तरह ऊब चुका हूं। इसकी भूमिका एक ऐसा मोदक है, जिसे मैंने सैकड़ों बार निगला है, लेकिन जो बार - बार मेरे सामने आ जाता है— वही रूप, वही आकार, वही गन्ध, वही स्वाद। - —

नाट्यशाला के प्रत्येक कलाकार के लिए नाटक बदलता है, क्योंकि उसका पात्र बदलता है, पात्र का व्यक्तित्व बदलता है।" ७

भाषा संरचना के दो रूपों— सहज एवं बिम्बात्मक— में यथार्थ की पकड़ अतिरंजित नहीं है, बल्कि अधिक रोचक है। "इसकी भूमिका एक ऐसा मोदक है, जिसे मैंने सैकड़ों बार निगला है" में बिम्ब है जो विदूषक के चरित्र को बड़े सुन्दर ढंग से सम्प्रेषित करता है। यथार्थ के संवेदनात्मक अंकन के बावजूद इन पंक्तियों का केन्द्रबिन्दु द्वन्द्वपूर्ण आत्मिक मनोदशा है जिसे आत्मसंघर्ष के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है— "लेकिन जो बार-बार मेरे सामने आ जाता है— वही रूप, वही आकार, वही गन्ध, वही स्वाद।" अर्थ के दूसरे धरातल पर ये पंक्तियाँ यथास्थितिवाद का विरोध करती हैं— चाहे वह सामाजिक स्तर हो या कलात्मक।

"नायक खलनायक विदूषक" में प्रयुक्त मौन की मुखर वृत्ति रचनाकार को अत्यधिक वाचाल होने से बचाती है। प्राचीन नाटकों (हिन्दी एवं संस्कृत) से जो अधिक बोलने की रीति चली आ रही थी वह समकालीन नाटकों में समाप्त हो जाती है। मौन द्वारा पटिलतर और संश्लिष्टतर होती अनुभूति के क्रम को प्रेक्षक साक्षात्कृत करता है। प्रस्तुत उद्धरण में ऐसी प्रक्रिया देखी जा सकती है—

"(तत्क्षण) और कल राज्य के लिए है। ---- फिर कल के दिन कोई धर्मगुरु आ जायेगा, तो धर्म के लिए होगा। फिर परसों के दिन कहीं का नाट्याचार्य आ जायेगा, तो कला के लिए होगा। ---- यह दुश्चक्र कभी नहीं टूटेगा श्रीमान्। निर्णय लेना ही होगा।" ८

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि विदूषक की भूमिका की सार्थकता या निरर्थकता की यह चिन्ता नाटककार के लिए नाटक लिखने या अपनी कला पहचान बनाने का साधन भर तो नहीं है? अधिकतम अंश तक यह सम्भव है कि उसने अपना अलग स्थान निर्धारित करने के लिए इस तरीके का इस्तेमाल किया हो। पर यह बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा जा सकता है कि सुरेन्द्र वर्मा ने इस नवीन तरीके द्वारा, नाटक और रंगमंच सम्बन्धी अपनी चिन्ता को वास्तविक, सामाजिक,

राजनीतिक सन्दर्भों में अभिव्यक्त किया है। कपिंजल के शब्दों में प्रतिरोध किया गया है शोषक के आतंकपूर्ण दुर्व्यवहार से ग्रसित सामाजिक, राजनीतिक कुव्यवस्था का— 'यह दुश्चक्र कभी नहीं टूटेगा श्रीमान्। निर्णय लेना ही होगा।' ऐसी व्यवस्था के प्रति तीक्ष्ण व्यंजना है, जिसमें लोग दूसरों को तो कर्तव्य पथ का बोध कराते हैं, पर स्वयं उससे कोसों दूर— 'और अब राज्य के लिए है। - - - - फिर कल के दिन कोई धर्मगुरु आ जायेगा, तो धर्म के लिए होगा। फिर परसों के दिन कहीं का नाट्याचार्य आ जायेगा, तो कला के लिए होगा।' यह तीक्ष्ण व्यंग्य ठोस राजनीतिक, सामाजिक सन्दर्भों से उत्पन्न हुआ है, जो चिन्ता की लहर में डालकर किनारे लाता है निर्णयात्मक विवेक द्वारा।

नाट्यभाषा की सर्जनात्मक क्षमता हरकत से अन्तर्बद्ध होकर ही विकसित हो सकती है। समकालीन नाटक में यदि हरकत का कलात्मक संयोजन न होता तो वह रचनात्मक महत्त्व अर्जित करने से वंचित रह जाता। 'नायक खलनायक विदूषक' में हरकत का प्रयोग परिस्थितियों एवं पात्रों की मानसिकता को प्रासंगिक आधार देने के अभिप्राय से किया गया है। यद्यपि 'नायक खलनायक विदूषक' की भाषा में हरकत की योजना कम देखने को मिलती है इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें आज के कलाकार मन के अन्तर्विरोधों और जीवनगत व्यवहारों को भाषा में प्रतिफलित होते दिखाने की चेष्टा की गई है। राजेन्द्र कुमार की विचारधारा ठीक इसके अनुकूल है— "सुरेन्द्र के इन दोनों नाटकों ('सेतुबन्ध,' 'नायक खलनायक विदूषक') में पठनीयता का अपना अतिरिक्त वैशिष्ट्य भी है। अतिरिक्त इस अर्थ में नहीं कि वह नाटक के कथ्य से सर्वथा असम्बद्ध है बल्कि इस अर्थ में कि उसका सीधा सरोकार उन रंगकर्मियों से है जो रंगान्दोलन की नयी - नयी समस्याओं से जूझ रहे हैं। सामान्य पाठकों से भी अधिक अपनी पठनीयता की अपेक्षा इन नाटकों को उन लोगों से है जो नाट्यानुभूति को मंच के माध्यम से दर्शक तक सम्प्रेषित करना चाह रहे हैं।"[६] 'नायक खलनायक विदूषक' में कलात्मक संयम को अनिवार्य नहीं समझा गया है। प्रस्तुत उद्धरण में नाट्यभाषा की अवस्थिति देखी जा सकती है, जिसमें स्वाभाविक हरकत का समावेश है—

'नाट्याचार्य, सारा काम ठीक चल रहा है न? - - - - मैं सोचा कि

पहले स्वयं आश्वस्त हो लूं। - - - - सेनापति अग्निमित्र को राजमहल में छोड़कर आया हूँ। वे सन्ध्या वन्दन कर रहे हैं। - - - - (क्षणिक विराम) आप लोग रुक क्यों गये ? कुछ अभ्यास कर रहे थे न ? - - - - तो कीजिए। (कुछ पीछे हट आता है। मुस्कान सहित) हाँ तो आर्य कपिंजल। तनिक देखें आपका अभिनन्दन - - - - (विराम। कुछ आशंका से) क्या बात है ? आप लोग चुप क्यों हैं ? ` १०

आत्मानुभूति को जब नाटक के धरातल पर एक व्यापक सन्दर्भ देने का प्रयास होता है तो वहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि रचनाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति में दूरी न हो, यह दूरी वास्तविकता को झूठी न सिद्ध करती हो। ` नायक खलनायक विदूषक ` में भाषा का ठोस और क्षिप्र रूप देखा जा सकता है जहाँ से उसकी अलग पहचान बननी शुरू होती है—

` नहीं महोदय। नाट्यशाला आपका अनुरंजन करती है, आपको सार्थक नाट्यानुभूति देती है, जीवन के प्रति आपके बोध को गहरा बनाती है, इसलिए उसके किसी गतिरोध को हटाना आपका कर्तव्य है। ` ११

यहाँ अनुभव के तात्कालिक और वैयक्तिक सन्दर्भ एक दूसरे के समानान्तर बन गये हैं। ` नहीं महोदय। नाट्यशाला आपका अनुरंजन करती है, आपको सार्थक नाट्यानुभूति देती है, जीवन के प्रति आपके बोध को गहरा बनाती है— में मूल्यों के स्वीकार की स्थिति है और इस स्वीकृति में सामाजिक विश्वास जगाने के लिए सर्वप्रथम नाट्यशाला की विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। विशेषता ही कर्तव्य भावना को प्रेरित करने के लिए पर्याप्त है। रचनाकार की इस संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के मूल में है आस्था, जिसके सहारे वह उस मानव शक्ति का स्तवन करना चाहता है जो रंगमंच की समस्त समस्याओं के विरुद्ध कर्तव्य की ज्योति प्रज्ज्वलित कर सके— ` इसलिए उसके किसी गतिरोध को हटाना आपका कर्तव्य है।` ` नहीं महोदय ` द्वारा समाज को सम्बोधित किया गया है।

` नायक खलनायक विदूषक ` की भाषा में उदात्तता का दिग्दर्शन होता

है, जो सांस्कृतिक आस्था के सूत्र से निष्पन्न हुई है। इस प्रयोग के केन्द्र में है कलात्मक समृद्धि की प्रबल चिन्ता। नाट्य भाषा को अभिव्यक्त बनाने में उसका प्रमुख योगदान है। विभिन्न पात्रों का शपथ ग्रहण करना इसका सशक्त प्रमाण है—

' चन्द्रवर्धन : कहिए - - - मैं कुमारभट्ट - - -
कुमारभट्ट : मैं कुमारभट्ट - - - -
चन्द्रवर्धन : गीता की शपथ लेकर कहता हूँ - - -
कुमारभट्ट : गीता की शपथ लेकर कहता हूँ - - - -
चन्द्रवर्धन : कि इस विवाद पर मैं जो कहूँगा - - - -
कुमारभट्ट : कि इस विवाद पर मैं जो कहूँगा - - - -
चन्द्रवर्धन : वह मेरी अन्तरात्मा का निर्णय होगा - - - -
कुमारभट्ट : वह मेरी अन्तरात्मा का निर्णय होगा - - - -
चन्द्रवर्धन : केवल सच होगा - - - -
कुमारभट्ट : केवल सच होगा - - - -
चन्द्रवर्धन : और सच के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा - - - -
कुमारभट्ट : और सच के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा - - - - ' १२

' नायक खलनायक विदूषक ' में प्रयुक्त काव्यात्मक भाषा दो रूपों में दृष्टिगत होती है— एक तो ' अभिज्ञान शाकुन्तल ' नाटक खेलने के लिए उससे ली गई पंक्तियाँ (' किन - - - - - प्रभाएँ ') और दूसरी ' नायक खलनायक विदूषक ' के अपेक्षित अर्थ को उजागर करने के लिए। पहली भाषा - योजना गम्भीर अवधारणा के अंकन के लिए नहीं हुई है। ऐसी पंक्तियाँ ' अभिज्ञान शाकुन्तल ' नाटक के अभिनय को आगे बढ़ाती हैं और साथ - साथ ऐतिहासिक अनिवार्यता को बनाये रखती हैं। समकालीन नाटक के बीच ऐसी भाषा संरचना एक नवीन प्रयोग का उन्मेष है। काव्यात्मक भाषा विधान के दूसरे रूपों का साक्ष्य प्रस्तुत उद्धरण है—

' कुमारी अम्बरमाला ! - - - - जो कभी वसन्तसेना बनकर नगर वधू की मोहक छवि पा लेती है, कभी शकुन्तला के रूप में निश्छल सौन्दर्य की प्रतिमा हो

जाती हैं, कभी वासवदत्ता बनकर कलाविलासी व्यक्तित्व को वाणी देती हैं, कभी द्रौपदी के रूप में लटें बिखराये प्रतिहिंसा की लपलपाती ज्वाला बन जाती हैं।` १३

प्रस्तुत उद्धरण चारित्रिक विविधता की सजीवता को चरितार्थ करता है, जिसके लिए कपिंजल बेचैन है। कपिंजल की प्रमुख समस्या एकरसता की है और इन ` कुमारी - - - - - जाती हैं ` पंक्तियों द्वारा उसकी दयनीय दशा के प्रति अधिक करुणा उत्पन्न होती है। ` नगर वधू की मोहक छवि,` ` निश्छल सौन्दर्य की प्रतिमा`, ` कलाविलासी व्यक्तित्व`, ` प्रतिहिंसा की लपलपाती जीभ ` की सर्जनात्मक भाषा जितना चरित्र को मूर्त करती है उतना सक्षम अभिनय कला के लिए प्रेरित भी।

` नायक खलनायक विदूषक ` में नवीन भंगिमाओं की तरफ बराबर ध्यान दिया गया है इसलिए अनुभव की अभिव्यक्ति आकार ग्रहण कर सकी है। इसका मुख्य कारण यह है कि कोई भी अभिव्यक्ति विधा जब किसी विशेष साँचे में आबद्ध रहती है तो उसकी रचनात्मक उपयोगिता में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। सुरेन्द्र वर्मा की रचनात्मक दृष्टि इन परिस्थितियों से बच जाती है। इस दृष्टि का प्रामाणिक रूप सूत्रधार द्वारा कथित एक पंक्ति है— ` एकरसता से बचने के लिए क्या यह अच्छा नहीं होगा, आर इस बार छोटे - छोटे केश रहें।` १४ एकरसता की इस समस्या से जूझने के कारण ` नायक खलनायक विदूषक ` में विभिन्न भंगिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिसमें रूढ़ियों से मुक्ति है और जिसे आधुनिक संवेदना द्वारा पुष्टि मिलती है। इस सन्दर्भ में काव्यात्मक भाषा नाटक की मार्मिक प्रक्रिया में अनिवार्यता सिद्ध हुई है—

` - - - - हम सत्ताधारी के स्वभाव के विशेषज्ञ। उसके उतरते-चढ़ते तापमान के संवाददाता। - - - - उसकी आदतों के सन्दर्भग्रन्थ। - - - - उसकी रुचियों - अरुचियों के मानक कोण। - - - - हम वह प्राचीर हैं, जो उसे घेरे हुए हैं।` १५

काव्यात्मक भाषा का विधान नाटक में एकरसता को मिटाने मात्र के लिए नहीं किया गया है, बल्कि इसके द्वारा अनुभव की जटिलता अभिव्यक्त हुई है।

' सत्ताधारी के स्वभाव के विशेषज्ञ ' में कुमारभट्ट के चरित्र का विश्लेषण हुआ है और साथ - साथ नाटककार की रुचि का भी । इस भाषिक प्रक्रिया में सुन्दर रूपक की जो सृष्टि होती है वह अर्थवत्ता को गहरी और दीर्घकालिक बनाती है—

' आदर्शों के सन्दर्भ ग्रन्थ, ' रुचियों - अरुचियों के मानककोष ।'

' नायक खलनायक विदूषक ' के रचना - विधान का महत्त्वपूर्ण पक्ष है— व्यंग्य । जीवन के अन्तर्विरोधों का उद्घाटन उसके बिना नहीं हो सकता । अत: जटिल विरोधों और व्यवहारों पर आघात करने के लिए व्यंग्य को आवश्यक समझा गया है । व्यंग्य - विधान जिस कलात्मक संयम की माँग करता है वह मौजूद है— ' नायक खलनायक विदूषक ' में । कपिंजल के संवाद में तीक्ष्ण व्यंग्य को देखा जा सकता है—

' - - - - अगर मैं मनोविश्लेषक होता, तो इस बात की व्याख्या इस तरह करता कि जो लोग अपने वास्तविक जीवन में किसी न किसी अंश तक मेरी भूमिका को जीते हैं, वे मंच पर मुझे देखकर मेरे ऊपर हँस लेते हैं— क्योंकि कौन इतना सच्चा है, जो अपने आप पर हँस सके ?' १६

' नायक खलनायक विदूषक ' मूलत: एक है, पर उसके व्यक्तित्व के तीन पक्षों का परिवर्तन परिस्थितियों के अनुसार होता रहता है—

- - - - ' जब कण्व के आश्रम में दुष्यन्त का प्रेम - व्यापार चलता है, तब शकुन्तला के लिए वह नायक है, जब हस्तिनापुर में वह अपनी गर्भवती पत्नी को पहचानने से मना कर देता है— अपमानित, लांछित शकुन्तला भाग्य के भरोसे अकेली छोड़ दी जाती है, तब क्या दुष्यन्त खलनायक नहीं हो जाता ? और जब अन्त में वह शकुन्तला के पैरों पर गिर कर क्षमा - याचना करता है, तब क्या उसकी स्थिति किसी विदूषक से भिन्न है ?' १७

एक व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष समकालीन जीवन में अन्तर्व्याप्त आक्रामकता को विश्लेषित करते हैं । प्रश्नवाचक वाक्य — ' जब हस्तिनापुर में वह अपनी गर्भवती पत्नी को पहचानने से मना कर देता है— अपमानित, लांछित शकुन्तला भाग्य के

भरोसे छोड़ दी जाती है, तब क्या दुष्यन्त खलनायक नहीं हो जाता' — अपने साथ - साथ विभिन्न प्रश्नों की गूँज प्रेक्षक के मानस में छोड़ जाता है। रचनाकार की चिन्ता का विषय जीवन की आपाधापी में अलग - अलग मुखौटों वाले अस्तित्व के पैदा होने का है, जिससे सामाजिक उपलब्धि सम्भव नहीं। 'और जब अन्त में वह शकुन्तला के पैरों पर गिरकर क्षमा - याचना करता है, तब क्या उसकी स्थिति किसी विदूषक से भिन्न है?' — में विदूषक की हास्यात्मक स्थिति की झाँकी है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि समकालीनता के प्रति रचनाकार की एक प्रतिक्रिया मात्र तो नहीं? उसे लगता है कि आज व्यक्ति अपना अस्तित्व रखते हुए अस्तित्वहीन और उसकी आवाज तेजहीन है— विदूषक की आवाज की तरह। फलतः इस अस्तित्व से सफलता नहीं हासिल की जा सकती— चाहे वह रचनात्मक क्षेत्र में हो या सामाजिक। अहमियत इस बात की है कि व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन किस दृष्टि और पद्धति से नाटक में हुआ है। रचनाकार मानवता और संस्कृति को पतन में जाने से बचाना चाहता है और उसके लिए वह तुलनात्मक दृष्टि से चरित्रों एवं स्थितियों को आमने - सामने रखता है। यह वह सर्जनात्मक भाव - भूमि है, जिस पर अनुभव का चरम रूप, मानसिक तनाव और प्रश्नों का ताना - बाना बुना जाता है।

'नायक खलनायक विदूषक' में कई स्थलों पर ऐसा लगता है कि रचनाकार नियतिवाद को स्वीकार कर रहा है, पर उसकी अन्तर्धारा में नियतिवादी स्वीकृति नहीं। ऐसे स्थलों पर विसंगत स्थितियों से मुक्ति की छटपटाहट है। कुमारभट्ट के संवाद की तरफ संकेत यहाँ प्रासंगिक है—

'अब यही सोचकर स्वयं को सन्तोष दो कि भूमिका चुनने का अधिकार हमारा नहीं है। और इतना ही क्या कम है कि हम मछुआ या दूत या कंचुकी नहीं हुए।' १८

यह मनोविश्लेषणात्मक रूप जीवन की ऊब, छटपटाहट और त्रासद स्थिति से परिचित कराता है, जिससे सर्जनात्मक अस्तित्व पैदा हो सके।

जीवन की त्रासद स्थिति को कपिंजल मंच पर भोग रहा है, तो कुमारभट्ट

उसे पूरे जीवन में भोगने के लिए अभिशप्त है। ऐसे में कपिंजल को अपना दु:ख हल्का लगने लगता है और वह अनचाही भूमिका निभाने के लिए विवश हो जाता है। कुमारभट्ट की विवशता करुणाजनक है—

`मुझे क्या कहोगे, जो आठों पहर इस झूठ के विषैले घूँट पीता है ?---- (तीव्र स्वर में) मैं कुमारभट्ट। नालन्दा विश्वविद्यालय का स्नातक। अपांगदीर्घ और मलयकेतु जैसे प्रख्यात आचार्यों का शिष्य। चारों वेद और छहों वेदांगों का मर्मज्ञ। मीमांसा और न्याय में निष्णात। पुराण और धर्मशास्त्र में प्रवीण। ---- शिक्षा पूरी होने के बाद दो वर्ष बेकार रहा। चौबीस मासों के लम्बे फैलाव में आत्मविश्वास का घनघोर संकट ---- विवशता में जो भी हाथ में आया, स्वीकार करना पड़ा।` १६

`मुझे क्या कहोगे, जो आठों पहर इस झूठ के विषैले घूँट पीता हैं ?` यहाँ रचनाकार कृत संकल्प है सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने के लिए। यह बात अलग है कि इस कार्य में उसकी सफलता कितने अंश का कोण बनाती है। सामाजिक यथार्थ का या तो सहानुभूतिपूर्ण अंकन किया जाता है या आलोचनात्मक, इन दोनों प्रक्रियाओं में उसका संवेदनात्मक रूप भी अलग - अलग हुआ करता है। यहाँ समाज के विषैले परिवेश को रूपायित करने में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार अपनाया गया है, जिसमें शोषक— शोषित के बीच में व्याप्त सीमा को प्रासंगिक समझा गया है, यद्यपि यहां पूंजीवादी संस्कृति को नज़र अन्दाज़ नहीं किया गया है। सामाजिक विसंगतियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि नहीं है, पर सहानुभूतिक दृष्टि कुंठित संवेदनशीलता के लिए उपचार का कार्य करती है। `मैं कुमारभट्ट। नालन्दा विश्वविद्यालय का स्नातक। अपांगदीर्घ और मलयकेतु जैसे प्रख्यात आचार्यों का शिष्य। चारों वेद और छहों वेदांगों का मर्मज्ञ। मीमांसा और न्याय में निष्णात। पुराण और धर्मशास्त्र में प्रवीण` पंक्तियों में तीव्र लय का प्रयोग कुमारभट्ट की विशेषता बताने के लिए किया गया है जिसके बाद की पंक्तियाँ— `शिक्षा पूरी होने के बाद दो वर्ष बेकार रहा। चौबीस मासों के लम्बे फैलाव में आत्मविश्वास का घनघोर संकट ---- विवशता में जो भी हाथ में आया, स्वीकार करना पड़ा` अधिक क्रियाशील बन पड़ी हैं। इसमें समकालीन प्रशिक्षित

एवं कुंठित युवा मानसिकता की दयनीय दशा का चित्रण है। `प्रख्यात `, `मर्मज्ञ,` `निष्णात ` जैसे वज़नदार शब्दों का प्रयोग संगत है, क्योंकि ऊँची शिक्षा का विवरण देने के लिए हल्के शब्द यहाँ इतने उचित नहीं ठहरते।

` नायक खलनायक विदूषक ` में भरतमुनि के ` नाट्यशास्त्र ` को आदर्श रूप में ग्रहण किया गया है, जिसके द्वारा नाट्य - विधान में प्रसंगों, सन्दर्भों और स्थितियों की विवादात्मकता को सुलझाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस विशिष्टता को देखा जा सकता है प्रस्तुत उद्धरण में—

` नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि जब किसी पात्र को लेकर, कोई विवाद खड़ा हो, तो वास्तविक जीवन में उस भूमिका को जीने वाला व्यक्ति निर्णायक बनाया जाये।` २०

रंगमंच पर पात्रों के सन्दर्भ में विवादास्पद स्थितियों के लिए क्या किया जाना चाहिए ? यह प्रश्न रंगमंच की समस्याओं में महत्त्वपूर्ण है। यहाँ रचनाकार यह समझ चुका है कि सोचने समझने मात्र से कुछ नहीं होने वाला है जब तक कि उस सोच समझ को अमल में लाने के लिए आदर्श को प्रतिस्थापित न किया जाय।

` नायक खलनायक विदूषक ` में पात्र के पारम्परिक रूप को देखने के अभ्यस्त दर्शकों की भर्त्सना की गई है—

` दोष क्यों ? - - - - वे वीरधवल को दुर्योधन और रावण के रूप में देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं। उन्होंने उसे खलनायक के रूप में उसी प्रकार स्वीकार कर लिया है, जिस तरह हम अपने घर में कर लेते हैं— माता को माता के रूप में, पिता को पिता के रूप में, पत्नी को पत्नी के रूप में।` २१

रंगमंच के प्रति रचनाकार की इस ` वे वीरधवल- - - - - रूप में ` धारणा में प्रत्यक्ष अनुभव और नाट्यानुभव का तादात्म्य है जहाँ भाव और विचार को कार्य रूप में प्रतिफलित किया गया है। अनुभव, विचार और कर्म की संयुक्त नाट्याभि-व्यक्ति तभी सार्थक दिशा की ओर अग्रसर हो सकती है जब दर्शक की रुचि को

ध्यान में रखा जाय। दर्शक के मन में गहराई तक जमी हुई विश्वास की जड़ को— जिन्होंने उत्नायक को माता, पिता, पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया है— को एकाएक नहीं हटाया जा सकता।

नील नगर के महाराज पुष्यभूति मेरुतुंग के सेनापति अग्निसिंह के साथ युद्ध करने के लिए तैयार न हो सकने के कारण सन्धि के लिए प्रस्तुत हैं। सन्धि की शर्तों की चर्चा के समय महाराज पुष्यभूति के आदेश से रंगशाला में 'अभिज्ञान - शाकुन्तल') नाटक के अभिनय की तैयारियाँ होने लगती हैं, जिसके दो उद्देश्य हैं सूत्रधार के शब्दों में—

'सूत्रधार : आज प्रातःकाल से सन्ध्या तक सन्धि के विस्तारों पर विचार करते - करते सेनापति थक गये हैं, इसलिए एक तो उनके मनोरंजन के लिए और दूसरे - - - -

अम्बरमाला : दूसरे ?

सूत्रधार : महाराज के आदेश पर उनका विदूषक सेनापति के शिविर में गया था और उनकी रुचियों के बारे में कई सूचनाएँ लाया है। उनमें से एक यह है कि उन्हें अभिज्ञान शाकुन्तल विशेष रूप से प्रिय है। महाराज का विचार है कि अगर सेनापति के सम्मान में इस नाटक का मंचन किया जाये, तो हो सकता है कि वे कुछ उदार हो जाएँ और सन्धि की शर्तों में कड़ाई न बरतें।' २२

समकालीन अनुभव को शिथिल न होने देने के लक्ष्य से रचित 'नायक खलनायक विदूषक' नाटक में ऐतिहासिक पात्र और इतिहास का निरचय ही महत्त्व है, जो इतिहास से उठकर वर्तमान जीवन के जटिल प्रश्नों को उठाता है।

यदि व्यक्ति विभाजित व्यक्तित्व को ढोते हुए जीवन घसीटने के लिए अभिशप्त है, तो उसका साक्षात्कार 'नायक खलनायक विदूषक' में होता है। और इसकी सफलता का श्रेय सर्जनात्मक नाट्य-भाषा को है।

॥ स न्द र्भ ॥

१- डॉ० गिरीश रस्तोगी : समकालीन हिन्दी नाटककार (से उद्धृत)पृ०-२१०

२- सुरेन्द्र वर्मा : तीन नाटक : पृष्ठ - ४४

३- - वही - पृष्ठ - ५५

४- डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल ' चन्द्र', नीलम मकान्द : हिन्दी नाट्य और नाटककार : पृष्ठ- १४६

५- सुरेन्द्र वर्मा : तीन नाटक : पृष्ठ - ५६

६- डॉ० राजेन्द्र कुमार : नया प्रतीक अंक-७,जुलाई १९७६ (आज के रंगनाटक : दर्शक और पाठक): पृष्ठ-१७

७- सुरेन्द्र वर्मा : तीन नाटक : पृष्ठ - ६४

८- - वही - पृष्ठ - ६०

९- डॉ० राजेन्द्रकुमार : नया प्रतीक अंक-७, जुलाई १९७६ (आज के रंगनाटक : दर्शक और पाठक) : पृष्ठ-१५

१०- सुरेन्द्र वर्मा : तीन नाटक : पृष्ठ- ६२

११- - वही - पृष्ठ - ७२

१२- - वही - पृष्ठ - ७५

१३- - वही - पृष्ठ - ६५

१४- - वही - पृष्ठ - ६०

१५- - वही - पृष्ठ - ८३ - ८४

१६- - वही - पृष्ठ - ६८

१७- - वही - पृष्ठ - ८१ - ८२

१८- - वही - पृष्ठ - ८३

१९- - वही - पृष्ठ - ८२ - ८३

२०- - वही - पृष्ठ - ७१

२१- - वही - पृष्ठ - ७८

२२- - वही - पृष्ठ - ४३ - ४४

॥ मुद्राराक्षस : तिलचट्टा ॥

आधुनिक नाट्य साहित्य को समृद्ध बनाने में मुद्राराक्षस का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे अपनी अलग पहचान बनाये रखने के लिए कई तरह से चिन्तित हैं कहीं शिल्प के स्तर पर तो कहीं भाषिक स्तर पर। 'तिलचट्टा,' (सन् १९७३) से लेकर 'मरजीवा,' 'योर्स फेथफुली,' 'तेन्दुआ,' 'गुफाएँ' (१९७९) तक रचनात्मक गतिशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'तिलचट्टा,' समाज में बढ़ती आक्रामक स्थितियों, हिंसा, सेक्स, अव्यवस्था की क्रूरता के प्रति आक्रोश, मृत्यु आदि की होने (अधिक) न होने (कम) की संदिग्धियों के बीच मानवीय त्रासदी का प्रतिबिम्ब है। आत्मघातक स्थिति में मानव के भटकाव की स्थिति है, तो एक ठोस और व्यवस्थित धरातल के लिए। इस विषय पर शंका का समाधान रचनाकार ने स्वयं कर दिया है— " 'तिलचट्टा' मानवीय नियति की एक ऐसी त्रासदी है, जिसे निरन्तर अपने मानवीय ऐतिहासिक आधार की तलाश है। नाटक में चरित्र नहीं यह त्रासदी ही प्रमुख है, सत्य है। त्रासदी ही एक ऐसी प्रामाणिक इकाई है जिससे इस रचना का नाटकीय इतिहास बनता है। प्रारम्भ से अन्त तक यह त्रासदी ही है जो आकार मंच पर रहती है।" १

किसी रचना की विशेषताओं को उसकी ऊपरी सतह पर भ्रमण करके नहीं पाया जा सकता, किन्तु जागरूक रचनाकार की रचना में समकालीन प्रवृत्तियों, भाषा की सृजनात्मक चिन्ता और उससे सम्बन्धित आवश्यकताओं को देखा जा सकता है, अन्तर्मन्थन करके। आधुनिक नाटककार यथार्थ के अतिरंजित रूप का अतिक्रमण करना चाहता है, और इसके लिए बोलचाल की सामान्य शब्दावली सबसे बड़ा शस्त्र बन जाता है। बोलचाल की शब्दावली नाटककार की रचनात्मक क्षमता में अभिवृद्धि करती है। 'तिलचट्टा' की भाषा बोलचाल से इतनी प्रभावित है कि उसकी वाक्य संरचना की विशेष सजावट के लिए नाटककार को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं। चिन्ता है, तो अर्थ वैभव की, जो पात्र की झिझक, त्रासदी, भटकाव की स्थिति को व्यक्त कर सके और आन्तरिक अन्तर्विरोध को शब्दों में भर सकें। मूल्यों

की सही पहचान के लिए व्यक्ति भटक रहा है, जो पूँजीपति वर्ग की विकृतियों का परिणाम हैं। समकालीन समाज की दशा को प्रस्तुत संवाद में देखा जा सकता है—

' केशी : देव, तुम तो कहते थे रास्ता इधर है— यह जंगल, उफ़—

देव : रास्ता ? हाँ, होगा रास्ता। कहीं न कहीं रास्ता होगा जरूर। वैसे रास्ता खोज पाना आसान नहीं होता। — है न ?—

केशी : इतने बड़े जंगल से होकर निकलना नहीं चाहिए था। उफ़, अँधेरा कितना घना है। और झाड़ियाँ—इस अँधेरे में रास्ता भला मिले तो कैसे ? — ' २

व्यक्ति और उसके गन्तव्य स्थान की दूरी शब्दों की अर्थनात्मक क्षमता द्वारा निर्मित हुई है— ' यह जंगल उफ़ ' — जिसके मूल में समकालीन मानवीय मूल्यों का ह्रास है। ' देव, तुम तो कहते थे रास्ता इधर है— यह जंगल, उफ़ '—जंगल में विकृत मूल्यों का सघनत्व प्रतिबिम्बित होता है। यदि व्यक्ति दूसरों पर निर्भर न रहकर सही मूल्यों का चुनाव अपने अन्दर आत्मविश्वास जागृत करके करे तो इस जंगल का रूप इतना भयानक नहीं होता और उसकी दूरी भी कम होती। ' कहीं न कहीं रास्ता होगा जरूर '— यदि सही मार्ग की तलाश में व्यक्ति भटक रहा है, तो अन्दाज़ से। बीहड़ जंगल में लम्बी अवधि तक भटकते हुए कहीं - न - कहीं किनारा मिल ही जायेगा। ' वैसे रास्ता खोज पाना आसान नहीं होता।— है न ? '— अँधेरे में प्रकाश पुन्ज की ज्योति फैलाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, चाहे वह आम सामाजिक व्यक्ति के लिए हो या कि रचनाकार विशेष के लिए। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मुद्राराक्षस ने बोलचाल की मुखर प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया है। जैसे मंच पर पात्र दर्शक से सहमति प्राप्त करना चाहता है— ' है न ? ' रचनाकार की नाट्य भाषा के सन्दर्भ में जो धारणा है वह धारणा मात्र बनकर नहीं रह गई है, बल्कि उसका ' तिलचट्टा ' में कार्यान्वयन हुआ है— ' वाणी विशिष्ट आदमी का— विशिष्ट का पर्याय बनने के बाद जो रचना करता है वह रचना भद्रलोक (नागर संस्कारों) की ऐसी दुनिया पेश करती है जो आम आदमी के लिए बेहद मुश्किल, अप्राप्य, दुर्बोध और स्वतः - सीमित होती है।' ३

बोलचाल की शब्दावली के सुसंगत प्रयोग में भाषा प्रवाह की सफलता देखी जा सकती है 'तिलचट्टा' में। भाषा की सर्जनात्मक क्षमता की वृद्धि के लिए यह अपेक्षित गुण है, यही कारण है कि सर्जनात्मक आवश्यकता के लिए रचनाकार जितना अर्थवत्ता के लिए बेचैन है, उतना भाषा के प्रवाह के लिए भी। भाषा के इस विधान में समसामयिक विसंगतियों की विद्रूपता का साक्षात्कार करते और जटिलताओं को भोगते समाज की छटपटाहट शब्दों में रूपायित हुई है—

'ओ, ये रहा। तिलचट्टा है। ये देखो - देखो मेरी उंगली। किस बुरी तरह इसकी खाल का टुकड़ा कुतरकर खा गया। ताज्जुब है। इतनी देर से काट रहा था और मुझे पता ही नहीं चला।' ४

कोई भी चीज जब सीमा का अतिक्रमण कर जाती है, तो आश्चर्य का कारण बन जाती है। यदि व्यक्ति द्वारा पल - पल प्रतिफलित होती विसंगत स्थितियों का कटु अहसास होता तो सम्भवत: उतना आश्चर्य न होता, जितना आज है—
'ताज्जुब है। इतनी देर से यह काट रहा था और मुझे पता ही न चला।'
लम्बे अर्से से व्यक्ति सामाजिक विसंगतियों को जड़ बनकर भोगता जा रहा है, तो उसके लिए जिम्मेदार कौन है? 'किस बुरी तरह इसकी खाल का टुकड़ा कुतरकर खा गया'— ऐसी दर्दनाक स्थिति को उत्पन्न और विकसित करने में आम मध्यमवर्गीय (जो भुक्तभोगी है) उतना जिम्मेदार है, जितनी विसंगतियाँ। विसंगतियों की विद्रूपता और जटिलताओं को निर्विरोध निष्क्रिय होकर पीते जाना उसको सहयोग देना नहीं तो और क्या है? आखिर ऐसे लोगों के संरक्षण में तो भ्रष्टाचार और अनैतिकता को पौष्टिक आहार मिल रहा है। यह बात अलग है कि सब अपने - अपने अनुसार शरीक हैं—कोई व्यवस्था की ओट में छिपकर तो कोई उसकी क्रूरता की मार सहकर। पर व्यक्ति को उस चोट का, जिसने बाह्य और अन्तर में दरार कर दी है, अहसास होने लगा है। इन विसंगतियों को जड़ से नष्ट करने के लिए सामूहिक प्रतिरोध आवश्यक है। इसके बिना शोषित वर्ग का घाव दिनोंदिन बढ़ता जायेगा जिसे फिर भर पाना शायद सम्भव न हो पाये। भले वह महाभारत के युद्ध द्वारा सम्भव हो। खोना और पाना तो प्राकृतिक सत्य है।

तिलचट्टा सामाजिक विसंगतियों का प्रतीक है, जिससे उसकी जड़ तक पहुँचना और अर्थ - प्रवाह सम्भव बन पाता है।

यद्यपि समकालीन विसंगतियों को आवर्द्धित करने वाली शक्तियों का सशक्त और यथार्थ रूपायन करना जोखिम है, किन्तु सच्चे रचनाकार के लिए कर्तव्य प्रबल होता है न कि अपने को बचाने की स्थिति। मुद्राराक्षस स्वयं इस बात को मन्जूर करते हैं— ' जनता के संघर्ष की भाषा में रचनात्मकता को परिभाषित करना खतरनाक काम होता है। यह न सिर्फ कृति के लिए खतरा पैदा करता है, बल्कि कृतिकार के लिए भी खतरा पैदा करता है। कृति को रसज्ञ से बाहर लाने का एक अर्थ होता है उन सभी मूल्यों को चुनौती देना जिन्हें पुरोहित — सामन्त गुट के अनुरंजकों ने निर्धारित किया होता है।'[5] यह दृष्टि उन्हें सामाजिक विकृतियों को और उनसे ग्रसित मध्यवर्गीय समाज को बिना किसी पक्षपात के बड़ी निर्ममता से अनावृत करती है ' तिलचट्टा ' में। आज व्यक्ति के अन्दर द्वन्द्व है, तो सामाजिक व्यवस्था मात्र को लेकर नहीं, बल्कि उसमें संघर्ष के विभिन्न रूप हैं। एक तरफ व्यक्ति अपने आपसे परेशान है, वर्तमान और भविष्य को लेकर और दूसरी तरफ विसंगतियों को उत्पन्न करने वालों (शोषक) की हृदयहीनता से। यही कारण है कि उसे कहीं शान्ति नहीं। समाज में संक्रमित विद्रूपताओं की जटिलता और निःसंगता के विशृंखल वातावरण में कुछ लोग पूरी तरह तल्लीन हो जाते हैं तो कुछ लोग यथास्थितिवादी इस समाज से ऊब जाते हैं, जिसका अंकन प्रस्तुत उद्धरण में द्रष्टव्य है—

' समझ में नहीं आता। तुम्हारा क्या ख्याल है ? मैंने शाम को पुलिस स्टेशन पर देखा था। वे लोग महात्मा जी की समाधि पर टाइम - बम लगा गये थे। तुम्हें नहीं पता होगा। समाधि पर किसी फ़िल्म की शूटिंग हो रही थी। उसी वक्त लोगों ने देखा। बम और उसके तारों से जुड़ी एक टाइमपीस। हीरो प्रेमिका का सिर छाती पर रखकर वहाँ लेटा था, वहीं घड़ी की टिक - टिक, टिक-टिक, पता लगा वहाँ टाइम - बम रखा है। किसी ने। वह बम और वही घड़ी पुलिस स्टेशन पर लोगों को दिखाने के लिए रखी गई थी। बिल्कुल वैसी ही

अजीब बात है, कैसी - माँ अंक का रेडियम फड़ा हुआ, शीशा दायीं ओर से चटखा—` ६

कष्ट की अधिकता में किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति हो जाना स्वाभाविक है, ऐसे में जो पूर्वज्ञान रहता है वह भी विस्मृत हो जाता है, चाहे कुछ समय बाद पुनः लौट आये। तात्पर्य यह है कि विकट स्थिति ने व्यक्ति की तात्कालिक बुद्धि को दबा दिया है अपने प्रभाव के कारण। इस असमर्थता में ऊब ने व्यक्ति के अन्दर जैसे स्थाई निवास कर लिया है— ` समझ में नहीं आता—` तब वह उधर की तलाश में दर - दर भटकता है—` तुम्हारा क्या ख्याल है ? ` संस्कृति का इससे विकृत रूप शायद और नहीं हो सकता कि महात्मा गाँधी जी की समाधि पर टाइम - बम, घड़ी रखी है और फिल्म की शूटिंग हो रही है। व्यक्ति की कुत्सित दृष्टि ने संस्कृति के पारम्परिक रूप को दूषित कर दिया है। संस्कृति को खण्डित करने में विज्ञान का हाथ प्रमुख रहा है—` मेरी प्रेमिका का सिर छाती पर रखकर जहाँ लेटा था, वहीं घड़ी की टिक - टिक, टिक - टिक — पता लगा वहाँ टाइम - बम रखा है ` इन पंक्तियों की सार्थकता तब समझ में आती है जब पहले की पंक्तियाँ इससे जोड़ी जाती हैं—` समाधि पर किसी फिल्म की शूटिंग हो रही थी।` गाँधी जी की समाधि जैसे पवित्र स्थान पर ऐसा कार्य समाज की अन्धी दृष्टि का परिचायक है। शब्दों और वाक्यों के तह में पहुँचने पर अर्थ के दोहरे स्तर का परिज्ञान होता है— पूर्वजों द्वारा देश के लिए किये गये कठिन परिश्रम एवं त्याग का सही मूल्यांकन न कर उसका दुरुपयोग करना उनकी आत्मा को अशान्ति पहुँचाना है। व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन न करके न तो संतुष्टि प्राप्त कर सकता है और न तो समय की क्रूरता से ही बच सकता है। आज का व्यक्ति अपनी संस्कृति से नहीं जुड़ता। यदि जुड़ता है तो भौतिक वस्तु से। देव की घड़ी उसे समय से जोड़ती है—` वह बम और वही घड़ी पुलिस स्टेशन पर लोगों को दिखाने के लिए रखी गई थी।` घड़ी उसी तरह है, किन्तु इसमें अनिश्चय वृत्ति है। ` फिल्म शूटिंग ` जैसे अंग्रेजी शब्द का प्रयोग बोलचाल की भाषा से प्रभावित होकर किया गया है। ` बिल्कुल वैसी ही —अजीब बात है, कैसी— माँ के अंक का

रेडियम भड़ा हुआ, शीशा दायीं और से चटखा--' में देव की घड़ी के बारे में अनिश्चितता अधिक स्पष्ट हो जाती है समसामयिक जीवन की तरह। सब कुछ अनिश्चित है जीवन, जीवन का उद्देश्य, सफलता। यदि कुछ निश्चित है तो जीवन की टूटन, संघर्ष। 'नौ के अंक का रेडियम भड़ा हुआ' (घड़ी) जीवन के पतन का प्रतीक है और दायीं ओर से चटखा शीशा व्यक्ति की कमजोर दृष्टि को प्रतिबिम्बित करता है। दोनों प्रतीक सघन हैं, किन्तु सहज नहीं।

विसंगति के अंधकूप को उच्च वर्ग तो निर्मित करता है, पर उसमें ऐसा सामान्य वर्ग भी सम्मिलित है जो ईमानदारी के साथ नित्य बुरे बर्ताव को देखता आया है--

'हम बेवकूफ नहीं हैं। मेरे बाप ने एक बार सोचा कि वह पुलिस को बता दें कि मफतलाल खाने वाले तेल में इंजन का तेल मिलाकर बेचता है। इसी सोचने पर पुलिस ने मेरे बाप को नेकसरा कहकर पकड़ लिया और इतना पीटा कि वह मर गया। मेरा भाई मिनिस्टर का दरबान था। उसने सोचा कि वह लोगों को बता दे कि मिनिस्टर का बेटा लड़ाई के दिनों में जवानों की वरदियाँ और -बाजार में बेच आया। मेरे भाई को किसी ने गला काटकर मार दिया और मेरी बहन उसकी खोज लेने गई तो उसका पता ही नहीं लगा।' ७

यदि शोषण के विरोध में शोषित व्यक्ति भी वही रास्ता अख्तियार कर लेता है, जो शोषक का है, तो पराजय किसकी है? यह बहुत बड़ा प्रश्न है जो 'तिलचट्टा' में उठाया गया है। देश प्रेमियों और स्वतन्त्रता के पक्षधर गाँधीजी, चन्द्रशेखर आज़ाद और सुभाषचन्द्र बोस जैसी हस्तियों ने ईमानदारी और बलिदान के बदले कितनी चोटें सहीं, किन्तु उन्होंने विरोध का दूसरा रूप नहीं अपनाया और न तो आज के व्यक्तियों की तरह सोचना छोड़ा-- 'हम बेवकूफ नहीं हैं।' जो व्यक्ति ईमानदार है और कर्तव्य के प्रति सतर्क है उसे विभिन्न चुनौतियों का मुकाबिला करना होगा -- चाहे वह रचनाकार हो या कि जन सामान्य। मफतलाल समाज में फैले भ्रष्टाचार का प्रतिनिधित्व करता है-- 'मफतलाल खाने वाले तेल में इंजन का तेल मिलाकर बेचता है।' ऐसे वर्ग का कार्य भ्रष्टाचार के अतिरिक्त कुछ

नहीं है। नेता वर्ग जिसके कन्धों पर देश की सुरक्षा का भार है, जो भाषण - द्वारा बड़ी - बड़ी शिक्षा देते हैं दूसरों को, उनका लड़का यदि [illegible] पा रहा है तो भ्रष्टाचार के लिए— " मिनिस्टर का बेटा लड़ाई के दिनों में जवानों की वरदियाँ चोर बाजार में बेच आया—" यह समसामयिक यथार्थ है। सामाजिक विकृतियों को बढ़ाने के लिए जो बड़े - बड़े कार्य किये जा रहे हैं, उनमें बड़े लोगों का हाथ है।

" तिलचट्टा " में नाटककार सामाजिक विसंगतियों को विकसित करने वाली समस्याओं के बीहड़ में पहुँच जाता है। उसमें निहित तीव्र अनुभूति और आधुनिक संवेदना से यथार्थ दमक उठता है। यथार्थ मंथन की यह लहर सर्जनात्मक भाषा में अधिक सक्षम है। नाटककार यह सोचकर परेशान है कि सामाजिक विसंगतियां जो चट्टान बनकर स्थिर हो गई हैं, उन्हें एकाएक समाप्त करना लोहे का चना चबाना है, किन्तु नवीन सृजन के लिए संघर्ष करना उसका अपना दायित्व बन जाता है। इस संघर्ष का साकार रूप " तिलचट्टा " में अक्सर मिलता है। उनमें से एक रूप निर्दिष्ट है—

" तिलचट्टे बड़े चालाक होते हैं। बत्ती जलाते ही कहीं गायब हो जायेंगे। पता नहीं कैसे पैदा होते हैं ये। इन्हें खत्म करना बहुत मुश्किल होता है। मफतलाल के यहाँ भी तिलचट्टे बहुत होते जा रहे हैं। वह कहता था कि एक तिलचट्टा मरता है तो ग्यारह पैदा हो जाते हैं। आतंकवादियों के बारे में भी उसका यही ख्याल है। वह दोनों से डरता है। तिलचट्टे के लिए तो वह डी०डी० टी०इस्तेमाल कर लेता है, लेकिन आतंकवादियों का उपाय उसकी समझ में नहीं आता।" [८]

जटिल स्थितियों की अभिव्यक्ति को जो सबसे अधिक समृद्ध करता है, वह है उसका प्रतीक। प्रतीक के अभाव में इसका प्रभाव जुगनू जैसा होता, जो एक बार टिमटिमाता है और फिर बुझ जाता है। तिलचट्टा भ्रष्टाचार और आतंक का प्रतीक है, जिससे समाज की ह्रासोन्मुखता प्रबल होती जा रही है। चूँकि तिलचट्टा विसंगति और आतंक का प्रतीक है इसलिए उसका अँधेरा (काला धंधा के अर्थ में) प्रिय होना

स्वाभाविक है— ` तिलचट्टे बड़े चालाक होते हैं। बत्ती जलाते ही कहीं गायब हो जायेंगे। ` तिलचट्टों को दूर करने का एकमात्र उपाय है नैतिक एवं शोषित शक्तियों का संगठित रूप। मानव और मानवता के बीच एक लम्बी चौड़ी दीवार खड़ी की है तो इन तिलचट्टों ने। ` पता नहीं कैसे पैदा होते हैं ये— ` में निशाचरों के पैदा होने के विषय में अनिश्चयवादी वृत्ति है। समाज में कुछ है जिसके कारण उसके भीतर की सज्जनता एवं नैतिकता नष्ट होती जा रही है, पर उसका मूल स्रोत कहां है यह अब तक निश्चय नहीं हो पाया है। ` इन्हें खत्म करना बहुत मुश्किल होता है— कुछ भी हो ऐसी शक्तियों को खत्म करना एक जबर्दस्त मुकाबिला है ` क्योंकि एक तिलचट्टा मरता है तो ग्यारह पैदा हो जाते हैं— ` ऐसे ग्यारह गुना अनुपात में बढ़ने वाली शक्ति का अन्दाज़ लगाया जा सकता है, जबकि उनसे मुकाबिला करने वाली शक्तियों की बढ़ोत्तरी के स्थान पर कमी दिखाई पड़ रही है। रचनाकार अपनी सर्जनात्मक रचना द्वारा इन शोषित एवं नैतिक शक्तियों को संगठित करने की चिन्ता में अग्रसर है। यद्यपि तिलचट्टा आतंक का प्रतीक है, किन्तु रचनाकार को इतने पर (प्रतीक बनाने के बाद) भी यह चिन्ता है कि प्रेक्षक बिल्कुल उसी (अभिधात्मक) रूप में न ले लें इसलिए वह दोनों तिलचट्टा और आतंकवादियों का अन्तर स्पष्ट कर देना चाहता है— ` तिलचट्टे के लिए तो वह डी०डी०टी० इस्तेमाल कर लेता है, लेकिन आतंकवादियों का उपाय उसकी समझ में नहीं आता— इस तिलचट्टे की दवा है, किन्तु आतंकवादियों जैसे बड़े - बड़े तिलचट्टों की दवा नहीं है। यही समझ में न आने वाली स्थिति विवश करती है, ऐसे आतंकमय वातावरण में जीने के लिए यहाँ संघर्ष है, बेचैनी है सही मूल्यों के तलाश की, किन्तु उसकी मुद्रा में आक्रोश नहीं।

जीवन की सार्थकता सिर्फ पैदा होने में नहीं है, बल्कि दायित्व निर्वाह में है— चाहे वह रचनाकार की हो या आम आदमी की। व्यक्ति पैदा हो जाता है यह बड़ी बात नहीं विशेष बात है अपने कर्तव्य का पालन। निकम्मे और मक्कार लोगों के प्रति रचनाकार की खीझ देखी जा सकती है—

` हर तीसरे मिनट पैदा हो जाने वाले आदमी के बच्चे और इस पिल्ले में। वे पैदा होते वक्त चाहे जो हों, जीते सिर्फ कुत्तों की तरह हैं। उनके दुमें नहीं

होतीं, थूथनियाँ नहीं होती, लेकिन '— ९

समकालीन सामाजिक व्यवस्था को चरमराती कर देने वाले जिम्मेदार व्यक्तियों के प्रति मुद्राराक्षस चिन्तित दिखाई देते हैं, पर भुवनेश्वर से कम। यद्यपि इस अव्यवस्था की खीझ को उपस्थापित करने का ढंग अलग - अलग है, किन्तु खीझ अवश्य है— ' मैं कहता हूँ कि आने वाली जेनरेशन, चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की, हमसे अच्छी होगी - - - - हमसे।' १० मुद्राराक्षस असामाजिक व्यक्ति को कुत्ता कहने में जरा भी नहीं हिचकते जबकि भुवनेश्वर बिल्ली और सर्पों को अच्छा मानते हैं। ' तिलचट्टा ' में इस स्थिति को अधिक विश्लेषित किया गया है और ' ऊसर ' में कम यह दोनों की सीमा का फर्क है। ' उनके दुमें नहीं होतीं, लेकिन —' में ' लेकिन ' के बाद खीझ अधिक है, किन्तु वह कुछ कह नहीं पाता, जिससे अर्थों की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। यहाँ कर्म की प्रधानता और संवेदनशील व्यक्तित्व के एकाकी होने की कसक है।

समकालीन नाटक अन्तर और बाह्य तथा बाह्य और अन्तर की द्वन्द्वात्मक अन्तर्क्रिया से गतिशील होने की विचारधारा को अपने साथ लेकर आया। सर्जनात्मक भाषा के साथ - साथ इस संघर्ष ने भी पुरानी परम्पराओं को चुनौती दी। ' तिलचट्टा ' में इस संघर्ष का सक्रिय रूप मिलता है। बाह्य संघर्ष से अन्तर्संघर्ष की पैठ का नमूना देव का संवाद है—

' केशी, वह कैसे धीरे - धीरे अन्दर की ओर खिसकता आ रहा है। इसके पीछे और भी होंगे— शायद हजारों— लाखों—' ११

समाज में संगत स्थितियों की अत्यधिक आवश्यकता है और इसके लिए सबसे आवश्यक कार्य है इन विसंगत स्थितियों को पूर्ण रूप से नष्ट करना। तभी दायित्व से परिचित होकर ही वस्तु की स्थापना की जा सकती है। चूँकि विसंगतियों को नष्ट करना आवश्यक है, इसलिए रचनाकार उसे गहराई से देखता है और उसका अनुभव करता है देखकर नहीं, समाज में रहकर। यह गहन अनुभूति उसकी चिन्ता का विशेष कारण है, क्योंकि सभी विसंगत स्थितियों की मजबूत जड़

का अहसास होता है जो समय के साथ - साथ अधिक गहरा होता जाता है ।
` शायद हजारों - लाखों ` में स्थिति की विराटता ध्वनित होती है।

जागरूक चेतना के अन्वेषण की प्रक्रिया में उस स्थिति के प्रति निरन्तर धारणा व्यक्त की गई है, जिसमें वह रह रहा है, विसंगतियों के थपेड़ों को सह रहा है और उसका अनुभव कर रहा है। ` तिलचट्टा ` में एक रात भी घटना है, इसलिए उसे स्वप्न के संघर्ष द्वारा स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की गई है। इस परिदृश्य में आज के परिवेश में लिप्त मानव के भटकाव और विकलता की सशक्त अभिव्यंजना हुई है—

` हाँ, शायद तुम कह रही थीं— छोड़ दो उसे - उसे छोड़ दो—। नहीं-नहीं भी कह रही थीं। तुम शायद कोई सपना देख रही थीं, केशी। अजीब बात है कि हम सब बुरे सपने ही ज्यादा देखते हैं। बल्कि मुझे तो लगता है जागते हुए भी हमें जो दिखाई देता है वह कोई बुरा सपना ही होता है।` १२

जीवन को जड़ीभूत कर देने वाले भीतरी यथार्थ को समझने और व्यक्त करने की दृष्टि को सर्जनात्मक आयाम देने का आग्रह आधुनिक नाटककारों में प्राप्त होता है। सभी ने अपने - अपने ढंग से उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध कर देने वाली जीवन-दृष्टि का विरोध किया। उत्सुकता इस बात की है कि इस विरोध के स्वर में कितनी शक्ति और संवेदना है, जिसे भाषा शान्त करती है। ` तिलचट्टा ` में इस परिदृश्य के भीतर मानवीय मूल्यों के संरक्षण की निरन्तर चेष्टा के साथ -साथ भाषा की मौलिकता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यह चिन्ता बलवती है कि आधुनिक परिवेश में जीता - छटपटाता व्यक्ति अपनी जीवनी - शक्ति की पहचान कर सके और तत्काल किसी नवीन सर्जना में सफल न भी हो तो कम से कम अपने भीतर मौजूदा व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने का साहस जुटा सके। ` बड़ी अजीब बात है कि हम सब बुरे सपने ही ज्यादा देखते हैं ` में विसंगत स्थितियों की विराटता की तरफ संकेत है। ` बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है जागते हुए भी हमें जो दिखाई देता है वह कोई बुरा सपना ही होता है ` भावुकता का स्वांग रचना जागरूक होना नहीं है, बल्कि तटस्थ होकर सही निर्णय आवश्यक है। जागृत

अवस्था और निद्रा में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि व्यक्ति सही निर्णय लेने में विवश है। सही निर्णय न ले पाने की विवशता संदिग्धि को जन्म देती है। यही कारण है कि गोविन्द चातक की विचारधारा सन्देहास्पद स्थिति में डाल देती है। एब्सर्ड नाटककारों की नाट्य भाषा के सन्दर्भ में यह धारणा रही है — विसंगत स्थितियों के चित्रण के लिए विसंगत भाषा आवश्यक है, पर अब ऐसा प्रतीत होता है कि विसंगत नाटक के लिए विसंगत आलोचना आवश्यक है। गोविन्द चातक जैसा सक्षम आलोचक महसूस करने लगा है— "संवेदना और बौद्धिकता के स्तर पर भी उनके नाटक इकहरे और मानवीय ऊष्मा से हीन कोरे ढाँचे लगते हैं। किन्तु अपनी उन्मुक्त, ऊलजलूल स्थितियों और चरित्रों, पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न सम्वेदना, तीखापन और सनक के कारण मुद्राराक्षस के नाटक अपनी कला से पहचान बना लेते हैं।" १३

संदिग्धावस्था में निराशा प्रमुख हो जाती है, जिससे मानव मन में संघर्ष अन्तर्व्याप्त हो जाता है। निराशा की इस स्थिति को प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है—

"कोई फायदा नहीं। आखिरी जीत उसी की होगी— नन्हा— चमकीला — चिकना — सड़न — सीलन —गंदगी — और अंधेरे में रहने वाला मासूम कीड़ा— आखिरी जीत उसी की होगी, देव। अब कोई भी विरोध बेकार है— सड़न से बाहर आ चुका है वह— " १४

एक संवेदनशील व्यक्तित्व के निरन्तर अकेले पड़ते जाने की परिस्थितियों का कारण व्यक्ति न होकर समाज प्रदत्त है। मध्यवर्गीय समाज अवसरवादी और सुविधाजीवी है। सुविधाजीवी प्रवृत्ति के कारण वह संघर्ष से बचना चाहता है। सामाजिक विसंगतियाँ और विद्रूपताओं से न जूझ पाने की कमजोरी इस वर्ग की चेतना में कई तरह के संघर्षों (ऊब, निराशा) का सूत्रपात करती है। "आखिरी जीत उसी की होगी" में पीड़ा है। "नन्हा— चमकीला— चिकना— सड़न — सीलन — गन्दगी और अन्धेरे में रहने वाला मासूम कीड़ा— आखिरी जीत

उसी की होगी, देव " में प्रसरणशील न्याय विरोधी विसंगत स्थितियों की संगठित शक्ति का अहसास कराया गया है, ताकि इसके विरोध में दूसरी शक्तियाँ इकट्ठी हो सकें। " अब कोई भी विरोध बेकार है— सहन से बाहर आ चुका है वह—" अन्त में मध्य वर्ग यथास्थिति के पक्ष में हो जाता है।

" तिलचट्टा " में रोजमर्रा की भाषा का नपा- तुला प्रयोग रोजाना जीवन के संत्रास को उजागर करता है, किन्तु मौन की मुखर प्रवृत्ति में इसकी व्यापक सम्भावना है। यह प्रवृत्ति एब्सर्ड नाटक को प्रभावशाली बनाती है इसमें कोई सन्देह नहीं इसका विश्लेषण किया गया है आलोचक के शब्दों में " जब जीवन बंजर होता है, नाते- रिश्ते शब्द मात्र रह जाते हैं और हर बात स्वार्थ पर आधारित होती है तब बिखरे हुए और बेहूदे जीवन को रुपायित करना कठिन हो जाता है। इसलिए भाषा का प्रयोग भावनाओं को छिपाने के लिए ज्यादा और उन्हें स्पष्ट करने के लिए कम होता है; वार्तालाप सम्प्रेषण और सामाजिक व्यवहार पर हम जो कुछ कहते सुनते हों वह घिसे - पिटे मुहावरों की आवृत्ति मात्र है, अभिव्यक्ति की एकरसता कुछ नया न सोचने की हमारी इच्छा का द्योतक है। "[15] मौन के मुखर रूप को प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है—

" केशी : मगर तुमने कहा था कि शराब की वजह से आदमी अक्सर सच बात कह जाता है।

देव : —

केशी : डाक्टर ने शायद उस दिन कहा था कि वह एक बच्चे का बाप बनने जा रहा है।

देव : मगर हो सकता है कि वह अपनी बीबी के बारे में कह रहा हो—यानी उसकी बीबी के पेट में बच्चा हो।

केशी : नहीं। डाक्टर की शादी हुई नहीं है। वह मेरे बच्चे के बारे में कह रहा होगा।

देव : मजाक कर रहा होगा।

केशी : जो भी हो। उस दिन घर लौटकर तुमने कहा था कि केशी, तुम एबार्शन करा लो। बच्चा नहीं चाहिए।

देव : —

केशी : मुझे याद है, तुमने कहा था । ` १६

देव का सत्य है पूरी तरह पलायन मौन की मुखर प्रवृत्ति है, जो अर्थ के व्यापक धरातल का निर्माण कर, समकालीन समाज में एक बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा कर देता है । यह विसंगत स्थितियों की बढ़ती विडम्बनाओं का परिणाम है जहाँ अन्याय के विरोध में हस्तक्षेप करने का साहस नाम मात्र को नहीं । यान्त्रिकता की वृद्धि मानवीय मूल्यों को ह्रासोन्मुख और निरन्तर नये - नये षड्यन्त्रों को जन्म दे रही है । ऐसी परिस्थिति में जीना व्यक्ति की विवशता बन गई है । इस विवशता की परिणति ऊब, निराशा और एकरसता है, जिसे तोड़ने के लिए मध्यवर्गीय समाज ने परम्परागत मर्यादा को लाँघने की कोशिश की है । सम्बन्धों का विचित्र रूप परिचित - अपरिचित की सीमा का उल्लंघन करता जा रहा है ।

` तिलचट्टा ` में यथार्थ को आत्मसात् करता हुआ रचनाकार जब हरकत का सहारा लेता है, तब आक्रोश और आवेग का परिवर्तन, स्थिति की जटिलता को प्रतिबिम्बित करता है । अतः हरकत को भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता । रचनाकार का सृजनात्मक तनाव तह - दर - तह हरकत में खुलता है । इस सन्दर्भ में गोविन्द चातक की विचारधारा उल्लेखनीय से रचित है— ` कथ्य और शिल्प दोनों के स्तर पर वे कुछ ऐसा प्रयोग करते हैं, कि उसमें उनके नाटकों की भंगिमा विशेष महत्त्व अर्जित कर लेती । इसीलिए एक आलोचक ने उन्हें ` मुद्राओं का रचनाकार ` कहा है । `१७ हरकत और भाषा के संयोग को प्रस्तुत उद्धरण में देखा जा सकता है—

` देव : (हँसता है)

मैं भाग्यवान हूँ । मैं देखना चाहता था— तुम्हारा बच्चा हो जाता तो मैं एक बार— एक बार मैं उसके सामने बकरे की बोली बोलता—

बकरे की बोली बोलता है ।

केशी : अब तुम सो जाओ, देव । तुमने नींद की गोली खायी है न ? तुम्हें नींद नहीं आ रही ?

देव : (बकरे की बोली बोलता है)

गोली ? मैं भी वैसे ही बोल लेता हूँ न ? अच्छा केशी, उसने गन्दी हरकत कैसे की थी ? बताओ न, मैं वह भी करके दिखा सकता हूँ।` १८

आत्मघाती एवं दुविधायुक्त व्यक्ति की सोच द्रौपदी की चीर की तरह बढ़ती जाती है। कभी - कभी उसमें कामना होती है जामवंवान बनने की। अमतावादी स्मान सामाजिक यथार्थ का विश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत करता है और अपनी क्रान्तिकारिता को जन - मानस तक सम्प्रेषित करना चाहता है। यहाँ वर्गीय शक्ति असन्तुलन की वास्तविकता व्यक्ति की समझ में आ जाती है, किन्तु वह महज समझ रह जाती है। यदि इस समझ का विकास कुछ दूर तक होता भी है, तो नकल के रूप में। बकरे की बोली में इसी नकल की प्रस्तुति है। शक्ति समता का कार्यान्वयन सही दिशा में न हो पाना वर्गीय भूमिका की पराजय है। इस सर्जनात्मक चिन्तन का इजहार है बकरे की बोली में। प्रखर प्रतिभा समाज की नपुंसकता को पहचानती है और बैद्धिक चित्रित करती है। अतः ` बकरे की बोली` हरकत समग्र अर्थ को सम्प्रेषित करती है।

` तिलचट्टा ` के अन्त में हरकत की भाषा का रूप अधिक सशक्त हो जाता है—

` सिपाही : पिछले कमरे की खिड़की खुली हुई है—उधर से ही निकल गया होगा, सर—

केशी : (संतोष से)

औह !

सिपाही : (झुककर जूते और जुराबें उठाता है)

जूते और जुराबें, सर—

अफसर : (केशी से)

ये उसी की हैं ?

केशी बोलती कुछ नहीं। चुपचाप उठकर जूते और जुराबें लेकर सीने से चिपका लेती है।

अफसर : आप—आप उसे जानती हैं ?

केशी : —— ` १९

हरकत में यथार्थ का अतिरंजित रूप किसी प्रकार नहीं दृष्टिगोचर होता। हरकत एक स्थिति में यथार्थ का सरलीकरण करती है, तो दूसरी स्थिति में भाषा के प्रति संयमित स्वभाव को प्रकट करता है। दोनों प्रक्रियाओं में यथार्थ अधिक तीखा तथा प्रभावशाली बनता है। केशी द्वारा जूते और जुराबों को सीने पर चिपकाया जाना, एक तरफ उस काले डाक्टर के प्रति प्रेम को व्यंजित करता है, दूसरी तरफ उसमें सामाजिक विसंगतियों के साथ चलने की स्थिति है।

संवादों के बीच व्यंजनात्मक अर्थ पिरोने की कला आधुनिक नाटककारों की विशेष मुद्रा है। यह मुद्रा 'तिलचट्टे' में देखी जा सकती है—

'केशी : (सहज करते हुए)

देखो, देव, मैं नहीं जानती, मैं क्या कहूँ, लेकिन याद करो। तुमने कहा था, एक फासला है। उस फासले में तुम किस तरफ हो? उस तरफ न? उस तरफ रहकर तुम दोनों तरफ कैसे देख सकते हो?

देव : (नेपथ्य से)

तुम ठीक कहती हो, वह नहीं है वह आदमी। और इसीलिए मैं इसे यहाँ नहीं देख सकता। नहीं चाहता—' २०

प्रस्तुत संवादों के बीच अन्तराल में जो अर्थ फूटता है उसमें दो स्थितियाँ सामने आती हैं— सामाजिक यथार्थ और रचनाकार की रचनात्मक शर्त। इसमें सन्देह नहीं कि मुद्राराक्षस का आत्म संघर्ष विकट है। वह आधुनिक नाटक के दायरे में अपनी अलग पहचान बनाता है। तनावों के विस्तृत चित्रण को वह प्राथमिकता देते हैं। रचनाकार को रचनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक यथार्थ के साथ चलकर उसे आत्मसात् करना चाहिए न कि उससे अलग। संगति और विसंगति के बीच एक फासला है जो हर समय रहा है, किन्तु आज उस फासले का रूप विकराल होता जा रहा है, जिसे रचनाकार देख रहा है और अनुभव कर रहा है—' तुमने कहा था, एक फासला है। उस फासले में तुम किस तरफ हो?' समाज से कटकर रचनाकार अपनी रचनात्मक शर्त को पूरा नहीं कर सकता—" उस तरफ रहकर तुम दोनों तरफ कैसे देख सकते हो?" 'उस तरफ' छायावादी रोमैंटिक

आदर्श ' उस पार ' से शक्ति संचय करता हुआ आधुनिक भावभूमि का संस्पर्श करता है— संवेदनात्मक ढंग से। कुमारराजन ने समाज से जो कुछ वर्जित किया है उसका सांगोपांग चित्रण मध्यवर्गीय दायरे में किया है। आधुनिक साहित्य में नाटक आधुनिक परिवेश से असमंजस और अन्तर्विरोधग्रस्त व्यक्ति पर केन्द्रित हुआ है— ' देखो, देव, मैं नहीं जानती, मैं क्या कहूँ, लेकिन याद करो। '

कुमारराजन की दृष्टि में सामाजिक संकट का चित्रण प्रमुख है, भाषा के चूकने का संकट प्रमुख नहीं। वह किसी भी तरह स्वयं को रूढ़ियों की श्रृंखला में आबद्ध नहीं करते— ' मेरे लिए व्याकरण के बजाय किसी भाषा का संस्कार ही महत्वशाली है। ' २१ भाषा के संकट की बात करके रचनात्मक साहित्य से विचलित होने वाले रचनाकारों के प्रति उनकी धारणा है— ' - - - भाषा का संकट एक साहित्यिक चालाकी है। - - - चूँकि बुद्धिजीवी यह साबित कर करना चाहता है कि जन - संघर्ष बेकार है और कलाकार के सामने जो समस्यायें हैं, वे परखला हल हो चुकी हैं। इसीलिए वह नाटक में भाषा के संकट की घोषणा कर देता है। '२२ ' तिलचट्टा ' में मुखौटे वाली भाषा और बयानबाजी को कहीं स्थान नहीं दिया गया है भूमिका के अतिरिक्त। यही कारण है कि रचनाकार ने अपनी विवशता प्रस्तुत शब्दों में जाहिर कर दी है— ' नाटक की भाषा कहीं भी ऐसी नहीं है जो पठनीय साहित्य में (या इस भूमिका में) पाई जाती है। अगर संक्षेप में कुछ कहने की मजबूरी न होती तो इस भूमिका में प्रयुक्त भाषा मैं घटिया मानता हूँ। इसीलिए नाटक में इस भाषा का प्रयोग नहीं है। नाटक की भाषा मानवीय संवेदनाओं की भाषा है बौद्धिकता की नहीं। ' २३ नये नाटक में अनुभव की संश्लिष्टता और समग्रता पर विशेष बल दिया गया है, जबकि कहानी जैसी विधा इन विशेषताओं में अनुबंधित नहीं। साहित्य जीवन का कातथ्य चित्रण नहीं वरन् रचनात्मक अनुभव है—

' केशी : याद करो, देव। उस दिन— जब मैंने कहा था कि मेरे मना करते-करते डाक्टर ने यहाँ मेरे कूल्हे में दाँत से काट लिया था, तुम कैसे उपेक्षित हो उठे थे। तुम चाहते थे कि मैं कुछ और कहूँ और ऐसा भी जाहिर कर रहे थे, जैसे तुम

अपनी उत्तेजना में डूब गये हो और कोई बात सुनना नहीं चाहते—

देव : वह उत्तेजना मेरी ही थी, केशी । मैं डाक्टर की बात पर उत्तेजित नहीं हुआ था— मुझे कुछ तुम्हारा उघड़ा हुआ शरीर - - -" २४

सेक्सपरक प्रयास व्यक्ति को अधिकतम सीमा तक असंस्कृत कर सकता है। देखा जाय तो यह स्थूल कर्म उसे पशुओं की श्रेणी के निकट लाता है। ये कर्म मनुष्य के नाम पर मात्र छिछलेपन का बोध कराते हैं। मुद्राराक्षस ने यौन वर्णनों के कुछे चित्रण के साथ साहित्य जगत में आन्दोलन किया। यहाँ इस बात की पुनरावृत्ति आवश्यक है कि कलात्मक अनुभव साहित्य की परिधि बनता है— चाहे वह यौन जीवन का आकर्षण हो या कि जीवन के किसी अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र का चित्रण।" मैं डाक्टर की बात पर उत्तेजित नहीं हुआ था— मुझे कुछ तुम्हारा उघड़ा शरीर—" में मानव शरीर का आकर्षण सम्प्रेषित किया गया है, यहाँ शरीर के आकर्षण का विस्तार हो सकता था, किन्तु खजुराहो के स्थापत्य, ग्रीक मूर्तियों और फ्रेंच चित्रकला की निर्वसनाओं की तरह कला का प्रदर्शन करना रचनाकार का उद्देश्य नहीं है। क्योंकि चित्रकला और मूर्तियाँ चक्षुरेन्द्रिय को अधिक प्रभावित करती हैं साहित्य की अपेक्षा। यदि चित्रकला और मूर्तिकला की विशेषता अनुभव के प्रत्यक्ष सम्प्रेषण में है, तो साहित्य का परोक्ष में। यौन जीवन का सपाट चित्रण [illegible] को अश्लील बनाता है और नाटक तो इस बात से अधिक प्रभावित होता है— अपनी अभिनेय वृत्ति के कारण। यह विशेष कारण है कि समझने के कठिन परिश्रम से बचने वाले लोगों के लिए " [illegible] " अश्लील है, पर दूसरी श्रेणी के लोगों के लिए यह एक सफल नाटक है। मये [illegible] में दोनों बातें सम्भव हैं। शारीरिक उपभोग की आक्रामक स्थिति के बिम्बात्मक चित्रण में अधिकतर [illegible] ने उसी के अनुरूप भाषा का संस्कार किया है। निर्वसन चित्रण के लिए तदनुरूप भाषा ठीक वैसे है जैसे निर्वसन नाटक के लिए निर्वसन भाषा। भारतीय नारी का पारम्परिक रूप विलंबित समाज में बहुत शीघ्रता से नष्ट हो रहा है साहित्य इससे अलग नहीं। उसमें यदि अधिक विरोध स्थिति से गुजर रहा है तो मध्यवर्ग। पर उसमें अपने आक्रोश को व्यक्त करने का साहस नहीं। वह अपने आक्रोश को वैसे छिपा रहा है जैसे देव का डाक्टर के प्रति उत्पन्न आक्रोश को छिपाना। इस

स्थिति को देव दूसरा मोड़ दे देता है शरीर के आकर्षण के रूप में। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की उत्तेजना के पंजे में मध्यवर्गीय जीवन का फँस जाना उसकी विवशता बनती जा रही है।

' तिलचट्टा ' नाटक को जो सबसे अधिक सशक्त करता है वह है इसका प्रतीक विधान। नाटककार को स्वयं इसकी सफलता का तीव्र अहसास है— " राजनीतिक प्रतिबद्धता सृजनात्मक अनुशासन में रहे, यह मेरा प्रयत्न रहा है, मार्क्सवादी होने के नाते प्रतिबद्ध लेखन के प्रति अपनी अनिवार्य निष्ठा के बावजूद मैं अच्छे नारे को खराब लेखन नहीं बनाना चाहता। सामाजिक संलग्नता को गन्दा करना मुझे अखरेगा और शायद विदेशी गाड़ियों पर ढोयी जाने वाली क्रान्ति से मैं दूर ही रहना पसन्द करूँगा तिलचट्टा मेरी दृष्टि है, मेरा नारा नहीं, इसका मुझे अहसास है और इसीलिए मुझे सन्तोष है। पेशेवर क्रान्तिकारी और संस्कारी कलावादी दोनों को ही शायद यह नाटक रुचेगा नहीं। ऐसी स्थिति में वे अपनी ही रुचि के नाटक देखें इससे उन्हें सुविधा होगी। " 24 इस तीखी फटकार के बावजूद मुद्राराक्षस आलोचकों की प्रतिक्रिया से बच नहीं पाये हैं, बल्कि उसे आमन्त्रित करते हैं। मानव मन की सड़न— सीलन, गन्दगी और अन्धकूप में डूबने, उभरने वाली यौन कुंठाओं के लिए तिलचट्टा एक सटीक प्रतीक है। इसके अतिरिक्त कुआ, सामान, घड़ी (जिसका शीशा कोने से चटका है और नौ के अंक पर रेडियम झड़ चुका है) बकरे की बोली बोलने वाला काला डाक्टर आदि प्रतीकों की गड्डमड्ड स्थिति ' तिलचट्टा ' नाटक को प्रतीक - कोष बना देती है। ऐसा प्रतीत होता है मुद्राराक्षस के पास पर्याप्त बातें हैं, किन्तु उसके दौरान रचना एक है, जिसमें सबको एक साथ समाहित कर दिया गया है। अनेक सूत्रों का उलझाव कथ्य को अस्पष्ट अवश्य बना देता है। ' तिलचट्टा ' लेखक की दृष्टि है, पर वह दृष्टि क्या है? यह शीघ्र समझ में आने वाली बात नहीं। इस दृष्टि के निकट पाठक तब पहुँचता है जब नाटक के प्रारम्भ में लिखित ' चन्द बातें ' को पढ़कर समझ चुका हो, किन्तु दर्शक को अधिक जटिल स्थिति से गुजरना पड़ता है, जिसने ' चन्द बातें ' नहीं पढ़ी हैं। अतः यह मत काफी हद तक सही है— " इस नाटक के प्रतीक

गड्डमड्ड हो गये हैं। शायद यह इसलिए हुआ कि नाटककार ने चाक्षुष बिम्बों के अति मोह के कारण उसके साथ विचार के गुंफन को विस्मृत कर दिया है। दोनों की सही बुनावट अच्छे नाटककार की पहचान होती है। यह बुनावट इस नाटक में सँभली नहीं है।" रचनाकार की मुख्य और अविस्मरणीय दृष्टि है त्रासदी, जो स्वीकारात्मक और नकारात्मक की असंदिग्ध स्थिति है बाकी सब संदिग्धियों का मजमुआ— केशी गैर मर्द से रिश्ता रखती है। नहीं रखती है, बकरे की बोली बोलने वाला आदमी और डाक्टर एक ही हैं। नहीं हैं, काले आदमी से केशी का अपरिचय है। नहीं है, केशी को गर्भ है। नहीं है, केशी ने (अगर गर्भ है) गर्भ गिराने की दवा ली, नहीं ली, केशी का गर्भ (अगर वह है) देव से है, किसी और से है। कुत्ता केशी ने मारा नहीं मारा। पुलिस स्टेशन की घड़ी देव की घड़ी है, नहीं है, केशी का फरार आतंकवादी से परिचय है, नहीं है। केशी के अस्पताल का डाक्टर ही आतंकवादी है, नहीं है इत्यादि। यह स्मरणीय इसलिए है कि यह रचना शिल्प और कथ्य दोनों स्तर पर एक आन्दोलन की मुद्रा अख्तियार करती है। अशिल्पक नवनाट्य प्रयोग है, जिसका मंचन कल्पना पर विशेष आधारित है। यों तो अशिल्पक का पूर्वाभास " अन्धेर नगरी " और " ताँबे के कीड़े " से होने लगता है, पर उसका विकसित रूप आज है। अतः शिल्प और कथ्य दोनों स्तरों पर यह मुद्रा निष्क्रिय नहीं है, बल्कि अधिकतम सीमा तक आन्दोलन है। इसमें पारम्परिक ढाँचा तो टूटता है, पर स्वयं नये ढाँचे की कोई सम्भावनायें नजर नहीं आतीं " तिलचट्टा " के अतिरिक्त।

मुद्राराक्षस मनोवैज्ञानिक नाटककार नहीं, पर मानव मन में प्रक्षिप्त परतों को व्याख्यायित करने की पूरी कोशिश " तिलचट्टा " में देखी जा सकती है—

" अच्छा केशी, मैं भी एक बात सोच रहा था— हमें उस काले आदमी के बारे में ज्यादा बात नहीं करनी चाहिए। तुम्हारे पेट में बच्चा है। कहते हैं ऐसे वक्त में जैसी शक्ल का ध्यान करो बच्चा वैसा ही पैदा होता है।" २०

मुद्राराक्षस नवीनता के पक्षधर हैं— उन्हीं के शब्दों में " नाटक जब चौखटे

में रहता है, वह महज एक कृति भर होता है, समाज प्रक्रिया की एक जीवन्त घटना बनने का प्रयत्न है। चौखटे वाला नाटक (मंच सीमित दृश्य शब्दानुबन्ध) अपने लिये दर्शक की तलाश अलग से करता है। उसके लिए नेपथ्य और रंग पृष्ठ होते हैं जो दर्शकों से अक्सर छुपे हुए होते हैं। दर्शकों से अपनी अनिवार्य दूरी बनाये रखने के लिए मंच दर्शकों से अलग और अक्सर ऊँचा होता है।" २८ इस पूरी रचना को सफलता देने में जिसकी सक्रिय भूमिका है वह है, सर्जनात्मक भाषा— ऐसी भाषा जो बिना किसी साज सज्जा के कथ्य को सम्प्रेषित करती है और साथ ही पारम्परिक वाक्य विन्यास को तोड़कर विशेष महत्व अर्जित करता है। पुराने नियमों और सिद्धान्तों से तोड़कर सम्सामयिक परिप्रेक्ष्य को भाषा में आबद्ध करने की कुशलता पूरी नाटकीय संरचना में है।

॥ स न्द र्भ ॥

१- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा : कंछ बातें : पृष्ठ - ७
२- - वही - पृष्ठ - ३१
३- - वही - पहल सात मई १६७६ : पृष्ठ - १७
४- - वही - तिलचट्टा : पृष्ठ - २१
५- - वही - पहल - सात मई - १६७६, पृष्ठ - १७
६- - वही - तिलचट्टा : पृष्ठ - २६ - २७
७- - वही - पृष्ठ - ४३ - ४४
८- - वही - पृष्ठ - ५१ - ५२
९- - वही - पृष्ठ - ५८
१०- भुवनेश्वर : कारवां तथा अन्य एकांकी : पृष्ठ - १२३
११- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा : पृष्ठ - ६०
१२- - वही - पृष्ठ - ६४
१३- गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय-संरचना : पृष्ठ - १६२
१४- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा : पृष्ठ - ६१ - ६२
१५- डं० नरनारायण राय (डा० रामविलक सिंह : असंगत नाट्य शैली) असंगत नाटक और रंगमंच : पृष्ठ - ७१
१६- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा : पृष्ठ - ६५
१७- गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय-संरचना : पृष्ठ - १६२
१८- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा : पृष्ठ - ८४
१९- - वही - पृष्ठ - ११२
२०- - वही - पृष्ठ - १०७
२१- - वही - योर्स फेथफुली भूमिका : पृष्ठ - ११
२२- - वही - पृष्ठ - ११ - १२

२३- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा चन्द बातें : पृष्ठ - १३

२४- - वही - पृष्ठ - ७१

२५- दिनमान : ७ जुलाई १९७४ : पृष्ठ - ४३

२६- - वही -

२७- मुद्राराक्षस : तिलचट्टा : पृष्ठ - ४६

२८- - वही - तेन्दुआ : भूमिका : पृष्ठ - १४

॥ सहायक रचना एवं रचनाकार ॥

<u>नाटक :</u>

अन्धेर नगरी : भारतेन्दु : भारतेन्दु ग्रन्थावली (सं०) शिवप्रसाद मिश्र (रुद्र काशिकेय) द्वितीय सं० संवत् २०२१ : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

अन्धा युग : धर्मवीर भारती : प्र० सं० - १९५५ : किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।

अण्डे के छिलके : (अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक) मोहन राकेश : अरविन्द कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, २ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६।

आधे अधूरे : मोहन राकेश : राधाकृष्ण प्रकाशन, ३।३८, अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली - ११०००२।

ऊसर : (कारवाँ तथा अन्य एकांकी) श्री भुवनेश्वर प्रसाद : सं० २ अक्टूबर १९७१ : लोक भारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १।

औरंगजेब की आखिरी रात : (रजत रश्मि) डा० रामकुमार वर्मा : प्र०सं० १९५२ : अयोध्या प्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गा कुण्ड - रोड, बनारस।

गोदो के इन्तजार में (अनु०) कृष्ण बलदेव वैद : राधाकृष्ण प्रकाशन, २- अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - ६।

छतरियाँ : (अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक) मोहन राकेश : अरविन्द कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, २ - अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६।

ताँबे के कीड़े : (कारवाँ तथा अन्य एकांकी) श्री भुवनेश्वर प्रसाद सं० २ अक्टूबर, १९७१ : लोक भारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १।

तिलचट्टा : मुद्राराक्षस : प्र० सं० - १९७३, संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़,(उ०प्र०) ।

तीन अपाहिज : डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : प्र० सं० १९७६ : यशपाल प्रकाशन, २६ नया कटरा, इलाहाबाद ।

तेन्दुआ : मुद्राराक्षस : प्र० सं० - १९७५ : इन्द्रेश राजपूत राजेश प्रकाशन डी-४।२०,कृष्णनगर, दिल्ली - ११००५१

नायक खलनायक विदूषक (तीन नाटक) सुरेन्द्र वर्मा :

नाट्य शास्त्र : भरतमुनि : पूना गायकवाड़, ओरिएण्टल सीरीज-१९५६ ई०

पहला राजा : जगदीश चन्द्र माथुर : प्र० सं०-१९७१ : अरविन्द कुमार राधाकृष्ण प्रकाशन,२- अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६ ।

बकरी : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

योर्स फेथफुली : मुद्राराक्षस

लोटन : डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : प्र० सं०-१९७४ : लोकभारती प्रकाशन १५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद - १ ।

व्यक्तिगत : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ? प्र० सं०-१९७५ : राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली ।

स्कन्दगुप्त : जयशंकर प्रसाद : द्वितीय सं० : प्रसाद प्रकाशन, प्रसाद मन्दिर, गोवर्द्धन सराय, वाराणसी - १

हानूश : भीष्म साहनी

हेमलेट : शेक्सपीयर (अनु०) अमृत राय : प्र० सं० शेक्सपीयर जयन्ती १९६५ : सरस्वती प्रकाशन, धूप - छांह, अशोकनगर, इलाहाबाद - १

अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनु० डॉ० नगेन्द्र, श्री महेश चतुर्वेदी : द्वितीय आवृत्ति सं०-२०२३ वि० : भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

अधूरे साक्षात्कार : नेमिचन्द्र जैन : प्रथम सं०- अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : प्रथम सं०-१९६८, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

अकांत नाटक और रंगमंच : सम्पादक- नरनारायण राय : प्रथम संस्करण-१९८१ : वाणी प्रकाशन, दिल्ली - ११०००७ ।

आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक : नरनारायण राय : प्रथम संस्करण-१९७९, भारती भाषा प्रकाशन,५१८।६ बी,विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली - ११००३२ ।

आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश : गोविन्द चातक प्रथम सं०-१९७५ : इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, के०-७१,कृष्णनगर, दिल्ली-११००५१ ।

आधुनिक नाटक और रंगमंच : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : प्रथम सं०-१९७३, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, के०पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-२११००३ ।

आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य : इन्द्रनाथ मदान : द्वितीय सं०-१९७८ : राधाकृष्ण प्रकाशन, २-अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली- ११०००२ ।

आधुनिकता के पहलू : डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल : प्र० सं०-१९७२, १५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद - १ ।

आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन : सं० डॉ० निर्मला जैन, प्रथम सं०-१९८०, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,८-नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - ११०००२ ।

आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ : डॉ० नरेन्द्र मोहन : प्र० सं०-१९७२, आदर्श साहित्य प्रकाशन, वैस्ट सीलमपुर, दिल्ली- ३१

आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना : गोविन्द चातक :

प्र० सं०- १९८२, तक्षशिला प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली - ११०००२ ।

आज के रंगनाटक : सं० इब्राहिम अल्काजी : प्र०सं०-१९७३, अरविन्द कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, २-अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-२११०००६ ।

इतिहास और आलोचक दृष्टि : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रथम सं०-१९८२, लोकभारती प्रकाशन-१५२, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१ ।

काव्यभाषा : डा० सियाराम तिवारी:प्र० सं०-१९७६ : एस०जी० वसानी द्वारा दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित, लारेंस रोड, दिल्ली - ११००३५ ।

कवि - कर्म और काव्य - भाषा : डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव : प्र०सं०-१९७५ : वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन ।

कामायनी : जयशंकर प्रसाद : तृतीय संस्करण-१९७३,लोक भारती प्रकाशन, १५-ए,महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १ ।

काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद : सातवीं आवृत्ति सं० - २०३२ : भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल : सं० डॉ० रघुवंश : प्रथम सं० मार्च - १९७६ लिपि प्रकाशन, १-अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - ११०००२ ।

कथा विवेचना और गद्यशिल्प : डॉ० रामविलास शर्मा : प्र० सं०-१९८२ : वाणी प्रकाशन, ६१-एफ०-कमलानगर, दिल्ली-११०००७ ।

जनान्तिक : नेमिचन्द्र जैन : प्र० सं० - १९८१ : सम्भावना प्रकाशन, हापुड़ - २४५१०१ ।

नवरस : डॉ० सत्यव्रत सिन्हा : प्र० सं०-१९७० : अभिव्यक्ति प्रकाशन ८४७, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद - २ ।

नयी समीक्षा के प्रतिमान : (सं०) निर्मला जैन : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३,दरियागंज, नयी दिल्ली - ११०००२ ।

नयी कविताएँ : एक साक्ष्य : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी,प्र०सं०-१९७६,लोकभारती प्रकाशन, १५-ए,महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १ ।

नाट्य भाषा : गोविन्द चातक : प्र० सं०-१९८२ : तक्षशिला प्रकाशन, अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली - ११०००२ ।

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना : नरनारायण राय : प्र०सं०-१९७६,सन्मार्ग प्रकाशन-१६ यू०बी० बंग्लो रोड, दिल्ली - ११०००७ ।

नाटक और रंगमंच की भूमिका : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : प्र०सं०-१९६५ दिसम्बर, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, चन्द्रलोक जवाहरनगर, दिल्ली - ७ ।

नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर : गोविन्द चातक : सं०-१९७३,अरविन्द कुमार राधाकृष्ण प्रकाशन,२-अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-११०००६ ।

नाट्य कला : डॉ० रघुवंश : १९६१ : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

नाट्य रचना विधान और आलोचना के प्रतिमान : नरनारायण राय,इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, के-७१,कृष्णनगर, दिल्ली- ११००५१ ।

नाटककार भारतेन्दु की रंगपरिकल्पना : डॉ० सत्येन्द्र कुमार तनेजा : प्र० सं०-१९७६, भारती भाषा प्रकाशन,५१८१६ बी,विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२ ।

नाटक : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : १८८३ : मल्लिक चन्द्र एण्ड कं०,बनारस ।

निराला की कविताएँ और काव्यभाषा : डॉ० रेखा खरे : प्र० सं०-१९७६, लोकभारती प्रकाशन,१५-ए,महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१ ।

प्रसाद के नाटक : सर्जनात्मक धरातल और भाषिक चेतना,डॉ० गोविन्द चातक,

आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली - ६ ।

प्रतिक्रियायें : डॉ० देवराज : प्रथमावृत्ति १९६६, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली - ६ ।

प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना : डॉ० गोविन्द चातक, साहित्य भारती, के०-कृष्णनगर, दिल्ली- ११००५१ ।

प्रसादोत्तर कालीन नाटक : डॉ० भूपेन्द्र कलसी : प्र० सं०-१९७७, लोक भारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १

बदलते परिप्रेक्ष्य : नेमिचन्द्र जैन, प्र० सं०-१९८१, सम्भावना प्रकाशन, हापुड़-२४५१०१

भाषा और संवेदना : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्र० सं०-१९७०, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

भारतीय नाट्य साहित्य १ (सं०) डॉ० नगेन्द्र, सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र०सं०-१९६८, एस०चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, नयी दिल्ली ।

भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य में लोकतत्व : डॉ० कृष्ण मोहन सक्सेना : पंचम संस्करण, कृष्ण पंचमी १९७७ ई०, अभिनव भारती, ४२ सम्मेलन मार्ग इलाहाबाद - २११००३ ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० रामविलास शर्मा

भरत और भारतीय नाट्य कला : सुरेन्द्र नाथ दीक्षित : प्र० सं०-१९७०, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, ८-फैज़ बाजार, दिल्ली - ६ ।

मोहन राकेश और उनके नाटक : गिरीश रस्तोगी : प्र० सं०-१९७६, लोक भारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद - १ ।

मोहन राकेश का नाट्य साहित्य : डॉ० पुष्पा बंसल : सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-११०००६ ।

मध्यकालीन काव्य भाषा : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

मोहन राकेश की रंगदृष्टि : जगदीश शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, २-अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - ११०००६

यथार्थवाद : शिव कुमार मिश्र, द्वितीय सं०-१९७८, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड।

रचना और आलोचना : देवीशंकर अवस्थी, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया,लि०।

रंगमंच : एक माध्यम : कुंवर जी अग्रवाल, प्र० सं०-१९७५,विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी - १।

रंगमंच : बलवंत गार्गी (अनु०) अतुल भारद्वाज - कृष्णकुमार : हिन्दी प्र०सं०-१९६८, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, दिल्ली - ६।

रंगदर्शन : नेमिचन्द्र जैन : प्र० सं० : अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : जयदेव तनेजा, प्र०सं०-१९७८,पूरनसिंह विष्ट, तक्षशिला प्रकाशन,२३।४७६२-अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली।

समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता (स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद) प्र० सं०-१९७२ : केन्द्रीय संस्थान, आगरा - ५ ।

सर्जन और भाषिक संरचना : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्र० सं०-१९८०, लोक भारती प्रकाशन,१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद - १ ।

संस्कृत नाटक : (उद्भव और विकास : सिद्धान्त और प्रयोग) ए०बी०कीथ अनुवादक- उदयभानु सिंह,द्वितीय सं०-१९७१, सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली - ७

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में : डॉ०

रीता कुमार माथुर, प्र० सं० - २६ जनवरी, १९८०, विभू प्रकाशन, साहिबाबाद - २०१००५ ।

साहित्य में सृजन के आयाम और विज्ञानवादी दृष्टि : डॉ० राजेन्द्र कुमार, प्र० सं० - प्रकाशन संस्थान, २१६ - श्रीनगर, शाहदरा, दिल्ली - ३२ ।

साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ (सं०) उदय भानु सिंह, हरभजन सिंह, रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव सत्वाधिकारी के० एल० मलिक एण्ड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल - पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली - ११०००२ ।

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि : मोहन राकेश, गोविन्द चातक

साहित्य सिद्धान्त : रेनेवेलेक आस्टिन वारेन

हिन्दी नाटक : डॉ० बच्चन सिंह, प्र० सं० - १९५८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद ।

हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पंचम सं० - १९७० राज्यपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ।

हिन्दी नाट्य चिन्तन : डॉ० कुसुम कुमार : इन्द्र प्रस्थ प्रकाशन, के० - ७१, कृष्णनगर, दिल्ली - ५१ ।

हिन्दी साहित्य की अनुत्तम प्रवृत्तियाँ : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, अगस्त - १९६९, (तीन व्याख्यान) केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा - ५ ।

हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास : डॉ० सिद्धनाथ कुमार, सं० - १९७६, ग्रन्थम प्रकाशन, रामबाग, कानपुर ।

हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा (सं०) नरनारायण राय : स्मृति प्रकाशन, १२४, शहरारा बाग, इलाहाबाद - २११००३

पत्रिकायें :

आलोचना

दिनमान

धर्मयुग

नया प्रतीक

नटरंग

पहल

पूर्वग्रह

साक्षात्कार

साप्ताहिक हिन्दुस्तान